वेद व्याख्या की वैज्ञानिक पद्धति

INTERPRETATION OF VEDAS : SCIENTIFIC METHOD

Pramod Kumar Agrawal

UNIVERSAL THEORY RESEARCH CENTRE

…a journey towards ultimate truth

वेद व्याख्या की वैज्ञानिक पद्धति

INTERPRETATION OF VEDAS : SCIENTIFIC METHOD

UNIVERSAL THEORY RESEARCH CENTRE

…a journey towards ultimate truth

Publishers: Universal Theory Research Centre
D-9, Lal Bahadur Nagar East, J L N Marg,
JAIPUR (Rajasthan) I N D I A

Author: Pramod Kumar Agrawal

E Mail: pramod@universaltheoryonline.com
agrawalkpramod@gmailcom

Price : IN ₹ 400
US $ 25

Copyright © : All Rights Reserved with the Author

ISBN : **078-81-920373-4-9**

Publication : JANUARY 2021

Citation: Agrawal, P. K. (2021). *Interpretation of Vedas: Scientific Method*, ISBN 978-81-920373-4-9. Universal Theory Research Centre. Jaipur.

सम्मति पत्र

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा विश्व-धरोहर के रूप में स्वीकृत ऋग्वेद मानव-जाति का प्रथम ग्रंथ है जो किसी देश या जाति विशेष की चर्चा न करके विश्व संस्कृति की चर्चा करता है। वेदों के मंत्रों के साक्षात्कार कर्ता कवि हैं, या क्रान्तद्रष्टा हैं। वेदों की भाषा लौकिक संस्कृत न होकर एक रहस्य का आवरण ओढ़े हुए है। यह भाषा छान्दस कहलाती है। वेद इस संकेत की भाषा में एक ही सूत्र को अनेक संदर्भों में कहने का प्रयास करता है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक वेदविज्ञान के आधार पर अस्तित्व अर्थात ब्रह्म की चर्चा करता है, और क्योंकि ब्रह्म का एक ही सिद्धांत सर्वत्र लागू होता है इसलिये वर्ण तथा उसके मनोवैज्ञानिक प्रभावों पर भी उसी सिद्धांत को आयोजित कर दिया है। इसका प्रभाव यह होता है कि हम वर्णों के द्वारा कुछ सीमा तक शब्दों के पीछे अन्तर्निहित मनोभावनाओं को समझ सकते हैं। पुस्तक के चार भाग हैं — १. ब्रह्म या अस्तित्व का स्वरूप २. वर्णों की अर्थवत्ता का सिद्धान्त ३. वैदिक शब्दों का शब्दकोश, तथा ४. वेद की ऋचाओं तथा पुराणों की कथाओं के मर्म की व्याख्या। चारों ही प्रभागों के साथ लेखक ने पूर्ण न्याय किया है, तथा अपनी बात को शास्त्रानुसार, तर्कपूर्वक, तथा व्यवाहारिक धरातल पर प्रस्तुत किया है. लेखक ने जिस पद्धति का परिचय दिया है वह नूतन अवश्य है, परंतु उसका फल जो वैदिक ऋचाओं तथा पौरोणिक कथाओं के मर्म के रूप में सामने आता है , वह नितांत मौलिक, आकर्षक, तर्कसंगत और भविष्य के शोधकर्ताओं के लिए मार्गदर्शक तो है ही, भारतीय धर्म-दर्शन के उस मूल स्रोत को भी हमारे सामने रखता हैं जो पूरी मानव जाति के चिंतन का आधार है ।

यह ग्रन्थ उन सबके लिए पठनीय है जो यह जानना चाहते हैं कि हमारे विचारों का मूलभूत आधार क्या है ।

दयानन्द भार्गव

महामहोपाध्याय दयानन्द भार्गव

राष्ट्रपति-सम्मान तथा शिखर-सम्मान से पुरस्कृत

जयपुर

16.07.2020

डॉ मण्डन शर्मा
पूर्व निदेशक, संस्कृत शिक्षा विभाग,
राजस्थान, जयपुर

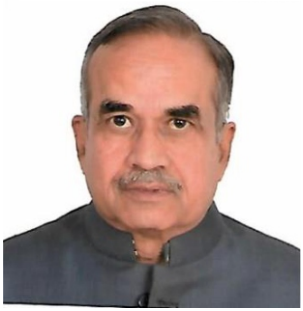

सम्मति

श्री प्रमोद कुमार अग्रवाल द्वारा लिखित पुस्तक 'वेद व्याख्या की वैज्ञानिक पद्धति' का स्थालीपुलाकन्याय से अवलोकन किया गया। भारतीय व्याकरण-परम्परा वर्ण को सबसे छोटी इकाई मानने के बाद भी वर्ण के अर्थों को उपेक्षित कर दिया जाता है। संस्कृत का मूल आधार भी धातुरूप को ही माना गया है. जब कि धातुरूप भी वर्णों से निर्मित हैं. लेखक के अनुसार प्रकृति ने हमें वर्ण दिये हैं. अत: वर्ण भाषा के मूल हैं। उनकी उपेक्षा के उपरान्त जो कुछ भी प्रकट होता है उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता, हाँ भाषा की परम्परा का वर्णन अवश्य कहा जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने वर्णों का प्रकृतिप्रदत्त स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जिसका आधार हमारे प्राचीन शास्त्रों में प्रत्यक्षतः खोजना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अप्रत्यक्ष रूप से अनेक कथानक इस विषय की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं।

लेखक इस बात को सफलतापूर्वक स्थापित करता है कि प्रत्येक वर्ण किसी न किसी अनुभूति विशेष का प्रतिनिधित्व करता है तथा यही अनुभूति भाषा के साथ उच्चारण का सम्बन्ध जोड़ती है। लेखक ने 871 शब्दों का विश्लेषण कर उनके सम्भावित अर्थ दिये हैं, हांलाकि यह अर्थ प्रचलित अर्थों से भिन्न हैं फिर भी वैदिक ऋचाओं तथा पौराणिक कथाओं का मर्म समझने में सहायक हैं. वर्णों के अर्थ स्थापित करने के लिये लेखक ने ब्रह्म के स्वरूप को स्थापित करने का प्रयास किया है, जो कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित ही प्रतीत होता है. जो सिद्धांत लेखक ने प्रतिपादित किया है, वह एक नूतन प्रयोग है, तथा इसमें विकास की अनंत सम्भावनाएं जुड़ी हुई हैं।

आशा है भाषानुरागी विद्वज्जन इस पुस्तक के अध्ययन से आनंदित होंगे। श्री अग्रवाल जी को नूतन शोधार्थ साधुवाद ।

शुभेच्छुक

(डॉ मण्डन शर्मा)

ग्रंथ सार

'ब्रह्म का अस्तित्व' एक ऐसा प्रश्न है, जो हजारों वर्षों से पूँछा जा रहा है, और हजारों वर्षों तक पूँछा जाता रहेगा। यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिसका कोई एक मान्यता प्राप्त उत्तर नहीं है। विज्ञानवादी जहां इसे पूर्णतया नकारते हैं वहीं अध्यात्मवादी इसका समर्थन करते दिखाई देते हैं। नकारने में तथा समर्थन में, दोनों में ही तर्क का आधार कम तथा मान्यताओं का आधार ज्यादा दिखाई देता है। और इसका एक मात्र कारण यही है कि 'ब्रह्म' शब्द की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। यहां उपनिषद् हमारा पथ प्रदर्शन करते हैं। उपनिषद् कहते हैं, कि जो 'है' है, वही ब्रह्म है। अर्थात् हम इकाई को नहीं वरन इकाई के 'होने' को, अर्थात् इकाई के अस्तित्व को ही ब्रह्म कह रहे हैं। इस प्रकार अस्तित्व जो कि अगोचर है, तथा इकाई जो कि गोचर है, उसके दो भाग हो गये। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इकाई का अस्तित्व हो सकता है परंतु अस्तित्व की इकाई नहीं होती। अस्तित्व के आधार अस्तित्व से ही इकाई का जन्म होता है। अस्तित्व सत् है, तथा इकाई असत् है। यहाँ असत् उपादान की तरह प्रयुक्त होता है। अस्तित्व ब्रह्म है, एकत्व है, अत: गुणसूत्रों से विभिन्न होते हुए भी समान संरचना से युक्त है। प्रत्येक इकाई का फैलाव अस्तित्व में स्थित गुणसूत्रों की विभिन्नता के अनुरूप होता है, परंतु यह फैलाव समान संरचना के कारण अद्वैत आधारित ही रहता है; अर्थात् सृष्टि के समान नियमों की अनुपालना ही करता है। यह नियम विज्ञान कहलाते हैं।

कहने का अर्थ यह है कि पदार्थ के सभी गुण पदार्थ में दिखाई अवश्य देते हैं परंतु उन गुणों का संचालन अस्तित्व ही करता है। यदि हम इकाई को जानने का प्रयत्न करते हैं तो गुण न जान कर गुणों का विवरण ही जानते हैं, जब कि अस्तित्व को जान कर हम कारण ब्रह्म को जान लेते हैं, जिसके बाद कुछ भी जानना शेष नही रहता। सम्पूर्ण भौतिक विज्ञान, जैविक विज्ञान, मनोविज्ञान आदि अस्तित्व का ही दूसरा नाम है। यदि भौतिक अस्तित्व है तो भौतिक विज्ञान, यदि जैविक अस्तित्व है तो जैविक विज्ञान और यदि मानसिक अस्तित्व है तो मनोविज्ञान। एक ही अस्तित्व की संरचना को जान कर हम सम्पूर्ण विज्ञान को जानने में सक्षम हो जाते हैं। आधुनिक विज्ञान

जिस प्रकार इकाई जान कर एक एक कदम आगे बढ़ रहा है, वैदिक विज्ञान एक ही सूत्र में सबको पिरो कर इस सृष्टि के सम्पूर्ण ज्ञान को आधार प्रदान कर देता है।

प्रस्तुत ग्रंथ में हमने सर्वप्रथम इसी वैदिक विज्ञान की चर्चा की है। अस्तित्व संरचना को स्पष्ट करने के लिये हमने अनेक प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है, जिनको प्रचलित अर्थों में नहीं पढ़ा जाना चाहिये। ये शब्द केवल शब्द हैं, संदर्भ बदलते ही अर्थ भी बदल जाते हैं। उदाहरण के लिये 'अग्नि' शब्द ज्वलनशीलता (भौतिक अग्नि), भूख (जैविक अग्नि), लालसा (मानसिक अग्नि) तथा जिज्ञासा (बौद्धिक अग्नि), सबमें समान रूप से प्रयुक्त होता है। 'स्पन्दन' शब्द तरंग (भौतिक स्पन्दन), पल्स (जैविक स्पन्दन), आवेश (मानसिक स्पन्दन) तथा बौद्धिक ऊर्जा (बौद्धिक स्पन्दन), सबमें समान रूप से प्रयुक्त होता है। प्रत्येक मनुष्य भौतिक, जैविक, मानसिक, तथा बौद्धिक स्तर की इकाईयों की समन्वित सत्ता है। प्रस्तुत ग्रंथ प्रत्येक में लोक संस्था के सभी रूपों अर्थात कॉस्मिक, भौतिक, जैविक, मानसिक, तथा बौद्धिक स्तरों के सभी स्तरों का न केवल वैज्ञानिक वर्गीकरण किया गया है, वरन उनके क्रमिक विकास को भी स्पष्ट किया गया है। ग्रंथ इकाई के अस्तित्व का वर्णन करते समय यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार परात्पर प्रसादित गुणसूत्र विभिन्न होते हुए भी एक ही संरचना से निर्मित होते हैं तथा एकत्व में अनेकत्व की घोषणा करते हुए बीज में अस्तित्व के रूप में अंकुरित हो जाते हैं। एक अस्तित्व में अनगिनित गुण सूत्र होते हैं जो कि इकाईयों में अनेकत्व उत्पन्न करते हैं तथा सभी अस्तित्वों की संरचना समान होती है जो विज्ञान/ब्रह्म के एकत्व का कारण बनते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि हम इकाई के अनेकत्व में न जा कर संरचना के एकत्व का वर्णन करेंगे। अस्तित्व की संरचना के 16 आधार हैं जिन्हे षोडशी पुरुष कहा गया है। परात्पर मूल आधार है। अव्यय पुरुष की पाँच कलाएं हैं। जो इकाई की जाति का निर्धारण करती हैं, तथा क्षमतानुसार संकेतों को अर्जित, स्मृत, तथा उपलब्ध कराती हैं। अक्षर की पाँच कलाएं हैं जिनके अंतर्गत इकाई 'सीखती' है। इस सीख में ज्ञान, क्रिया, भोग, तीनों ही सम्मिलित हैं। अक्षर से इकाई का स्वभाव बनता है। क्षर की पाँच कलाएं हैं जो इकाई की तीनों प्रकार की क्रियाओं को क्रियान्वित करती हैं। उदाहरण के लिये परात्पर मूल है, अव्यय के अनुसार हम तैरने के गुण सूत्रों से युक्त हैं, अक्षर के अनुसार हम तैरना सीखते हैं, तथा क्षर के अनुसार हम तैरते हैं। इस प्रकार संसार की प्रत्येक इकाई की कोई भी क्रिया अस्तित्व द्वारा

संचालित होती है। गुणसूत्रों की विभिन्नता से क्रियाएँ अलग अलग हो सकती हैं परंतु उनका विज्ञान अक्षुण्ण ही रहता है, तथा इस पद्धति से हम संसार की प्रत्येक क्रिया को स्पष्ट कर सकते हैं, तथा कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

जब हम संसार की प्रत्येक क्रिया को स्पष्ट कर सकते हैं तो निश्चय ही जैविक प्रतीकों (वर्णों) के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को भी समझ सकते हैं। ग्रंथ उपर्युक्त अस्तित्व संरचना के सिद्धांत के आधार कर एक नये सिद्धांत की रचना करता है, जिसे वर्णों की अर्थवत्ता का सिद्धांत कहा जा रहा है। यह सिद्धांत जैविक प्रतीकों (वर्णों) को मानसिक अनुभूतियों में बदल देता है। बुद्धि इन मानसिक अनुभूतियों को मानसिक प्रतीकों के रूप में स्वीकार करती है तथा बौद्धिक संकेतों में रूपांतरित कर लेती है। इस प्रकार भाषा का जन्म होता है। अव्यय हमें वर्णों से अनुभूतियाँ तथा अनुभूतियों से संकेत समझने की क्षमता देता है, जो कि मनुष्य की जातिगत योग्यता है। अक्षर से हम उनका आपसी सम्बंध सीख जाते हैं तथा क्षर से हम सुन बोल लेते हैं। इस प्रकार वर्णों की अर्थवत्ता के सिद्धांत में भी षोडश कलाओं की प्रयुक्ति हो जाती है।

मनुष्य का विकास पशुओं से ही हुआ है। अत: प्रारम्भ काल में मनुष्य नामक पशु भी अन्य पशुओं से समान मनोवैज्ञानिक भाषा का ही प्रयोग करता रहा होगा। विकास प्रक्रिया में मनुष्यों से मानसिक अनुभूतियों को बौद्धिक प्रयोजन में प्रयुक्त करना सीख लिया। अत: यह स्पष्ट है कि जितनी भी प्राचीन भाषाएं हैं उनमें वर्णों के पीछे मानसिक प्रतीक ही हैं। वैदिक ग्रंथों की रहस्यमयता का यही कारण है। हम जो नहीं समझ पाते हैं, उसका मूल कारण है शब्दों को स्थूल रूप में समझने का प्रयास, जब कि सब कुछ मनोवैज्ञानिक सूत्रों में बंधा है। ग्रंथ में 871 शब्दों के मनोवैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट किये हैं, तथा स्पष्ट किया है कि किस प्रकार उनका उपयोग व्यावहारिक भाषा में किया जा सकता है। उदाहरण के लिये हमने अनेक श्रुतिवाक्य तथा अनेक पौराणिक कथाओं को लिया है तथा स्पष्ट किया है कि किस प्रकार इनका अर्थनिरूपण किया जाये. श्रुतिवाक्य तथा पौराणिक कथाओं का अर्थनिरूपण यदि प्रस्तुत विधि से किया जाये तो इनके अति गम्भीर अर्थ स्पष्ट होते हैं और हम दर्शन, विज्ञान, तथा मनोविज्ञान की अनेक अनसुलझी पहेलियों को सुलझा सकते हैं।

प्रस्तावना

दर्शन ज्ञान का वह मार्ग है जहां से कल्पना प्रारम्भ होती है और यही कल्पना अन्वेषित होते हुए सत्य तक पहुंच जाती है। सत्य कभी भी अंतिम सत्य नहीं होता अत: दर्शन के द्वार हमेशा खुले रहते हैं। संसार में अनेक दार्शनिक हुए हैं, जिनमें, डेमोक्रिटस (Democritus), हेराक्लिटस (Heraclitus), लाओजी (Laozi), थेल्स ऑफ मिलिटस (Thales of Miletus), कन्फ्यूशियस (Confucius), मार्कस ऑरेलियस (Marcus Aurelius), अरस्तू (Aristotle), प्लेटो (Plato), सुकरात (Socrates), एपिकुरस (Epicurus) आदि प्रमुख हैं। इन दार्शिनिकों का काल खण्ड 500 BC के आस पास का है। इसी काल खण्ड में भारत में भी अनेक दार्शनिक हुए जिनमें यास्क तथा पाणिनि प्रमुख हैं। लेकिन भारत में दर्शन का इतिहास यहीं से प्रारंभ नहीं होता। हमारे देश में वेद, उपनिषद्, आरण्यक, पुराण आदि अनेक वैचारिक थातियां है, इनमें वेद सबसे पुराने तथा प्रमुख हैं। इनका काल खण्ड 500 BC से लेकर 1500 BC तक कहा जाता है। अनेक विद्वान इन्हें 5000 BC तक भी मानते हैं। भारत का दार्शनिक अध्ययन किसी नाम विशेष पर आधारित नहीं रहा है, अत: वेद को, जो कि भारतीय प्राचीन दर्शन का मूल हैं, लेखक के नाम की अपेक्षा नहीं करते हुए, ब्रह्म प्रदत्त ही मान लेते हैं। यह तार्किक भी है क्यों कि दर्शन कहता है कि हम जो कुछ नया जानते हैं, वह पूर्णतया नया कभी नहीं हो सकता। जो भी सत्य हम जानते हैं वह पूर्ववर्ती ज्ञान के नवीन स्वरूप की विवेचना मात्र ही होती है। अत: हम जब कुछ ऐसा जान लेते हैं जिसका आधार पूर्ववर्ती ज्ञान नहीं है तो, उसे 'अवतरित' ही माना जाना चाहिये। और यह अवतरण ब्रह्म का ही होता है, अत: हम वेदों को ब्रह्म भी कह देते हैं। वेद चाहे कितने भी उत्कर्ष साहित्य रहे हों लेकिन पूर्णतया संस्कृत में ना होने के कारण एक रहस्यमय आवरण ओढ़े हुए हैं। अनेक विद्वानों ने इस आवरण को हटाने का प्रयास किया है, कुछ हद तक सफल भी हुए हैं परंतु वेद पूर्ण रूप से निरूपित हो गये हों, ऐसा कहना गलत ही होगा।

वेदों को तो हम पूर्णतया नहीं समझ सकते परंतु इसके बाद का जो साहित्य अर्थात उपनिषद्, आरण्यक, पुराण आदि, हैं और जो संस्कृत में उपलब्ध हैं, उन पर बहुत काम हुआ है। सब कुछ इतना गूढ़ तथा रहस्यमय है कि अनेक मीमांसाएं होने के बाद भी हम इन्हें व्यावहारिक जीवन से जोड़ पाये हों ऐसा मानना अतिशयोक्ति ही होगी। इन सब को पूर्णतया ना समझ पाने का कारण है 'प्रतीकीकरण'। जब हम एक ही सूत्र को अनेक संदर्भों में उपयोग करना चाहते है तो हम प्रतीक का आश्रय लेते हैं। उदाहरण के लिये जब हम प्रतीक रूप में 'अग्नि'

शब्द का उपयोग करते हैं तो उसका आशय जिज्ञासा भी हो सकता है, उत्तेजना भी हो सकता है, तथा लालसा भी हो सकता है । ऋषि पाठक के ऊपर ही छोड़ देता है कि वह इसका प्रयोग किस प्रकार करे । ये शब्द जिनको हम 'देवता' कहते हैं, वह मनोवैज्ञानिक अनुभूतियां हैं, जिन्हें समयानुसर संदर्भगत लेते हुए विवेकानुसार प्रयुक्त करना चाहिये ।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि इन शब्दों के मनोवैज्ञानिक भाव किस प्रकार समझे जाने चाहियें? इस प्रयोजन हेतु लेखक ने एक सिद्धांत प्रस्तुत किया है, जो प्रत्येक स्वनिम का मनोवैज्ञानिक भाव प्रकट करता है; उस मनोवैज्ञानिक भाव का संदर्भगत उपयोग करते हुए बौद्धिक भाव में परिवर्तित किया जा सकता है । स्वनिम के मनोवैज्ञानिक स्वरूप की रचना प्राकृतिक है, और प्राकृतिक कारण को जानने के लिये ब्रह्म को जानना आवश्यक है, तथा ब्रह्म की सत्ता को व्याख्या करने के लिये षोडशी पुरुष की व्याख्या आवश्यक है । षोडशी पुरुष को जानते जानते स्वत: ही स्वनिम तथा उनके मनोवैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट होने लगते हैं । यह मानना कि एक स्वनिम का मनोवैज्ञानिक अर्थ एक ही शब्द में व्याख्यात किया जा सकता है, गलत ही होगा । प्रत्येक स्वनिम के ऊपर आत्मसत्ता का संचालन करने का एक विशेष दायित्व होता है और वह उस दायित्व के अनुरूप ही परिभाषित होता है ।

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य किसी ग्रंथ विशेष की व्याख्या करना नहीं है, मात्र यह स्पष्ट करना है कि मात्र शब्दों के आधार पर, ऐसे शब्द जिनसे हम पूर्व में अपरिचित हों, उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या कर किस प्रकार समझ सकते हैं । संस्कृत मेरी अपनी भाषा नहीं है । अनेक स्थानों पर शब्दों का अभाव होता रहा है । श्री महामहोपाध्याय कलानाथ जी शास्त्री का प्रत्येक स्तर पर सहयोग तथा परामर्श इस पुस्तक में एक ऐसी सुगंध की तरह है जो इस पुस्तक में हमेशा साथ रहेगा, तथा कभी भी भुलाया नहीं जा सकेगा ।

किसी भी यज्ञ को करने के लिये एक प्रेरणा की आवश्यकता होती है । आचार्य दयानंद भार्गव ही वह प्रेरणा के स्रोत हैं जिन्होंने इस ग्रंथ के निर्माण में प्रारम्भ से अंत तक प्रेरणा के साथ साथ शास्त्र प्रतीकों का व्यावहारिक परिचय दिया तथा दार्शनिक सूत्रों के लिये वैदिक उद्धरण दिये । ग्रंथ में जहां जहां संस्कृत में उद्धरण दिये गये हैं, उनमें श्री आचार्य जी का ही सहयोग है ।

प्रमोद कुमार अग्रवाल

विषय-सूची

	विषय प्रवेश	1
1	पृष्ठभूमि:अनेकता में एकत्व:ब्रह्म	6
	सत्य को जानने का प्रयास	6
	अद्वैत का संक्षिप्त परिचय	7
	द्वैत का संक्षिप्त परिचय	7
	अस्तित्व का संक्षिप्त परिचय	8
	इकाइयों के प्रकार	8
	मौलिक इकाई के प्रभाग	10
	सृष्टि विकास में इकाईयों के स्तर	10
2	विकासक्रमानुसारी लोक संरचना	13
	लोक सूत्र	13
	त्रिलोकी का स्वरूप	13
	क्रमश: उच्चतर इकाईयों का उद्भव	15
	विकास क्रम की विशेषताएं	17
	मंथन	19
3	भारतीय दर्शन में आत्मसत्ता का स्वरूप	19
	परात्पर	20
	अव्यय पुरुष : ओत्पत्तिक सूत्र शृङ्खला	21
	अक्षर पुरुष	24
	क्षर पुरुष	30
4	इकाई का बोध व्यापार : ३३ देवता	34
	बोध व्यापार के प्रकार	35
	इकाई में संकेत का बोध (12 आदित्य)	36
	इकाई में संकेत का प्रवाह (11 रुद्र)	41
	इकाई में बोध का संग्रहण (8 वसु)	43
	बोध के प्रवाह में निरंतरता (2अश्विनी कुमार)	45
5	जीवन प्रवाह प्रक्रिया	46
	जीवन प्रक्रिया स्तर के संदर्भ में	46
	जीवन प्रक्रिया दिशा के संदर्भ में	47
	दो विभिन्न इकाईयों के मध्य संप्रेषण	50
	एक ही इकाई के विभिन्न स्तरों में प्रवाह	51
6	अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द	54
	ब्रह्म	54
	पञ्चमहाभूत का स्वरूप	55
	नाम-रूप	56
	रस-बल	57
	बोध (perception)	57
7	वर्णों की अर्थवत्ता का सिद्धांत	58
	स्वनिमार्थ विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास	58
	प्राणिक वर्णों का बौद्धिक अर्थों में बदलना	59
	स्वनिमार्थ विज्ञान का परिचय	60
	व्यञ्जनों के अर्थ	60
	स्वरों के अर्थ	61
	इकाई में स्वनिमों की अर्थवत्ता	62
8	धातु-रूप का अर्थपूर्ण प्रतिनिधित्व	69
9	वैदिक शब्दावली	73
10	वेद मंत्रों का आशय	126
	यजुर्वेद - पुरुष-सूक्तम्	126
	ऋग्वेद-1-164-46	139
	गायत्री मंत्र	141
	ऋग्वेद - प्रथम मंडल सूक्त 1 (1-5)	143
	ऋग्वेद - प्रथम मंडल सूक्त ४ (31-40)	146
11	पुराण की कथाओं का आशय	154
	गणेश की जन्म कथा	155
	वराह-अवतार की कथा	162
	श्री कपिल देव जी का जन्म	165
	प्रजापति दक्ष व शिव की कथा	167
	ध्रुव चरित्र	170
	पुरञ्जन की कथा	173
	श्री कृष्ण की लीलाओं का वर्णन	176

वेद व्याख्या की वैज्ञानिक पद्धति

विषय प्रवेश

सत्य के लिए जिज्ञासा रखना, सत्य को समझना, सत्य को व्यवस्थित करना और उसे समझाने में सक्षम होना, असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य है। हम सभी अपनी इच्छा, आवश्यकता, भय, अहंकार और मानसिक तथा जैविक बाधाओं से बंधे हुए रहते हैं। हम इन बाधाओं से दूर नहीं रह सकते क्यों कि ये हमारी सरंचना का हिस्सा हैं। और ये बाधाएं हमें सत्य के दर्शन नहीं करने देतीं। यही कारण है कि सिद्धांतों के आधार पर सत्य का प्रतिपादन अवश्य किया जा सकता है, परन्तु उस सत्य का व्यावहारिक पुष्टीकरण करना असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य है।

जिसे हम सत्य कह रहे हैं, हमारे प्रचीन दार्शनिक उसे ही ब्रह्म कहते हैं। उपनिषद् कहते हैं कि जो यह कहता है कि वह ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म को जान ही नहीं सकता तथा जो यह कहता है कि वह ब्रह्म को आंशिक रूप से जानता है, वह कुछ अर्थों में ब्रह्म को जान सकता है। हम जैसे ही मानते हैं कि "हम जान रहे हैं", हमारा जानना हमारे मानने में प्रतिष्ठित होने लगता है। और हमारा जानना रुक जाता है, क्यों कि जैसे ही हम 'मानने' लगते हैं, यह मानना हमारी अवधारणाओं का हिस्सा बनने लगता है। अवधारणाओं की परिपूर्णता जिज्ञासा को समाप्त कर देती है। और जिज्ञासा के अभाव में जानना रुक जाता है, तो क्या हम ब्रह्म को जान ही नहीं सकते? मान्यता है कि हम स्वयं ही ब्रह्म का प्रतिरूप हैं। तो फिर हम ब्रह्म को कैसे जान सकते हैं क्यों कि दर्शन कहता है कि कोई भी अपने स्व को नहीं जान सकता। यह ठीक है कि हम ब्रह्म को जान नहीं सकते परंतु जानने का प्रयास को कर ही सकते है। हमारे वेद, पुराण, आरण्यक, ब्रह्मण ग्रंथ, आदि सभी में ब्रह्म को जानने का ही प्रयास हुआ है। प्रत्येक दार्शनिक ब्रह्म को खोजने के लिये भिन्न भिन्न रास्ते अपनाते हैं। मैंने भी अपना रास्ता चुना है। पाठक अपनी प्रज्ञा के साथ इस प्रक्रिया को न्यायसंगत बना सकते हैं।

अपनी आंखें खोलें, और सभी उपलब्ध छवियों को अपने दिमाग में आने दें। उनमें किसी समान पहलू को देखने का प्रयास करें। उस 'समान पहलू' को अज्ञात तर्क के रूप में माना जा सकता है। उस तर्क को किसी अन्य पहलू पर लागू करें। जांचें कि क्या यह हमारे दैनिक जीवन

में व्यावहारिक रूप से लागू है या नहीं। यदि यह लागू नहीं है, तो इसे यहीं छोड़ दें। यदि यह लागू है, तो इसे 'प्रस्तावित तर्क' के रूप में बनाए रखें। प्रक्रिया को अन्य अवधारणाओं के साथ दोहराएं; कुछ अन्य 'प्रस्तावित तर्कों' की कल्पना करें। सभी संगृहीत 'प्रस्तावित तर्कों' को अतिव्यापन करें, और उनमें से एक सर्व सुलभ कारक को देखने का प्रयास करें। शायद आप कुछ तर्क 'उपलब्ध' कर सकते हैं जो परम तर्क के समीप हो। यह तर्क अनुभूति के विषय होते हैं, अत: व्याख्या योग्य नहीं होते। अब आप स्वयं को जांचें, कि क्या यह 'उपलब्धि' आपकी आंतरिक इच्छाओं जैसे आकांक्षा, अभिलाषा, लालसा, वासना, चाह, तमन्ना, मनोरथ, और कामना के साथ आपकी आंतरिक असुरक्षा, साबित करने की आपकी इच्छा, आपका लक्ष्य, और आपके अहंकार को पूरा करती है। यदि हां, तो 'उपलब्धि' अभी भी सत्य के समीप नहीं हो सकती। ऐसी स्थिती नें उपर्युक्त सभी अभ्यासों को भूल जाएं, और विश्वास करने की कोशिश करें क्यों कि यह 'उपलब्धि' वास्तविकता नहीं थी। कुछ दिनों का अंतराल लें और फिर से सभी प्रक्रियाओं को शुरू करें। प्रक्रिया का हर दोहराव पिछली 'उपलब्धि' को और परिशुद्ध करेगा, परंतु बुद्धि की एक सीमा है; एक समय आएगा जब आपकी बुद्धि आपकी कल्पनाओं को भ्रम में बदलना शुरू कर देंगी। ऐसे में तुरंत सभी प्रक्रियाओं को रोक देना चाहिये। यहाँ तक जो भी प्राप्त हुआ है वही आपके लिए 'अंतिम उपलब्धि' और 'अंतिम वास्तविकता' है। विभिन्न क्षेत्रों में 'अंतिम वास्तविकता' लागू करें और प्रकृति के रहस्यों का विसंकेतन करने का प्रयास करें। कभी भी अपने विचारों को साबित करने का प्रयास न करें। दूसरों को सुनने की कोशिश करें, और दूसरे के विचारों में से सार को ग्रहण करें। प्रत्येक अंतर्गमित ज्ञान कुछ तार्किक जानकारी जोड़ता है, और आपका ज्ञान स्पष्ट होता जाता है। इससे ज्ञान को व्यक्त करने में आपका विश्वास बढ़ता है। विश्वास से अहंकार बढ़ता है, और अहंकार आने वाले नवीन तर्कों को बाधित करता है। इस प्रकार हम अहंकार और चेतना के मध्य विचरण करते रहते हैं। या कहना चाहिये कि हम रावण और राम के मध्य विचरण करते रहते हैं।

तर्क में चेतना की अत्यधिक प्रयुक्ति तर्क को और क्लिष्ट बना देती है, और तर्क का रूप विलोप होने लगता है। कुछ ऐसा ही हमारे वैदिक दर्शन के साथ हुआ है। यही कारण है कि जहाँ सामान्य साहित्य एक विशिष्ट बात कहने के लिये प्रचलित शब्दों का उपयोग करता है, वहां वेद सार्वभौमिक बात कहने के लिये तकनीकी शब्दों का उपयोग करता है। तकनीकी शब्दों में एक ही शब्द के अनेक रूप हो सकते हैं। सन्दर्भ के अनुसार शब्दों के अर्थ भी बदल जाते हैं। तकनीकी लाक्षणिकताओं के आधिक्य से शब्द अत्यंत जटिल हो पाठक की पहुंच के दूर हो जाते हैं। वेद इसी श्रेणी में आते हैं।

वेद प्राचीन भारतीय दर्शन के आधारभूत शास्त्र हैं जिन्हें आस्तिक विचारधारा में पूर्णतया प्रामाणिक माना गया है। प्रामाणिक मानने के बाद भी भाषा की रहस्यमयता के कारण वेद रहस्यमय ही प्रतीत होते हैं। प्राचीन व आधुनिक, अनेक भाषाविदों द्वारा की हुई वेदों की अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं, परन्तु आज भी यह मानना मुश्किल है कि हमने वेदों के पूरे अर्थ जान लिये हैं। हम आज भी वेदों मे उल्लेखित विभिन्न देवताओं के व्यावहारिक दर्शन करने में असमर्थ हैं। सिद्धांत रूप से हम मानते हैं कि वेद अद्वैत के आधार पर भौतिक, वानस्पतिक, व मनोवैज्ञानिक, प्रत्येक ज्ञान के कारण शरीर को स्पष्ट करता है, परन्तु शब्दों के अर्थ के अभाव में सब कुछ रहस्यमय ही प्रतीत होता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वेदों का कोई भी देवता शुद्ध शाब्दिक अर्थ का अनुशीलन नहीं करता है, बल्कि प्रत्येक देवता एक विषय है, जिसे १०८ प्रकार से देखा जा सकता है। ये १०८ प्रकार चार अंश (रस; बल; नाम; रूप), तीन प्रवाह (अन्तर्गमित; बहिर्गमित; स्वगमित), तीन अनुभूतियां (गुण; गति; द्रव्य), तथा तीन काल (भविष्य; वर्तमान; भूत)। अत: किसी भी देवता का अर्थ सन्दर्भगत ही लेना पड़ता है। यही कारण है कि पुराणो में भी अनेक प्रतीकात्मक शब्दों का उपयोग किया गया है तथा एक ही शब्द को अनेक संदर्भों मे लिया गया है।

कहने का अर्थ यह हुआ कि वेदों की किसी श्रुति का अर्थ करने से पहले हमें उसके संदर्भ में जानना आवश्यक होगा, और संदर्भ को जानना भी हमारी स्वयं की मनोदशा पर निर्भर करता है। सबके अपने अपने चश्मे हैं, हम सब उन्हीं चश्मों के आधार पर श्रुति का दर्शन करने का प्रयास करते हैं।

आज तक के इतिहास में अनेक दार्शनिकों ने अनेक कार्यप्रणालियों के आधार पर वेदों की टीकाएं करने के प्रयत्न किये हैं परंतु कोई भी दो टीकाएं समान नहीं हैं। सबमें व्यावहारिकता का अभाव है। ऐसे में किसी एक टीका को पूर्णतया शुद्ध मान लेना न्यायपूर्ण प्रतीत नहीं होता। प्रस्तुत पुस्तक एक नये सिद्धांत का अनुसरण कर रही है, जिससे सम्भवतया हम ज्यादा व्यव्हारिक टीका का प्रयत्न कर सकें। जैसा कहा गया है कि वेदों में शब्दों के प्रचलित अर्थों के स्थान पर उच्चारण का महत्त्व ज्यादा है, प्रस्तुत ग्रंथ में हमने ध्वनिओं के प्राकृतिक अर्थों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जिसके प्रयोग से वेदों को समझने का एक नया रास्ता हमारे सामने खुलता है। इस सिद्धांत को स्वनिमार्थ विज्ञान (Phonosemantics) कहते हैं।

स्वनिमार्थ विज्ञान का परिचय - विज्ञान हो या अध्यात्म, ब्रह्म ही प्रकृति के द्वारा विवेचित होता है। प्रकृति की प्रत्येक व्युत्पत्ति किसी न किसी कारण से बन्धकर किसी विशेष उत्तरदायित्व

का वहन करती है। प्रकृति ने जो कुछ भी दिया है, उसमें अकारण कुछ भी नहीं है। प्रकृति ने हमें परस्पर संचार के अनेक साधन दिये हैं। पशु विभिन्न प्रणालियों द्वारा परस्पर संचार करते हैं, जिनमें भाव भंगिमा, चेहरे की अभिव्यक्तियां, रंग परिवर्तन, प्रकाश परिवर्तन, गंध, अधोरक्त विकिरण, भूकंपीय संचार, विद्युत् संकेत, और उच्चारण मुख्य हैं। प्रत्येक संचार प्रणाली बड़ी संख्या में संकेतकों से मिल कर बनी है। सभी संकेतकों का उद्देश्य मनोवैज्ञानिक भावना को व्यक्त करना ही है। संकेत करने के लिये पशु या मनुष्य किसी भी प्रणाली, या सम्मिलित प्रणालियों का उपयोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, 'नकारात्मकता' के मानसिक संकेत को व्यक्त करने के लिये 'नकारात्मकता की ध्वनि' और 'नकारात्मक चेहरे की अभिव्यक्ति', दोनों ही संकेतों का उपयोग किया जा सकता है। पशु 'क्षेत्रीय आधिकारिक स्पष्टीकरण' के मनोवैज्ञानिक संदेश को व्यक्त करने के लिए भौंक कर (ध्वनि प्रणाली) तथा विशिष्ट गंध (गंध प्रणाली) छोड़ कर, दोनों प्रकार से संदेश का प्रसारण करते हैं। 'दृश्य (भूत)', 'मुखाकृति (भयभीत)', और 'ध्वनि (रोना)' को 'डर' की एक ही मनोवैज्ञानिक भावना में परिवर्तित किया जा सकता है। एक 'दृश्य (मजाकिया)', एक 'मुखाकृति (खुशी)', और 'ध्वनि (हंसी)' को 'आनंद' की एक ही मनोवैज्ञानिक भावना में परिवर्तित किया जा सकता है। इस तरह किसी भी संचार प्रणाली से बने सभी प्रकार के भौतिक संकेतों को मनोवैज्ञानिक भावनाओं के रूप में परिवर्तित और प्राप्त किया जाता है। जहां तक जानवरों का संबंध है, संचार का उनका उद्देश्य जैविक (यौन सम्बन्ध, भूख, सुरक्षा) तथा मनोवैज्ञानिक (इच्छा भय और क्षेत्राधिकार) तक ही सीमित है। वे शुद्ध प्राकृतिक तरीके से मनोवैज्ञानिक संवाद करते हैं। मनुष्यों के संबंध में, इस संवाद को बौद्धिक स्तर तक बढ़ाया गया है, और इसी कारण मनुष्य बौद्धिक उद्देश्यों के लिए इन मनोवैज्ञानिक संकेतों की विभिन्न व्याख्याओं का उपयोग करते हैं। अन्य प्रणालिओं की तुलना में, ध्वनि में संदेशन की ज्यादा व्यापक संभावनाएं हैं। यही कारण है कि अनेक संवाद प्रणालियों में से ध्वनि को ही ज्यादा महत्त्व दिया जाता है।

ध्वनि का सर्वमान्य उद्देश्य संदेश पहुँचाना है, अतः ध्वनि के संकेतकों में ही उनके अर्थ निहित हैं, ऐसा मानना अतार्किक नहीं कहा जा सकता। 'रोना', 'ताली बजाना' आदि अनेक ध्वनियाँ हैं जो भाषागत न होते हुये भी ध्वनि से अपना मनःप्रभाव उत्पन्न करती हैं। यह मनःप्रभाव ही भाषाओं की उत्पत्ति का मूल कारण बनता है। इन मनःप्रभावों को हम बौद्धिक उद्देश्य के साथ संगति बैठा कर शब्दों का सर्जन कर लेते हैं, और भाषा का जन्म हो जाता है। विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उनकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं विभिन्न होती हैं, अतः उनका 'संगति बैठाना' भी विभिन्न होता है। इस प्रकार विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न भाषाओं का सर्जन हो जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक वेदान्त के आधार पर एक व्यवस्थित और तार्किक सिद्धांत प्रस्तुत करती है, जिसको स्वनिमार्थ विज्ञान कहा गया है। स्वनिमार्थ विज्ञान एक ऐसी परिकल्पना है जिसके अनुसार प्रत्येक ध्वनि के प्रकृति प्रदत्त विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थ हैं। इस परिकल्पना के अनुसार, ऐसा माना जाता है कि, जब हम किसी भी ध्वनि को बोलते या सुनते हैं, तो हम अपने अंदर एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक भाव महसूस करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक भाव भाषाओं की संरचना का कारण बनते हैं। अर्थात्, स्वनिम जैविक संकेत हैं, जिन्हें हमारी मनोवैज्ञानिक सत्ता अनुभूति में बदल देती है तथा बौद्धिक सत्ता इन अनुभूतियों को संकेत रूप में स्वीकार कर उपयोगी अर्थों में बदल देती है। ठोस दार्शनिक आधार होने के बावजूद अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आधुनिक भाषाविद इस परिकल्पना से खुश नहीं हैं, परन्तु भारतीय दर्शन इस परिकल्पना से सिद्धान्त रूप में कहीं भी असहमत नजर नहीं आता। सिद्धांत से सहमत होते हुए प्राचीन भाषाविद व दार्शनिक पाणिनि ने हमें ३९९९ धातुओं से परिचित कराया था, जिन्हें आज भी संस्कृत का आधार माना जाता है। परन्तु धातुओं की भी अपनी सीमाएं हैं; जिसके कारण अनेक स्थानों पर कल्पना का सहारा लेना पड़ता है और अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाते। धातुओं के मूल में स्वनिम हैं, तथा स्वनिम के स्वरूप स्थापित होने से धातुओं के अर्थ पूर्ण रूप से तो नहीं, परंतु बेहतर तो हो ही सकते हैं।

स्वनिमों का जो भी स्थापित स्वरूप है, वह प्रकृति द्वारा ब्रह्म की विवेचना ही है। व्यावहारिक रूप से प्रत्येक इकाई में स्थित अस्तित्व ही ब्रह्म है। प्रस्तुत पुस्तक में सर्वप्रथम हमने ब्रह्म अर्थात् अस्तित्व की संरचना को जानने का प्रयास किया है। तत्पश्चात उस संरचना में मनोवैज्ञानिक कारकों को स्थापित किया है, तथा उन कारकों में वर्णों (स्वनिमों) को स्थापित किया है। इस प्रकार स्वनिम तथा अनुभूति का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार स्वनिमों की अर्थवत्ता का सिद्धांत प्रतिपादित हो जाता है। यहां तक हमें वर्णों (स्वनिमों) के मनोवैज्ञानिक अर्थो के संकेत मिलते हैं। वर्णों की इस अर्थवत्ता को हमने संस्कृत के धातु-रूपों में प्रयुक्त कर प्रस्तुत किया है, जिससे स्वनिमों की अर्थवत्ता की शुद्धता प्रमाणित होती है। तत्पश्चात उस अर्थवत्ता के आधार पर कुछ वैदिक तथा पौराणिक प्रतीक शब्दों (887) की विवेचना की गयी है। इन शब्द का मनोवैज्ञानिक स्वरूप तत्पश्चात उस विवेचना के आधार पर कुछ वैदिक ऋचाओं तथा पौराणिक कथाओं के मर्म को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

यह कहना अतिशयोक्ति ही होगी कि स्पष्टित अर्थ ही अंतिम सत्य हैं, परंतु यह एक दृष्टि अवश्य है जो आज के व्यावहारिक जीवन में स्पष्ट दिखाई देती है। वाङ्मय कोई भी हो उसकी उपयोगिता तब ही है जब कि व्याव्हारिक जीवन को शुद्ध करे तथा दैहिक, मानसिक, तथा बौद्धिक शांति का कारण बने।

1.0 पृष्ठभूमि : अनेकता में एकत्व : ब्रह्म

1.1 सत्य को जानने का प्रयास

सनातन परम्परा में वेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। वेद जितने पुराने हैं उतने गूढ़ भी हैं। इस गूढ़ता के दो कारण हैं। प्रथम है इसकी भाषा, जिससे हम पूर्णतया परिचित नहीं हैं। दूसरा है इनका वर्णनात्मक न होकर सूत्रात्मक होना। प्राचीन काल से ही हम वेदों के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास करते रहे हैं, आंशिक रूप से समझ भी पाये हैं, पर मर्म भी समझ पाये हैं, ऐसा कहना अतिशयोक्ति ही होगा। जैसे ही हम अर्थ से मर्म की तरफ आते हैं, मर्म सापेक्ष हो जाता है। हो सकता है कि किन्ही दो व्यक्तियों के लिये किसी एक श्रुति का शब्दार्थ समान हो, परंतु उसमें छिपा मर्म भी समान होगा, यह कहना मुश्किल है। वस्तुत: हम वही समझते हैं जो हम समझना चाहते हैं। हमारी यह 'समझने की चाह' हमारे पूर्ववर्ती ज्ञान तथा आकांक्षाओं पर आधारित होती है, जो कि सबकी अलग अलग होती हैं। अनेक दार्शनिकों ने वेदों के अनेक अर्थ किये हैं, परंतु एकरूपता के अभाव में न तो न्यायसंगत और न ही प्रामाणिक प्रतीत होते हैं। यह सही है कि विभिन्न दार्शनिकों ने वेदों के विभिन्न अर्थ किये हैं, अत: यह बात स्पष्ट निकलकर आती है कि वेद वस्तुत: दर्शन को विवेचित करने की एक जटिल पद्धति है। वेदों का एक शब्द विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थ देता है। अर्थात् शब्दों के अर्थ की जगह मर्म का ही महत्त्व ज्यादा है। वेदों के अर्थ के विषय में यह भी कहा जाता है कि वेद के अर्थ शब्दों से निर्धारित न हो कर ध्वनि से निर्धारित होते हैं। यही कारण है कि वेदों को कंठस्थ करने की परम्परा अभी तक जीवित है। किस ध्वनि का क्या अर्थ है, यह निर्धारण करने के लिये हमें एक ऐसी पद्धति चाहिये जो कि प्रकृति जनित हो, ब्रह्म का प्रतिरूप हो। हम यह भी मानते हैं कि इस सृष्टि में जो कुछ भी है, अद्वैतानुसार, ब्रह्म का प्रतिरूप ही है। अत: जो सिद्धांत होगा, वह भी ब्रह्म का प्रतिरूप ही होगा। हम स्वयं भी ब्रह्म के प्रतिरूप ही हैं, और दर्शन कहता है कि कोई अपने स्व को कभी भी नहीं जान सकता, अत: हम भी ब्रह्म को नहीं जान सकते, अत: हम उस सिद्धांत को भी नहीं जान सकते।

यह सही है कि सिद्धांत रूप से हम ब्रह्म को नहीं जान सकते, परंतु प्रयास तो कर ही सकते हैं। हमारा सम्पूर्ण वाङ्मय ब्रह्म को जानने का प्रयास है। सभी उपनिषद् विभिन्न स्थानों पर गोता लगा कर ब्रह्म के मूल स्वरूप को समझने का प्रयास करते हैं, और किसी न किसी स्तर तक पहुंचते भी हैं। यहाँ हम भी एक प्रयास करेंगें। हम यह तो नहीं कहेंगे कि हमने ब्रह्म को जान लिया है परंतु, हमारा जाना हुआ सत्य वेदों को जानने में कितना सक्षम होता है, यह अवश्य देखेंगे।

1.2 अद्वैत का संक्षिप्त परिचय

आदिम काल से ही मनुष्य अपने सहज अंतर्ज्ञान से यह अनुभव करता रहा है कि इस समग्र ब्रह्माण्ड के संचालन में एकत्त्व ओतप्रोत है, जिसे हम तर्क कहते हैं। सभी तर्कों का आधार एकत्त्व है। यह एकत्त्व क्या है? प्राचीन काल से ही मनुष्य की यह गहन जिज्ञासा रही है कि यह एकत्व, जो कि स्वयं अस्तित्वगत न होते हुए भी इकाई को अस्तित्व प्रदान करता है, जो स्वयं अगोचर होते हुए भी इकाई को गोचर बनाता है, तथा जो स्वयं गुणातीत होते हुए भी गुणनियंता है, यह आखिर क्या है। हम इसको ब्रह्मसूत्र कहते हैं। यह ब्रह्मसूत्र ही एकत्व है तथा अद्वैत के नाम से जाना जाता है। इस ब्रह्मसूत्र को ही हम अस्तित्व का सार्वभौमिक सिद्धांत कह रहे हैं। कहने का अर्थ यह है कि एक मूलभूत सिद्धांत है, जिस पर स्थान, काल, परिस्थिति का कोई अंतर नहीं पड़ता। यदि एक और एक मिल कर दो होते हैं तो यह सभी स्थानों पर, प्रत्येक काल में, प्रत्येक परिस्थिति में दो ही होंगे। यह अद्वैत का सरलतम उदाहरण है।

1.3 द्वैत का संक्षिप्त परिचय

सम्पूर्ण सृष्टि एक ही द्वैत के युग्म से निर्मित है जिसे विभिन्न संदर्भों में चेतन-जड़, पुरुष-प्रकृति, ब्रह्म-माया आदि नामों से पुकारा जाता है, प्रस्तुत आलेख में इन्हें हम सत्-असत् नामों से सम्बोधित करेंगे। इनमें सत् का योगदान उस इकाई के अस्तित्व में एकत्व के आधार पर जीवत्व को प्रज्वलित करना है। तथा असत् का योगदान उस इकाई में जीवत्व का प्रज्वलन होना है, इस 'करने' तथा 'होने' से ही प्रत्येक इकाई की अवस्थिति है। जिस सिद्धांत के अंतर्गत इस 'करने' तथा 'होने' अर्थात् 'कारण' तथा 'कार्य' का व्यापार होता है, आधुनिक जगत् इसे विज्ञान कहता है, तथा भारतीय वाङ्मय इसे ब्रह्म-माया कहता है। - एकं वा इदं विबभूव सर्वम्। इस प्रकार प्रत्येक इकाई में जो आत्मभाव है, जीवत्व है, सत् है, अगोचर है, कारण है, वह ब्रह्म है, तथा इकाई में जो देह भाव है, दर्शनीयता है, असत् है, गोचर है, क्रिया है, वह माया है। इस प्रकार अगोचर-गोचर, कारण-क्रिया, तथा ब्रह्म-माया के समन्वय से ही प्रत्येक इकाई का जन्म होता है। यह प्राणिक इकाई जब भी कोई कर्म करता है तो कर्म का कारण उसके गुणसूत्रानुसार अस्तित्व में निहित है, जो कि अव्यय पुरुष है. इस अव्यय पुरुष में स्थित आत्म भाव, जो कि अव्यय पुरुष को संचालित करता है, वह ही ब्रह्म है। यह ब्रह्म अव्यय पुरुष में स्थित गुण सूत्रों के अनुसार जगत में व्यापार करता है। तो यहाँ 'मैं' ही 'आत्म' है, ब्रह्म है, सत्य है, तथा मेरी देह, मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा अहंकार जगत् है, माया है, अर्थात् मिथ्या हैं। क्यों कि बिना ब्रह्म के यह कुछ भी संचालित नहीं हो सकते।

1.4 अस्तित्व का संक्षिप्त परिचय

कहा जाता है कि ब्रह्म प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक समय पर, प्रत्येक इकाई में आत्मसात् है। कहा जाता है कि ब्रह्म अवर्णीय है, अदृश्य है, अगोचर है, तो फिर यह ब्रह्म है क्या? अनेकानेक बार यह प्रश्न उठाया जाता है कि ब्रह्म का अस्तित्व है या नहीं? गहराई में जायें तो यह प्रश्न ही गलत प्रतीत होता है, क्यों कि अस्तित्व स्वयं ही ब्रह्म है, तथा अस्तित्व का अस्तित्व नहीं हो सकता । इस सृष्टि में ऐसी कोई संज्ञा नहीं है जिसका अस्तित्व नहीं हो। उपनिषद् कहते हैं कि यह ब्रह्म 'है' है, अर्थात् इकाई का अस्तित्व ही ब्रह्म है। अस्तित्व प्रत्येक इकाई का होता है, जो स्वयं दिखाई नहीं देता; वरन् अस्तित्व के अनुसार बनी इकाई ही दिखाई देती है। हमें पत्थर का अस्तित्व दिखाई नहीं देता, पत्थर ही इकाई रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार प्रत्येक इकाई में दो भागों का योगदान हो जाता है। प्रथम है अस्तित्व, जिसे ब्रह्म कहा जाता है, जो कि प्रत्येक इकाई में कारण रूप में आत्मसात् रहता है, और अगोचर है, तथा द्वितीय है माया जिसके कारण यह इकाई दिखाई देती है तथा गोचर बन जाती है।

सत् तथा असत् में भी मात्र सापेक्षता का ही अंतर है। अत: यदि सत् ब्रह्म है तो अप्रत्यक्ष रूप से असत् भी ब्रह्म है। कारण यह है कि यह असत् भी किसी अन्य संदर्भ में सत् बन जाता है, जिसे हम आगे स्पष्ट करेंगे। सारे प्रकरण में एक बात साथ ही चलती है, जिसे हम कार्य-कारण का सम्बन्ध कहते हैं। इस कार्य-कारण के सम्बन्ध का भी अस्तित्व है। अत: इस सम्बन्ध को भी ब्रह्म कहा जा सकता है। यह कार्य कारण का सम्बन्ध ही विज्ञान का आधार है, अत: विज्ञान को भी ब्रह्म कहा जा सकता है – विज्ञानं ब्रह्म ... (तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली पञ्चमोऽनुवाकः पद्य 1)

1.5 इकाइयों के प्रकार

प्रत्येक इकाई का कारण एकत्व रूपी कार्य कारण के सिद्धांत के अंतर्गत असत् (उपादान) में सत् (ब्रह्म) की स्वीकृति से उद्भूत अस्तित्व है। इसे अस्तित्व का प्रजनन कहा जा सकता है। बिना देह के अस्तित्व इकाई नहीं बन सकता, अत: पुन: असत् के सहयोग से इकाई की देह उत्पन्न होती है। यह इकाई अपने जीवन यज्ञ में अनेक प्रकार के असत् को स्वीकृत, संगृहीत, तथा विसर्जित करती रहती है। और जीवन चक्र चलता रहता है। एक इकाई में एक सत् तथा अनेक असत् होते हैं, लेकिन पहचान उस इकाई की सत् के आधार पर ही होती है। क्यों कि गुण तो सत् में ही निहित हैं, असत् तो उन गुणों का दिग्दर्शन मात्र है। अनेक प्रकार की इकाइयां हैं। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति 'लम्बा' है। तो 'लम्बा' तथा लम्बा दिखाई देना दो अलग

अलग बात हैं। शब्द 'लम्बे' में लम्बेपन की परिभाषा छिपी हुई है, और उस परिभाषा में ही उसकी पहचान निहित है। यह वह पहचान (ब्रह्म) है जिसके कारण हम उसे 'लम्बा दिखाई देना' (माया) कह रहे हैं। यहाँ हम इकाइयों की सार्वभौमिकता से परिचय करा रहे हैं।

1. सर्वप्रथम ब्रह्म स्वयं एक इकाई है, जो कार्य-कारण के स्वनिर्मित विधान, जिसको विज्ञान कहा जाता है, के अंतर्गत स्वयं को सृष्टि के रूप में स्थापित कर लेता है। संपूर्ण ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म की देह है। जिस प्रकार एक प्राणिक देह अनेक कोशिकाओं द्वारा निर्मित होती है, प्रत्येक कोशिका में एक ही प्रकार का संचालन सूत्र (डी एन ए) उपस्थित रहता है, और यह संचालन सूत्र (डी एन ए) उस देह का ही प्रतिरूप होता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में एक ही कार्य कारण का सिद्धांत लागू होता है। "यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे" के अंतर्गत इस सृष्टि में जितनी भी इकाइयां हैं सभी ब्रह्म का ही प्रतिरूप हैं। अत: पिण्ड को परिभाषित करके हम ब्रह्म को तथा ब्रह्म को परिभाषित कर हम पिण्ड को परिभाषित कर सकते हैं। हम यह जानते हैं कि हम ब्रह्म को परिभाषित नहीं कर सकते अत: पिण्ड को परिभाषित कर ब्रह्म को जानने का प्रयास करेंगे।

2. इस सृष्टि में अनगिनत इकाइयां उपस्थित हैं। प्रथम विभाजन में इन इकाइयों के अनेक स्तर होते हैं, जिन्हें हम कॉस्मिक इकाई, भौतिक इकाई (पदार्थीयता), प्राणिक इकाई (जैविकता), मानसिक इकाई (पशुता), तथा बौद्धिक इकाई (मनुष्यता) के रूप में जानते हैं। सभी स्तर की इकाइयां विज्ञान द्वारा सम्मत, तथा एक ही ब्रह्म की प्रतिरूप हैं। 'रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव' अर्थात् एक रूप के अनेक प्रतिरूप हो गए।

3. द्वितीय विभाजन में उपर्युक्त स्तरों की अनेकानेक प्रकार की इकाइयां होती हैं। जिन्हें हम विभिन्न प्रकार के पदार्थ, विभिन्न प्रकार की वनस्पतियां, विभिन्न प्रकार के पशु तथा विभिन्न प्रकार के मनुष्य कहते हैं। व्यावहारिक रूप में इन्हें जाति कहा जाता है।

4. एक ही जाति में अनेक प्रकार की इकाइयां होती हैं।

5. प्रत्येक इकाई की अपनी एक देह होती है, जो मौलिक इकाइयों के द्विगुणन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती हैं।

6. मौलिक इकाई का गठन अस्तित्व असत् के आवरण से उत्पन्न होता है, और अस्तित्व का निर्माण असत् द्वारा निर्मित गुणसूत्रों में सत् की स्वीकृति से होता है ।

देह के जो भी गुण हैं वह मौलिक इकाइयों में ही निहित रहते हैं, अत: देह को भी इकाई कह दिया जाता है। हम जो भी चर्चा कर रहे हैं वह मौलिक इकाई की ही कर रहे हैं, जो कि संपूर्ण सृष्टि का मूल है, तथा ब्रह्म का प्रतिरूप है ।

1.6 मौलिक इकाई के प्रभाग

किसी भी प्रकार की इकाई हो, उसके दो मूलभूत प्रभाग हैं। (1) उसका अस्तित्व, जिसे हम सत् कह रहे हैं, (2) इकाई की देह, जो असत् निर्मित है, और जिसे हम माया कह रहे हैं।

(1) **सत्** - सत् जो कि कार्य-कारण को संचालित करता है, अस्तित्व कहलाता है। अस्तित्व के भी दो भाग हैं। (अ) प्रथम है गुणसूत्रों की विभिन्नता, जिसके कारण हमें वस्तुओं में भिन्नता दिखाई देती है। (ब) दूसरी है गुणसूत्रों की संरचना जो कि सभी अस्तित्वों में समान होती है, जिसके कारण सभी अस्तित्व एक ही सिद्धांत के अंतर्गत संचालित होते हैं। यह जो भिन्नता है, वही जगत् का वितान है, तथा यह जो अभिन्नता है, वही सार तत्त्व ब्रह्म है, अद्वैत है, विज्ञान है, तथा समग्र सृष्टि में समान रूप से लागू होता है।

(2) **असत्** – असत् अस्तित्व की दैहिक पूर्णता है। बिन देह के अस्तित्व तो अगोचर है, अदृश्य है, तथा मात्र 'है' है। 'है' होने से इकाई प्रकट नहीं होती; इकाई के प्रकट होने के लिये इकाई की देह का होना आवश्यक है। इस देह की संरचना जिस पदार्थ से होती है, हम उसे माया या असत् कहते हैं [यह असत् किस प्रकार अद्वैत के ही अंतर्गत है, यह हम आगे स्पष्ट करेंगे]। इस देह में जो भी गुण निहित हैं, सबका संचालन अस्तित्व में स्थित गुणसूत्रों से होता है। यह गुणसूत्र अस्तित्व में निहित हैं तथा तथा उनकी गुण-दृश्यता असत् में निहित है। शास्त्र कहते हैं कि रूप भिन्नता का कारण इंद्र (विभिन्न गुणसूत्रों का समूह) है जो माया (असत् अथवा उपादान) द्वारा विभिन्न रूप धारण कर लेता है – इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते –इन्द्र माया द्वारा अनेक रूप धारण कर लेता है।

1.7 सृष्टि विकास में इकाइयों के स्तर

इस सृष्टि के विकास क्रम में 'सत्' तथा 'असत्' सापेक्ष हैं। सत् तथा असत् के परस्पर सहयोग से अनेक स्तर की इकाइयों का जन्म होता है, उनमें से पाँच ज्ञात स्तर हैं : कॉस्मिक, भौतिक, प्राणिक, मानसिक, तथा बौद्धिक स्तर। इन इकाइयों के निर्माण में पाँच प्रकार के सत् तथा पाँच ही प्रकार के असत् कार्य करते हैं। इनमें पूर्व पूर्व की सत् निर्मित इकाइयां उत्तर उत्तर के लिये असत् बन जाती हैं। (देखें चित्र 1)

(1) कॉस्मिक आत्मा (कॉस्मिक गुणसूत्रों का सत्) के द्वारा अगोचर बीज (कॉस्मिक गुणसूत्रों का असत् उपादान) में आत्मसात् होने से कॉस्मिक इकाई का उद्भव होता है। कॉस्मिक इकाइयों के बहुलीकरण से कॉस्मिक सृष्टि का जन्म होता है।

(2) भौतिक आत्मा (भौतिक गुणसूत्रों का सत्) के द्वारा कॉस्मिक बीज (भौतिक गुणसूत्रों का असत् उपादान जो कि आकर्षण, विकर्षण, फोटोन आदि की सममित शृङ्खला बद्ध संरचना है)

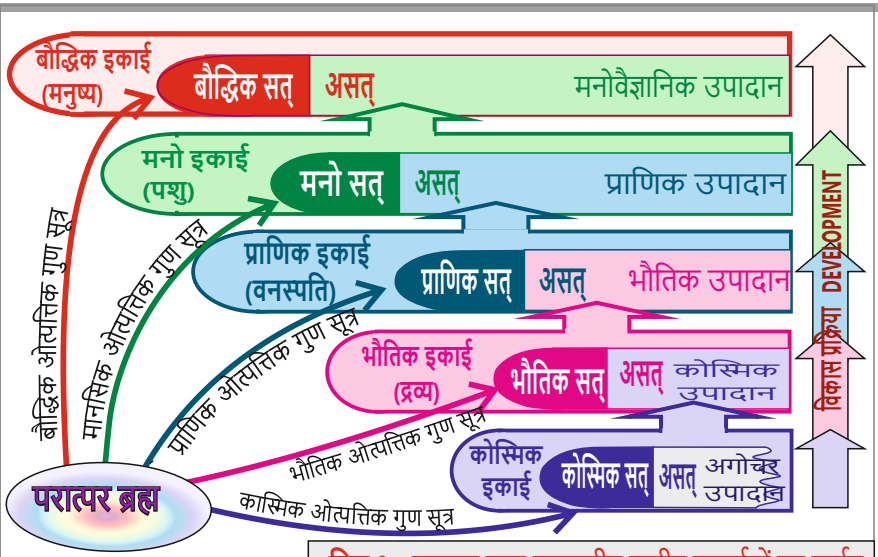

चित्र १ - परात्पर द्वारा बहुस्तरीय सजीव इकाईयों का सर्जन

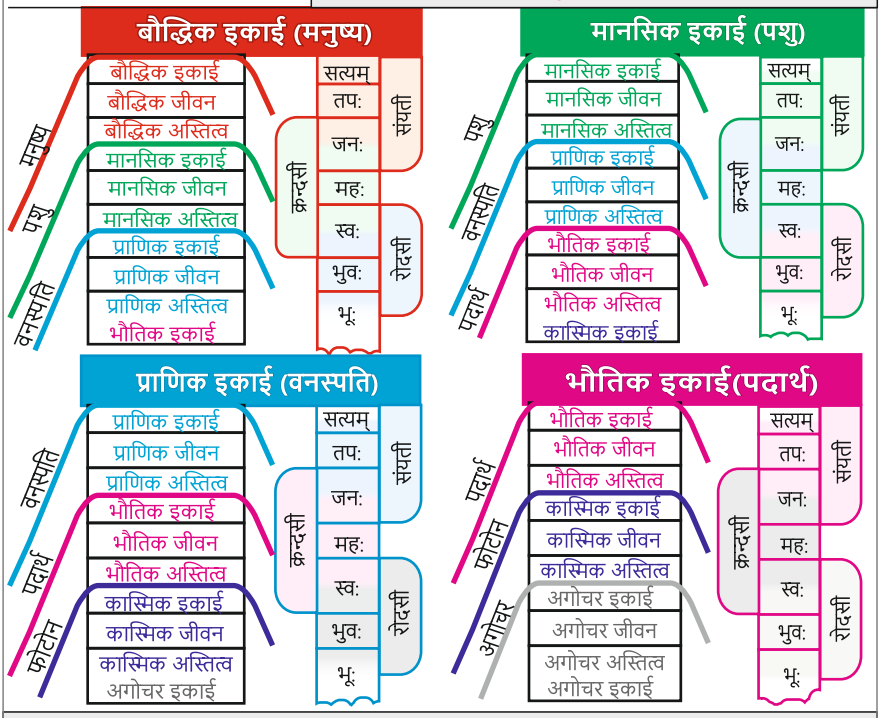

चित्र २ - विभिन्न स्तरों की लोकांतर व्यवस्था

में आत्मसात् होने से भौतिक (पार्थिव) इकाई का उद्भव होता है। भौतिक इकाइयों के बहुलीकरण से भौतिक सृष्टि का जन्म होता है। कहा गया है ... अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन।

(3) प्राणिक आत्मा (प्राणिक गुणसूत्रों का सत्) के द्वारा भौतिक बीज (प्राणिक गुणसूत्रों का असत् उपादान जो कि इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन आदि की सममित शृङ्खला बद्ध संरचना है तथा DNA कहलाता है) में आत्मसात् होने से प्राणिक (वानस्पतिक) इकाई का उद्भव होता है। प्राणिक इकाइयों के बहुलीकरण से प्राणिक सृष्टि (प्राणिक देह) का जन्म होता है।

(4) मानसिक आत्मा (मानसिक गुणसूत्रों का सत्) के द्वारा प्राणिक बीज (मानसिक गुणसूत्रों का असत् उपादान जो कि दैहिक अवयवों की सममित शृंखला बद्ध संरचना है) में आत्मसात् होने से मनो (पशु) इकाई का उद्भव होता है। मनो इकाइयों के बहुलीकरण से मनो सृष्टि (स्वभाव) का जन्म होता है।

(5) बौद्धिक आत्मा (बौद्धिक गुणसूत्रों का सत्) के द्वारा मानसिक बीज (बौद्धिक गुणसूत्रों का असत् उपादान जो कि मानसिक अवयव भावनाएं, जोश, डर, प्रसन्नता आदि की सममित शृंखला बद्ध संरचना है) में आत्मसात् होने से बौद्धिक (मनुष्य) इकाई का उद्भव होता है। बौद्धिक इकाइयों के बहुलीकरण से बौद्धिक सृष्टि (तार्किकता) का जन्म होता है।

इस प्रकार सभी स्तर की इकाइयों का विकास एक ही सूत्र के अंतर्गत होता है। भौतिक इकाई में असत् रूप में कॉस्मिक पदार्थ शामिल होते हैं, प्राणिक इकाई (वनस्पति) में असत् रूप में भौतिक पदार्थ शामिल होते हैं। मानसिक इकाई (पशु) में असत् रूप में प्राणिक पदार्थ शामिल होते हैं। तथा बौद्धिक इकाई (मनुष्य) में असत् रूप में मानसिक पदार्थ शामिल होते हैं। मनुष्य सर्व विकसित बौद्धिक इकाई है जो मानसिक असत् से निर्मित है, मानसिक इकाई है जो कि प्राणिक असत् से निर्मित है, प्राणिक इकाई है जो कि पार्थिव असत् से निर्मित है, पार्थिव इकाई है जो कि कॉस्मिक असत् से निर्मित है, कॉस्मिक इकाई हैं जो कि अगोचर असत् से निर्मित है। यह असत् की उपलब्धता स्वयं ही अगोचर है, सर्वव्यापी कारण है।

प्रत्येक स्तर के पदार्थ की संरचना उसके सत् तथा असत् में निहित है। यहाँ निम्नतर इकाई ही असत् है। तथा उच्चतर इकाई सत् है। इस प्रकार सत् तथा असत् सापेक्ष हो जाते हैं सापेक्ष होने से दोनों एक ही अद्वैत के अंतर्गत आ जाते हैं। एक अणु, जो कि प्राणिक सृष्टि के सापेक्ष में असत् है, वही भौतिक सृष्टि के सापेक्ष में सत् है। अत: अणु सत् भी है तथा असत् भी, मात्र सापेक्षता का अंतर है। इस प्रकार सत् जो कि ब्रह्म है वह असत् अर्थात् माया को भी ब्रह्म परिभाषित कर देता है। तथा द्वैत (ब्रह्म-माया) में अद्वैत (ब्रह्म) प्रमाणित हो जाता है।

2.0 विकासक्रमानुसारी लोक संरचना

2.1 लोक सूत्र

प्रत्येक इकाई सात लोकों, अर्थात् भू:, भुव:, स्व:, मह:, जन:, तप:, तथा सत्यम् के अंशों का समुच्चय है। यह सात लोक इकाई को तीन स्तरों में विभाजित करते हैं। यह तीन स्तर तीन त्रिलोकी कहे जाते हैं। भू:, भुव:, तथा स्व: को रोदसी त्रिलोकी कहा जाता है। स्व:, मह:, तथा जन: को क्रन्दसी त्रिलोकी कहा जाता है। जन:, तप:, तथा सत्यम् को संयती त्रिलोकी कहा जाता है।

1. मनुष्य के सन्दर्भ में संयती त्रिलोकी बौद्धिक इकाई को, क्रन्दसी त्रिलोकी मानसिक इकाई को, तथा रोदसी त्रिलोकी प्राणिक इकाई को दर्शाती है। 2. पशु के सन्दर्भ में संयती त्रिलोकी मानसिक इकाई को, क्रन्दसी त्रिलोकी प्राणिक इकाई को, तथा रोदसी त्रिलोकी भौतिक इकाई को दर्शाती है। 3. वनस्पति के सन्दर्भ में संयती त्रिलोकी प्राणिक इकाई को, क्रन्दसी त्रिलोकी भौतिक इकाई को, तथा रोदसी त्रिलोकी कॉस्मिक इकाई को दर्शाती है। 4. भौतिकी के सन्दर्भ में संयती त्रिलोकी भौतिक इकाई को, क्रन्दसी त्रिलोकी कॉस्मिक इकाई को, तथा रोदसी त्रिलोकी अगोचर इकाई को दर्शाती है। 5. कॉस्मिक के सन्दर्भ में संयती त्रिलोकी कॉस्मिक इकाई को, क्रन्दसी त्रिलोकी अगोचर इकाई को, तथा रोदसी त्रिलोकी अगोचर इकाई को दर्शाती है (चित्र - 2)। इस प्रकार प्रत्येक अस्तित्वगत इकाई की पहुंच सात लोक; भू:, भुव, स्व:, मह:, जन:, तप:, तथा सत्यम् अथवा तीन त्रिलोकियों; संयती, क्रन्दसी, तथा रोदसी तक होती है। कहा गया है . . .य: पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्। इसके बाद सब अगोचर हो जाता है। अत: बौद्धिक इकाई भौतिक सृष्टि की इकाई को तो जान सकती है परंतु उसके उपादान कारण कॉस्मिक पदार्थ को नहीं जान सकती, क्यों कि उसके सात लोक पहले ही समाप्त होजाते हैं। इस नियम से मानसिक तथा अन्य निम्नतर इकाइयां कॉस्मिक तथा अन्य निम्नतर इकाइयों को जान सकते हैं, जहां तक उनके सात लोक पूरे होते हैं। उदाहरण के रूप में कई पशु जीवों को भूकंप का पूर्वाभ्यास हो जाता है, जो मनुष्य को नहीं होता।

2.2 त्रिलोकी का स्वरूप

त्रिलोकी इकाई कि तीन घटक हैं। जिसें भू:, भुव: तथा स्व: के नाम से जाना जाता है। यहाँ 'भू:' उपादान है, अर्थात् असत् है। जिसमें सत् प्रविष्ट हो भुव: का निर्माण करता है। 'भुव:'

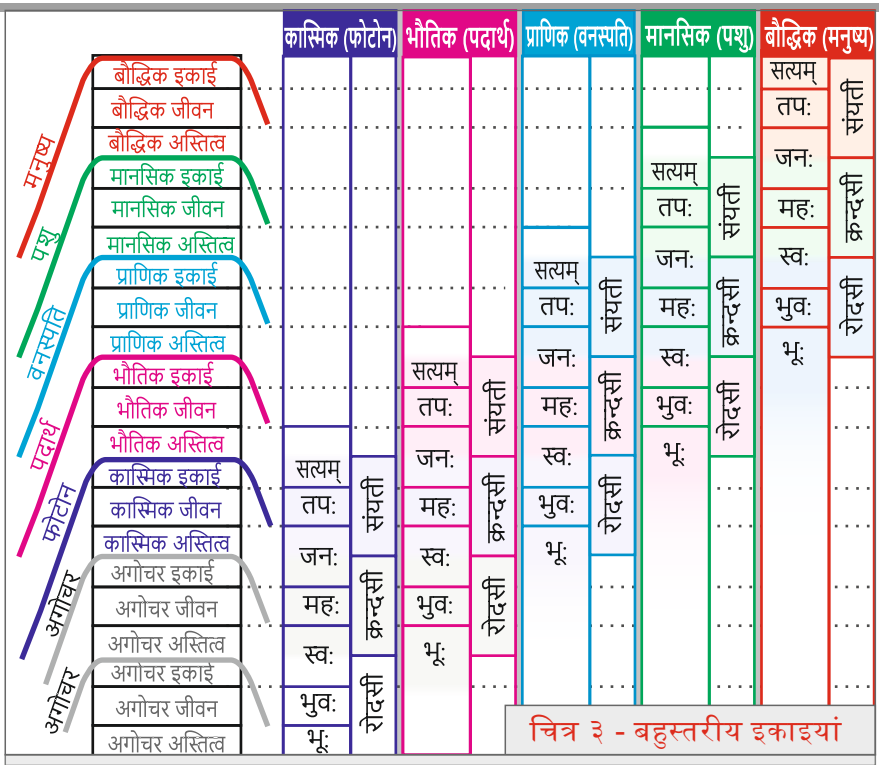

चित्र ३ - बहुस्तरीय इकाइयां

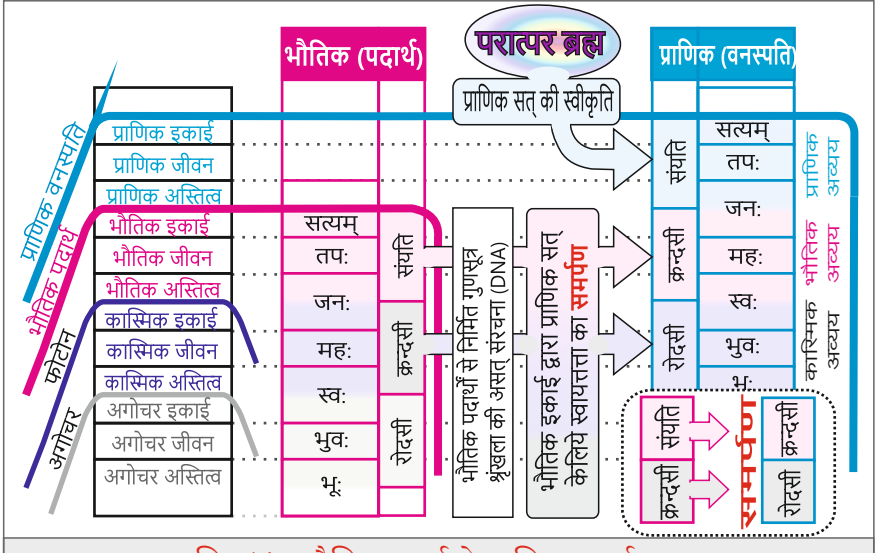

चित्र ४ - भौतिक पदार्थ से प्राणिक पदार्थ का उद्भव

आत्मा द्वारा संचालित इकाई का जीवन है, तथा 'स्वः' सत्ता कि स्वायत्तता का नियंता है। इस प्रकार "असत् (भूः) में सत् के प्रवेश से जीवन (भुवः) का उद्भव होता है, जिससे स्वायत्त इकाई (स्वः) का गठन होता है" – यह ही मूल मंत्र है जो प्रत्येक इकाई में समान रूप से लागू होता है। इकाई, जो कि भूः, भुवः, तथा स्वः की त्रयी में स्थित है, स्वतः ही रोदसी, क्रंदसी, तथा संयती कही जाने लगती है। यह रोदसी, क्रंदसी, तथा संयती स्वयं ही अलग अलग त्रिलोकियों का रूप ले कर अलग अलग भूः, भुवः, तथा स्वः के रूप में दिखाई देने लगती है। सभी त्रिलोकियों के भूः, भुवः, तथा स्वः अलग अलग होने के बाद भी अद्वैतानुसार एक दूसरे के समानांतर व्यवहार करते हैं। अतः एक इकाई में जो तीन लोक होते हैं वही व्यवहार में (नौ में से दो समान होने के कारण) सात लोक दिखाई देने लगते हैं। यह व्यवस्था सर्वत्र नियम की एकरूपता को प्रमाणित करता है। (चित्र - 3)

यही प्रक्रिया चित्र – 1 से भी समझी जा सकती है। यहाँ असत् (उपादान) ही 'भूः' है, सत् के सहयोग से बनने वाली जैविकता 'भुवः' है, तथा उसकी स्वायत्त इकाई 'स्वः' है। उच्चतर संस्था के लिये यह 'स्वः' ही असत् उपादान बन जाता है, जो कि उच्चतर संस्था का 'भूः' कहलाता है। इस प्रकार निम्नतर संस्था का 'स्वः' तथा उच्चतर संस्था का 'भूः' एकाकार हो जाता है। इसका फल यह होता है कि तीन त्रिलोतियां नौ लोकों की जगह सात लोकों को ही जन्म देती हैं।

2.3 क्रमशः उच्चतर इकाइयों का उद्भव (विकास प्रक्रिया)

हम असत्तम या निम्नतम इकाई को नहीं जानते, और न ही जान सकते हैं। लेकिन निम्नतर से उच्चतर होने की प्रक्रिया को समझ सकते हैं। उदाहरण के लिये यहाँ हम भौतिक पदार्थ में प्राणिक इकाई के उद्भव को ले रहे हैं। हम मूल भौतिक कण को तो नहीं जानते परंतु उनके विभिन्न समुच्चयों से बनने वाले एलेक्ट्रोन, प्रोटोन, तथा न्यूट्रोन को तो जानते ही हैं। यह कण नये नये परमाणु तथा अणु बनाते हैं। इन विभिन्न अणुओं में एक अणु है जिसका नाम है 'डिऑक्सीराइबोन्यूक्लिक एसिड (DNA)। यह अणु अपने अन्य गुणोंसूत्रों के साथ साथ विकसित (प्राणिक) स्तर की आत्म सत् को स्वीकार करने की क्षमता भी रखता है। मूल रूप से यह विकसित इकाई के लिये असत् गुणसूत्र संरचना है जिसको हम बीज कहते हैं। यह बीज एक भौतिक इकाई है, अतः तीनों त्रिलोकियों के अंशों का समुच्चय है। जैसे ही यह इकाई विकसित सत् को स्वीकृत करने के लिये उद्यत होती है, यह भौतिक पदार्थ भौतिक धर्म की स्वायत्तत्ता को त्याग कर प्राणिक धर्म का अनुशीलन स्वीकार कर लेता है। भौतिक क्रंदसी प्राणिक रोदसी में तथा भौतिक संयती प्राणिक क्रंदसी में बदल जाता है; इस प्रकार प्राणिक संयती का स्थान खाली हो जाता है। यह

खाली स्थान ही आपोमयता कहलाता है। परात्पर से आने वाले प्राणिक इकाई का आत्म सत् इसी आपोमयता में स्थापित होता है, तथा प्राणिक इकाई का उद्भव हो जाता है। इस प्रकार भौतिक इकाई के अन्दर प्राणिक इकाई का जन्म हो जाता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्राणिक सत् की स्वीकृति जन: में होती है जो तप: को जीवंत कर सत्यं को पूर्ण कर संयती को स्थापित कर देती है। (चित्र – 4)

इस विकास प्रक्रिया में, प्रथम प्राणिक इकाई (कोश) के जन्म के उपरांत इकाई की गुणसूत्र श्रृंखला सांख्यिक रूप से द्विगुणित होते हुए प्राणिक इकाई के अवयवों का निर्माण करती है। तथा इस प्रकार ओत्पत्तिक गुणसूत्रों के अनुसार सम्पूर्ण प्राणिक इकाई की देह का निर्माण हो जाता है। प्रत्येक भिन्न देह में ओत्पत्तिक गुणसूत्रों की भी भिन्नता होती है, अत: माया का आवेष्टन भी भिन्न भिन्न होता है तथा वानस्पतिक पदार्थों का गठन भी भिन्न भिन्न होता है। आम का बीज हो तो आम पैदा होता है, तथा मनुष्य का बीज हो तो मनुष्य पैदा होता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रत्येक देह में उपलब्ध सभी कोशों में एक ही प्रकार का डी एन ए होता है तथा यह डी एन ए देह का मानचित्र ही होता है. अत: कोई भी नया कोश बनता है, वह उस मानचित्र का हिस्सा ही होता है।

जिस प्रकार भौतिक पदाथों से प्राणिक इकाई का जन्म होता है, उसी प्रकार प्राणिक पदार्थों से मानसिक इकाई का जन्म होता है, तथा उसी प्रकार मानसिक पदार्थों से बौद्धिक इकाई का जन्म होता है। अत: हमें यह मानने में कोई संशय नहीं होना चाहिये कि उसी प्रकार कॉस्मिक पदार्थों से भौतिक इकाई का भी जन्म होता है। वर्तमान विज्ञान का यह कहना कि बिग बैंग द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि एक साथ ही पैदा हुई, प्रमाणित नहीं होता। क्यों कि यह तो स्वत: ही प्रमाणित है कि जब प्राणिक सृष्टि (वनस्पति) उत्पन्न हुई, भौतिक सृष्टि (पार्थिव) पहले से ही उपस्थित थी; जब मानसिक सृष्टि (पशु) उत्पन्न हुई, प्राणिक सृष्टि (वनस्पति) पहले से ही उपस्थित थी; जब बौद्धिक सृष्टि (मनुष्य) उत्पन्न हुई, मानसिक सृष्टि (पशु) पहले से ही उपस्थित थी। उसी प्रकार यह भी मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि जब भौतिक सृष्टि (पार्थिव) उत्पन्न हुई, कॉस्मिक सृष्टि पहले से ही उपस्थित थी। प्रश्न यह है कि जब परमाणु संलयन द्वारा भौतिक इकाई को समाप्त कर कॉस्मिक पदार्थों को स्वतंत्र किया जा सकता है तो, कॉस्मिक पदार्थों को अनुशासित कर भौतिक पदार्थों को उत्पन्न क्यों नहीं किया जा सकता?

सभी प्रकार की इकाइयों में जो विकास क्रम तथा समन्वय दिखाया गया है उसका आधार कठोपनिषद् के मंत्र 1-3-3 से 11 तक में उपलब्ध है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः । न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥
इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

जिसका आशय है कि इंद्रियों (प्राणिक इकाई) से अधिक विकसित मन (मानसिक इकाई) है, और मन (मानसिक इकाई) से विकसित बुद्धि (बौद्धिक इकाई) है। उपनिषद् ने इसी विकास क्रम को एक रूपक के द्वारा इस प्रकार कहा है कि इंद्रियां अश्व हैं, मन लगाम है, और बुद्धि सारथी है।

इस विकास क्रम में एक दूसरी बात उभर कर यह आती है कि विकास के लिये दो इकाइयों को परस्पर इस अर्थ में सहयोग करना होता है कि निम्न इकाई का सत् उच्चतर इकाई का असत् बनने के लिये अपने अहं का समर्पण देने को तैयार हो। वस्तुत: विकास का आधार संघर्ष नहीं अपितु सहयोग है। यह डार्विन के विकासवाद से भिन्न दृष्टि है, और मार्क्स के संघर्ष की दृष्टि से भी भिन्न है। वस्तुत: संघर्ष कभी विकास का कारण नहीं हो सकता। प्रकृति में कहीं भी संघर्ष नहीं है, अपितु सभी स्थानों में सहयोग ही है। कहा गया है कि "...परस्परोपग्रहो जीवानाम्..."। इस दृष्टि का अर्थ यह भी है कि सभी प्रकार की इकाइयों में उच्चतर इकाई का एक सत् (संयती) अनेक असतों (क्रंदसी) को नियंत्रित करता है। तथा असत् उसका सहयोग करता है। यदि सत् की निर्बलता के कारण या असतों के अहंकार के कारण यह व्यवस्था टूट जाये तो बौद्धिक इकाई का विकास न होकर ह्रास प्रारम्भ हो जायेगा। फलस्वरूप व्यक्ति के स्तर पर बुद्धि का मन पर नियंत्रण नहीं रहेगा तथा मानसिक भावनाएं मनमानी करने लगेंगी, तथा व्यक्ति में पाशविक वृत्तियां अपना सिर उठा लेंगी। यही कारण है कि जब परिवार तथा शासन व्यवस्था में बौद्धिक शिथिलता हो जाती है तो स्वच्छंदता उत्पन्न हो जाती है।

2.4 विकास क्रम की विशेषताएं

(1) हमारी दृष्टि में कॉस्मिक इकाई ही आती है, कॉस्मिक इकाई का उपादान क्या है यह एक रहस्य ही बना रहता है। फिर भी हम अन्य इकाइयों के समान यह मान सकते हैं कि उपादान

अर्थात् गुणसूत्रों का असत् भाव निम्नतर सत्ता में से आता है। तथा कॉस्मिक इकाई के गुणसूत्रों का सत् भाव ब्रह्म से ही आता है। इस प्रकार भौतिक इकाई, प्राणिक इकाई, मनो इकाई, तथा बौद्धिक इकाई, सभी के गुणसूत्रों का सत् भाव ब्रह्म से ही आता है।

(2) क्यों कि सभी इकाइयों के गुणसूत्रों का सत् भाव ब्रह्म से ही आता है, तथा असत् भी सापेक्ष रूप से सत् ही है, अत: ब्रह्म सर्व व्यापक है।

(3) पाँचों स्तर की इकाइयों में कॉस्मिक इकाई का सत् भौतिक इकाई में, कॉस्मिक तथा भौतिक इकाई का सत् प्राणिक इकाई में, कॉस्मिक, भौतिक तथा प्राणिक इकाई का सत् मनो इकाई में तथा कॉस्मिक, भौतिक, प्राणिक, मनो इकाई का सत् बौद्धिक इकाई मे समाविष्ट रहता है, इस कारण इन इकाइयों में उत्तरोत्तर विकास होता है।

(4) आधुनिक विज्ञान असत् अर्थात् उपादान कारण (raw material) की चर्चा तो करता है, किंतु सत् की चर्चा नहीं करता, जिसका गहरे में यह अर्थ होता है कि वह असत् अर्थात् जड़ के विकास को तो देख रहा है, किंतु विकास के कारण को नहीं देख पा रहा। यदि प्रक्रियाएं स्वचालित हों तो गणित, कला, संस्कृति, त्याग, तपस्या तथा नवीन ज्ञान के विकास के लिये कोई स्थान नहीं रहता। चेतन कि अभाव में इच्छा, तप, तथा श्रम, तीनों ही अनुपस्थित हो जाते हैं। चेतन वैविध्यता का द्रष्टा है, और द्रष्टा के अभाव में प्रक्रियाओं का होना भी बेमानी हो जाता है। वस्तुत: जड़ तथा चेतन दोनों ही एक सिक्के के दो पहलू हैं, इन्हे एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

(5) स्पष्ट है कि जो विकास क्रम हम प्रतिपादित कर रहे हैं वह डार्विन के विकासवाद से अधिक परिपूर्ण है। डार्विन यह स्पष्ट नहीं करता कि एक इकाई में से उससे अधिक विकिसित इकाइयां किस प्रकार उत्पन्न हो जाती है। वह यह बात केवल मान कर चलता है, इसका कारण नहीं बताता। हमारा मत यह है कि आधुनिक वैज्ञानिकों को सृष्टि के विकास पर विचार करते हुए असत् के साथ सत् पर भी अर्थात् जड़ के साथ चेतन पर भी ध्यान देना चाहिये ताकि विकास की सीढियां भी दिखाई दें। और भौतिक विकास के साथ सांस्कृतिक विकास का रहस्य भी स्पष्ट हो सके। इस बात की ओर सभी आध्यात्मिक परम्पराओं ने हमारा ध्यान दिलाया है, परंतु यहाँ आध्यात्मवादी वैज्ञानिक ढंग से तथा विज्ञानवादी आध्यात्मिक ढंग से नहीं सोच सकते। हमारा प्रयत्न यहाँ जड़ व चेतन, दोनों के सामंजस्य को स्पष्ट करना है जिसके कारण असत् एक उच्चतर इकाई तक विकसित होता है।

(6) इकाई कोई भी हो, जैसे ही उसमें 'आत्मा' रूपी सत् के प्रविष्ट होने के कारण 'आत्म' तत्त्व उत्पन्न होता है, पञ्चभूतों से युक्त एक आत्मनिर्भर इकाई दिखाई देने लगती है। इस आत्म तत्त्व से

ही 'मैं' उत्पन्न हो जाता है। इससे यह जाहिर हो जाता है कि हमारा 'मैं' हमारी आत्मा से सम्बंधित है, सत्ता से सम्बंधित नहीं। फिर भी 'मैं' को सत्तागत होने के लिये अस्तित्व का सहारा लेना पड़ता है। यह अस्तित्व ही उसका अव्यय पुरुष है।

यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि आध्यात्मवादी 'सत्' रूप में 'आत्मा' का प्रवेश अनिवार्य मानते हैं, परंतु अनेक अनुत्तरित प्रश्नों को छोड़ देते हैं। जन्म से पूर्व आत्मा कहाँ रहती है? आत्मा बिंदु रूप है या व्यापक है? आत्मा काल में रहती है या काल आत्मा में रहता है? अनेक प्रश्न हैं जिनका विज्ञान सम्मत कोई हल नहीं है। इसी प्रकार विज्ञानवादी इस बात का प्रत्युत्तर देने में अपने आप को असफल पाते हैं कि आखिर इस जीवन का प्रारम्भ कैसे होता है? आखिर ऐसा क्या हो जाता है कि जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है? यदि 'मै' तथा 'सत्ता' अलग अलग हैं तो 'सत्ता' के समाप्त होने से 'मैं' कैसे समाप्त हो सकता है?

2.5 मंथन

आधुनिक विज्ञान के लिये यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या पूर्ण सत्य प्राप्त करने के लिये विविधताओं का विश्लेषण मात्र ही पर्याप्त है, या इस के लिये संश्लेषण द्वारा प्राप्त एकत्व का समावेश भी आवश्यक है। दूसरी ओर दार्शनिकों को भी यह विचार करना चाहिये कि क्या गुणसूत्रों (DNA) की खोज के बाद विविधता और एकता की पुरानी समस्या पर नयी दृष्टि से विचार कर के विभिन्न दार्शनिकों के मतों में समन्वय स्थापित नहीं किया जा सकता? (देखें चित्र 1) दोनों विचार पंथ अलग अलग होने पर भी एक ही उद्देश्य की दिशा में अग्रसर हैं, अत: विरोध न करते हुए सहयोग करेंगे तो सत्य के ज्यादा नजदीक पहुंच सकते हैं। विरोध करने से पूर्वसञ्चित धारणायें नवीनता को स्थान नहीं लेने देतीं, तथा विकास रुक जाता है।

3.0 भारतीय दर्शन में इकाई की आत्म सत्ता का स्वरूप

(षोडशी पुरुष की विवेचना)

असत् में सत् के प्रवेश से सत्ता का जन्म होता है। सत् में आत्मा रूपी 'आत्म' का समावेश होता है, जो कि सत्ता में 'मैं' का कारण बनता है। सत्ता एक 'मैं' द्वारा संचालित अर्थात् स्वसंचालित (self-operative) आत्मनिर्भर (seld-dependent) संस्था बन जाती है। जिसको हम सत्ता कहते हैं। इस प्रकार आत्म सत्ता के दो भाग हो जाते हैं। 1. सत्-असत् द्वारा संरचित ओत्पत्तिक सूत्रों की

एक संतुलित सत्ता जो बाह्यजगत् से सम्बन्ध जोड़ती है तथा आधिभौतिक कहलाती है। तथा 2. सत्ता में आत्मतत्त्व अर्थात् 'मैं' की उपस्थिति जो इकाई का आंतरिक संसार है तथा जिसे आ ध्यात्मिक कहा जाता है। यहाँ अनेक मत हैं। शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि जीवन यात्रा 'आत्म' से प्रारम्भ हो कर 'आत्म' पर ही समाप्त हो जाती है, बीच का जीवन मिथ्या माना जाता है, भ्रम माना जाता है. अर्थात् सम्पूर्ण विवेचना मात्र अंत:करण स्थित 'आत्मा' की ही होती है और यह स्पष्ट करने का प्रयास होता कि 'मैं' में स्थित 'सत्ता' मात्र उपादान है और 'मैं' में स्थित 'आत्मा' ही सत्य है। और मेरा 'मैं' मेरी आत्मा में ही निहित है। मेरा शरीर, मेरा विचार, मेरी अनुभूति में 'मैं' आत्मा से जुड़ जाता है तथा बाकी सब माया के मिथ्यात्व में रह जाता है.

आधिभौतिक दृष्टि 'आत्म तत्त्व' को इच्छा शक्ति तक सीमित रखती है, तथा ओत्पत्तिक सूत्रों से बनी सत्ता के संचालन को कार्य-कारण के समन्वय का ही रूप मानती है। अध्यात्मिकता में हम कारण की तरफ जाते हैं तथा काल-स्थान को 'मैं' का उपादान मानते हैं। आधिभौतिकता में हम क्रिया की तरफ जाते हैं तथा काल-स्थान को स्वत: उपस्थित मानते हैं। दोनों ही दृष्टियां अपने अपने स्थानों पर उचित हैं।

किसी भी इकाई की आत्म सत्ता इकाई के अस्तित्व तथा उसकी देह में निहित है, और क्यों कि देह का कारण अस्तित्व है; हमें अस्तित्व को जानना ही शेष रह जाता है। अस्तित्व को जानते ही हम ब्रह्म को जानने लगते हैं, जिसके बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता।

अस्तित्व की विवेचना ही षोडशी पुरुष की विवेचना है, क्यों कि इकाई की आत्मसत्ता वेद विज्ञान की अपनी अवधारणा है; अत: हम विषय को भारतीय दर्शन के अनुसार लेंगे। भारतीय दर्शन के अनुसार प्रत्येक इकाई की आत्म सत्ता के चार घटक हैं – परात्पर, अव्यय पुरुष, अक्षर पुरुष, तथा क्षर पुरुष। (इनमें से प्रत्येक पुरुष की पाँच पाँच कलायें हैं, अत: परात्पर को मिला कर कुल षोडशी पुरुष बन जाता है) यह चारों घटक किसी भी इकाई के आवश्यक अंग हैं। यदि इनमें से एक भी अनुपस्थित हो तो आत्म सत्ता का गठन नहीं हो सकता।

3.1 परात्पर

जिसे हमने उच्चतर ब्रह्म कहा उसे इस दृष्टि से परात्पर कहा जाता है कि वह सृष्टि का अंतिम सोपान है। यह जो 'है' है, जो दर्शन का एक आधार है, जहां से सभी कुछ प्रारम्भ होता है, जो कालातीत है, जो आकाशातीत है, जो स्थूलत्वविहीन है, उसे ही परात्पर कहा जा रहा है। परात्पर स्थूल न होकर स्थूल का कारण है। यह परात्पर, जो कि पर को भी पर उपलब्ध कराता

है। यह वही है जो आधिदैविक दृष्टि से कारण-कार्य का संबंध अर्थात् विज्ञान है, आध्यात्मिक दृष्टि से सभी आत्माओं का आश्रय स्थल है, और आधिभौतिक दृष्टि से अनंत ओत्पत्तिक गुणसूत्रों का प्रदाता है। इन सभी दृष्टिकोणों को लेकर परात्पर एकोहं बहुस्याम् (to increase the entropy) के अंतर्गत सृष्टि का वितान करता है। इस वितान के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि कार्य-कारण के सम्बंधों के साथ विभिन्न जीवात्मायें विभिन्न ओत्पत्तिक गुणसूत्रों को ले कर मृत्यु लोक में आयें और फिर वहां अपने अनुरूप बीज अर्थात् गुणसूत्रों की असत् संरचना को आत्मसात् कर विभिन्न इकाइयों के रूप में जन्म लें। इस प्रक्रिया में सत् असत् को उसी प्रकार स्वीकार करता है जैसा हमने उपर चित्र संख्यां 5 में दिखाया है। परात्पर वर्णनातीत है, अत: अति विवेचना से इसका दार्शनिक स्वरूप बिगड़ जाता है.

3.2 अव्यय पुरुष: ओत्पत्तिक सूत्र शृङ्खला (genetic codes)

ओत्पत्तिक सूत्र शृङ्खला – परात्पर ओत्पत्तिक गुणसूत्र शृङ्खलाओं का असीम पुञ्ज है, जो कि सत् है। प्रत्येक आत्मा सत्तागत होने के लिये ब्रह्म के इस असीम सत् शृङ्खलाओं में से एक ससीम सत् शृङ्खला का समुच्चय प्राप्त करती है। गीता कहती है – तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। यह ससीम सत् शृङ्खला सम्पूर्ण सृष्टि में से अपने स्व के अनुरूप एक बीज (ससीम असत् शृङ्खला) की तलाश करती है - न्यूनाद्वै प्रजायन्ते। जैसे ही उस सत् को अपने अनुरूप असत् की प्राप्ति होती है, वह सत् उस असत् को आत्मसात् कर लेता है। और अस्तित्व की स्थापना हो जाती है। यह स्थापित अस्तित्व ही **अव्यय पुरुष** कहलाता है। जहां से प्रथम इकाई का उद्भव होता है। (चित्र 5) उद्भव होने के उपरांत यह 'सूत्र शृङ्खला' निरंतर द्विगुणित होते हुए इकाई के अनेकानेक अवयवों का निर्माण करती है। प्रत्येक अवयव के केंद्रक या अव्यय (nucleus) में 'वही' 'सूत्र शृङ्खला' स्थित रहती हैं। तथा इन अवयवों के समुच्चय से देह प्रकट होती है। प्रत्येक देह का सत् भाव, जो कि अस्तित्व है, अगोचर है, अव्यय पुरुष कहलाता है, तथा असत् भाव, जो कि देह है, गोचर है, माया कहलाता है। देह की मृत्यूपरान्त सत् मुक्त हो कर पुन: परात्पर में विलीन हो जाता है, तथा असत् पुन: निम्नतर इकाई का सत् रह जाता है।

इस प्रकार अव्यय पुरुष जो कि इकाई का अस्तित्व है, उसके तीन प्रभाग हो जाते हैं। 1. कार्य कारण का सम्बन्ध, जो कि सार्वभौमिक है। 2. इकाई में स्थित 'आत्म भाव', जो अस्तित्व में स्थित इच्छा शक्ति है, जो कि 'एकोहं बहुस्याम' का कारण है। 3. ओत्पत्तिक गुणसूत्रों, जो कि इकाई को क्षमताएं प्रदान करता है। 'मैं' के गुण होते हैं, परंतु गुणों का 'मैं' नहीं होता, अत: आत्मा

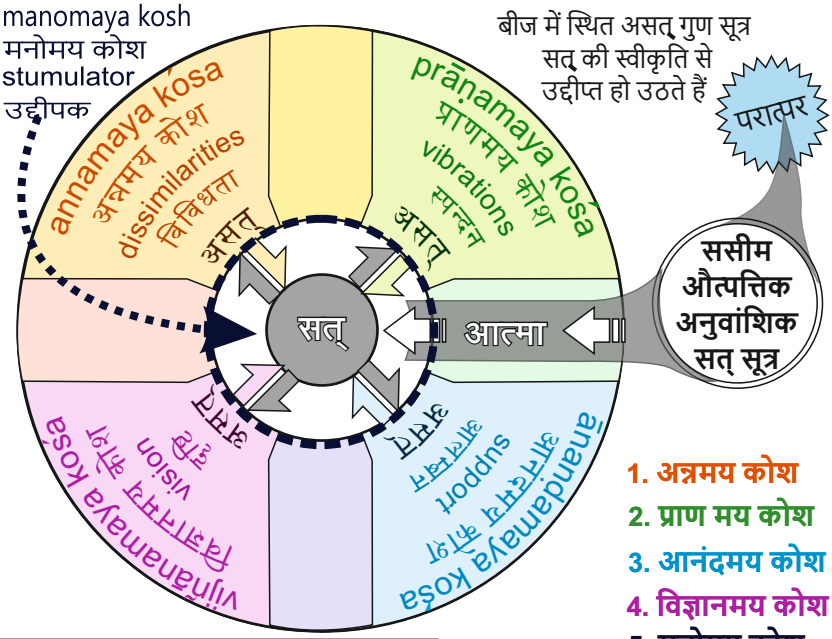

चित्र ५ - सत् द्वारा असत् की स्वीकृति

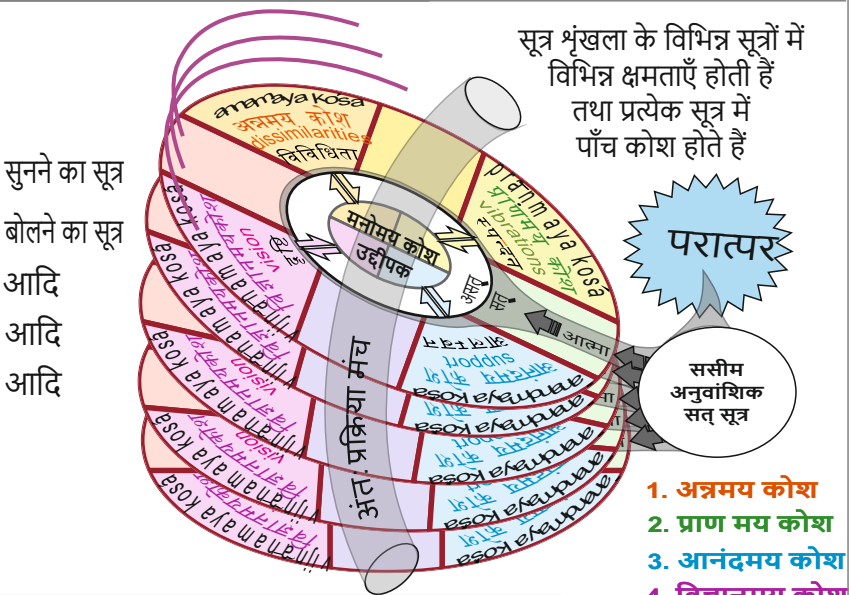

चित्र ६ - एक ही अव्यय पुरुष में अनेक सूत्र (केंद्रक)

ही सूत्र समुच्चय (गुणों) द्वारा चेतन तत्त्व का निर्वहन करती है। इस प्रकार आत्मा द्वारा संचालित इस जीवयुक्त इकाई को आत्म सत्ता कहा जाता है। प्रत्येक इकाई के अव्यय में अनेकानेक ओत्पत्तिक गुणसूत्र होते हैं, जो इकाई में विभिन्न क्षमताओं का कारण बनते हैं। दो विभिन्न इकाइयों में विभिन्न ओत्पत्तिक गुणसूत्र होने से विभिन्न क्षमताओं की उत्पत्ति होती है। क्षमताओं की विभिन्नताओं से विभिन्न जातियों (species) की उत्पत्ति होती है। उदाहरण के लिये सुनने की क्षमता का अलग सूत्र होगा तथा बोलने की क्षमता का अलग सूत्र होगा। सर्प जाति में सुनने की क्षमता का सूत्र नहीं है। मनुष्य जाति में उड़ने की क्षमता का सूत्र नहीं है। सब कुछ इकाई की ओत्पत्तिक क्षमता (अव्यय पुरुष) पर निर्भर है। (चित्र- 6)

यह अव्यय पुरुष किस प्रकार इकाई का संचालन करते हैं, यहाँ इसका वर्णन दिया गया है। अव्यय पुरुष जो कि अनगिनत ओत्पत्तिक सूत्रों से मिल कर बना है, जीवत्व के साथ एक अव्यय कोश बना लेता है। यह कोश इकाई के पाँच घटकों की अपेक्षा से पाँच प्रकार का हो जाता है। जिसके केन्द्र में मनोमय कोश है, जो उद्दीपक है। यही मनोमय कोश अन्नमय कोश से प्रत्यक्षता (बहुरूपी विवरण) को उद्दीप्त करता है। प्राणमय कोश से ऊर्जा (संवेग तीव्रता) को उद्दीप्त करता है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी प्रत्यक्षता तथा ऊर्जा दृश्य के दो प्रभाग हैं। किन्तु वेद इन दो के अतिरिक्त अन्य दो कोशों की भी चर्चा करता है। मनोमय कोश विज्ञानमय कोश से तार्किक शुद्धता को उद्दीप्त करता है, तथा आनंदमय कोश से सुदृढ़ विश्वास को उद्दीप्त करता है। प्रथम दो कोश प्रकृति से जुड़े हैं तथा अंतिम दो कोश पुरुष अर्थात् चेतना से जुड़े हैं। इस दृष्टि से देखें तो प्रत्येक इकाई के निर्माण में केवल द्रव्य तथा ऊर्जा का ही योगदान नहीं होता, अपितु चेतना का भी योगदान होता है। अत: कोई भी इकाई चेतना के बिना नहीं हो सकती - सर्वं खल्विदं ब्रह्म। विकास के क्रम में प्रकृति के विकास के साथ साथ चेतना का भी विकास होता है जो चित्र 1 में दिये गये विकास के पाँच स्तरों से स्पष्ट हो रहा है।

पञ्चकोश – प्रत्येक अव्यय पुरुष अनेकानेक सूत्रों से मिल कर बना है। पुन: प्रत्येक सूत्र पाँच कोशों से निर्मित हैं। जिन्हे हम 1. अन्नमय कोश, 2. प्राणमय कोश, 3. मनोमय कोश, 4. विज्ञानमय कोश, तथा 5. आनंदमय कोश कहते हैं। यह पञ्चकोशात्मकता पञ्चआयामी है अत: इनमें से एक भी कोश अनुपस्थित हो तो सूत्र का निर्माण नहीं होता। जब इकाई किसी संकेत का अधिग्रहण करती है, तो उपलब्ध व्यक्त संकेत पाँच अव्यक्त संकेतांशों में विभाजित हो जाता है। यह पाँच अंश हैं : 1. विविधता (diversity), 2. स्पंदन (vibrations), 3. उद्दीपन (stimulation), 4. विश्लेषक दृष्टि (vision), तथा 5. आलम्बन (support), जो क्रमश: पाँच कोशों (folders) में

रहते हैं। पांचों अव्यक्त संकेतांश एक दूसरे के विपरीत भी हैं तथा एक दूसरे के पूरक भी। संकेत का प्रत्येक अंश अपने तद्विषयक कोश में संगृहीत रहता है। इस प्रकार 1. अन्नमय कोश में विविधता, 2. प्राणमय कोश में स्पंदन, 3. मनोमय कोश में उद्दीपन, 4. विज्ञानमय कोश में विश्लेषक दृष्टि, तथा 5. आनंदमय कोश में आलम्बन संगृहीत हो जाते हैं - आनन्दा द्धयेवेमानि भूतानि जायन्ते.....। इनमें से प्रथम दो तथा अंतिम दो अंश सूत्र की विभिन्न क्षमताओं को परिभाषित करते हैं। तथा मध्य का मनोमयकोश अन्य चार में सह-सम्बन्ध बनाये रखता है, इसलिये वह किसी एक के उद्दीप्त होने पर बाकी सब को भी उद्दीप्त करता रहता है।

पञ्चकोश की प्रक्रियाएं – प्रत्येक ओत्पत्तिक गुणसूत्र में अपने अपने पञ्चकोश होते हैं तथा प्रत्येक गुणसूत्र अपनी अपनी प्रक्रियाएं करते हैं। लेकिन प्रदर्शन क्रिया में सभी का सम्मिलित रूप है। प्रत्येक ओत्पत्तिक गुणसूत्र तीन प्रकार की क्रियाएं करता है। 1. संकेत का अंतर्वाह (inflow of signal) – दूरस्थ उपलब्ध संकेत को सत्ता में अंतर्गमित करना। 2. संकेत का अन्योन्यक्रिया तथा संग्रहण (interaction and memorization of signal)। 3. संकेत का बहिर्गमन (outflow of signal) – सत्ता स्थित संकेतों को दूरस्थ इकाइयों में समर्पित करना। अंतश्चेतना में संकेत दो दिशाओं से आते हैं। प्रथम जो दूरस्थ उपलब्ध संकेतों का अंतर्वाह हो रहा है, तथा द्वितीय जो पूर्वसञ्चित संकेत जो हमारी स्मृति में रहते हैं। दोनों संकेतों की अन्योन्यक्रिया के फलस्वरूप बूझ का प्रादुर्भाव होता है। बूझ का जो निरंतर प्रादुर्भाव हो रहा है, उसकी एक प्रतिलिपि स्मृति में संगृहीत हो जाती है तथा दूसरी प्रतिलिपि बहिर्गमन के लिये प्रस्तुत हो जाती है। कोई भी प्रेक्षक इस प्रतिलिपि को संकेत रूप में प्राप्त कर सकता है, तथा दूरस्थ सत्ता उपलब्ध संकेत को अंतर्गमित कर सकता है। यह पञ्चकोश संकेत प्रवाह के लिये क्षेत्र का भी निर्माण करते हैं.

3.3 अक्षर पुरुष

अक्षर पुरुष का स्वरूप – अव्यय पुरुष केवल अस्तित्व की संरचनात्मकता के लिए जिम्मेदार है। यह केवल अस्तित्व की क्षमताओं और उसकी जाति (species) को परिभाषित करता है। इकाई बाहर से आने वाले अनेक असत् (माया; स्थूल; corpus) को अपनी जाति के अनुरूप अंगीकार कर अपने व्यक्तित्व (अहंकृति, प्रकृति, तथा आकृति का सम्मिलित रूप) का निर्माण करती है। यह व्यक्तित्व प्राणिक इकाई में देह के अवयव, मानसिक इकाई में मनोवृत्तियां, तथा बौद्धिक इकाई में अवधारित ज्ञान के रूप में दिखाई देता है। इकाई द्वारा सीखा हुआ यह व्यक्तित्व ही अक्षर पुरुष कहा जाता है। स्पष्ट तौर पर अव्यय पुरुष इकाई में 'क्षमता का गठन' है

और अक्षर पुरुष क्षमता के अनुप्रयोग द्वारा निर्मित 'व्यक्तित्व का गठन' है। यहाँ यह बात स्पष्ट है कि अक्षर पुरुष का व्यक्तित्व गठन अव्यय-सूत्रों की सीमाओं में ही होता है। यदि प्राणिक अव्यय सूत्रों के अंतर्गत हम उड़ नहीं सकते तो कितना भी प्रयास करें, हम उड़ना सीख नहीं सकेंगे। लेकिन यदि अव्यय सूत्रों के अंतर्गत हम तैर सकते तो हम तैरना सीख सकते हैं। तैरने के लिये सीखना आवश्यक है, जो कि हमारे अक्षर पुरुष (सीखे हुए व्यक्तित्व) का हिस्सा बनता है। तैरने की क्षमता अव्यय है, तैरना में प्रवीणता अक्षर है, तथा तैरना की क्रिया क्षर है।

यह सीखना क्या है? प्रत्येक इकाई बाहर से अंतर्गमित संकेतों (गुणात्मक, गत्यात्मक, तथा द्रव्यात्मक) को स्वीकार कर, स्व के पूर्वसञ्चित संकेतों के साथ सामंजस्य उत्पन्न कर, बोध उत्पन्न करती है। यह बोध ही हमारे व्यक्तित्व का हिस्सा बनता है। यह बोध पुन: पाँच अंशों (विविधता, स्पंदन, उद्दीपन, दृष्टि, तथा आलंबन) में विघटित होता है, तथा विघटित अंश-संकेत अव्यय कोशों की स्मृति में संगृहीत हो जाते हैं, जिसमें उनकी संबद्धता मनोमय कोश में संगृहीत रहती है। इस संबद्धता के कारण बोध विभाजित होने पर भी एक दूसरे से संबद्ध रहते हैं। यदि एक अंश-संकेत जो कि अव्यक्त है, मन:पटल पर आता है तो हमारि स्मृति की क्षमता के अनुसार अन्य संबंधित अंश-संकेत भी मन:पटल पर आकर संकेत को बूझ देते हैं। इस प्रकार यह बूझ हमारे वसु (स्मृति पटल) में स्थापित हो हमारे व्यक्तित्व का रूप ले लेता है। यह व्यक्तित्व ही हमारा अक्षर कहलाता है। अक्षर को सीखना तथा सीखे हुए को उपयोग में लेना अलग अलग प्रक्रियाएं हैं। उदाहरण के लिये जब हम कार चलाना सीखते हैं तो हमारा सारा ध्यान सीखने में होता है, उस समय हम कुछ और नहीं सोच सकते परंतु जैसे ही हम सीख जाते हैं, हम कार चलाते हुए दूसरा मानसिक काम भी कर सकते हैं। कार चलाने का काम अक्षर पुरुष ही करता है। यह 'सीखा हुआ' ही 'अक्षर ज्ञान' है। जो सीखा हुआ है, उसके तीन अविभाज्य हिस्से हैं। (चित्र 7)

(1) विद्यमानता एवं अविद्यमानता के मध्य जो विद्या प्राप्ति (सीखने) की इच्छा है, जो उद्दीपन है, वही अग्नि है। यह उद्दीप्तता ज्ञान (जिज्ञासा), क्रिया (उत्तेजना), तथा भोग (लालसा), तीनों के लिये हो सकती है। उसके फल स्वरूप जो संकेत का प्रवाह होता है, वही प्रवाह काल-आकाश के रूप में दिखाई देता है। यदि यह अग्नि जिज्ञासा है, तो यह जितनी प्रबल होती है, जिज्ञासु को 'काल और आकाश' अर्थात् 'ज्ञान प्राप्त करना' उतना ही अनुकूल प्रतीत होता है।

(2) यदि सीखने की जिज्ञासा अग्नि है तो सीखा जाता है वह सोम है। इस अग्नि-सोम को प्रजापति दक्ष का वाजपेय यज्ञ भी कहा जा सकता है। संकेत का प्रवाह आवृत्तिमय होता है। एक आवृत्ति में एक निमिष काल व्यय होता है। तथा उस आवृत्ति का प्रत्येक कालांश संकेतांश के नये नये पक्षों से परिचित कराता है। पूर्णिमा देव-प्राण का संकेत है तथा अमावस्या पितृ-प्राण का संकेत है।

अक्षर पुरुष
इकाई द्वारा सीखने की प्रक्रिया

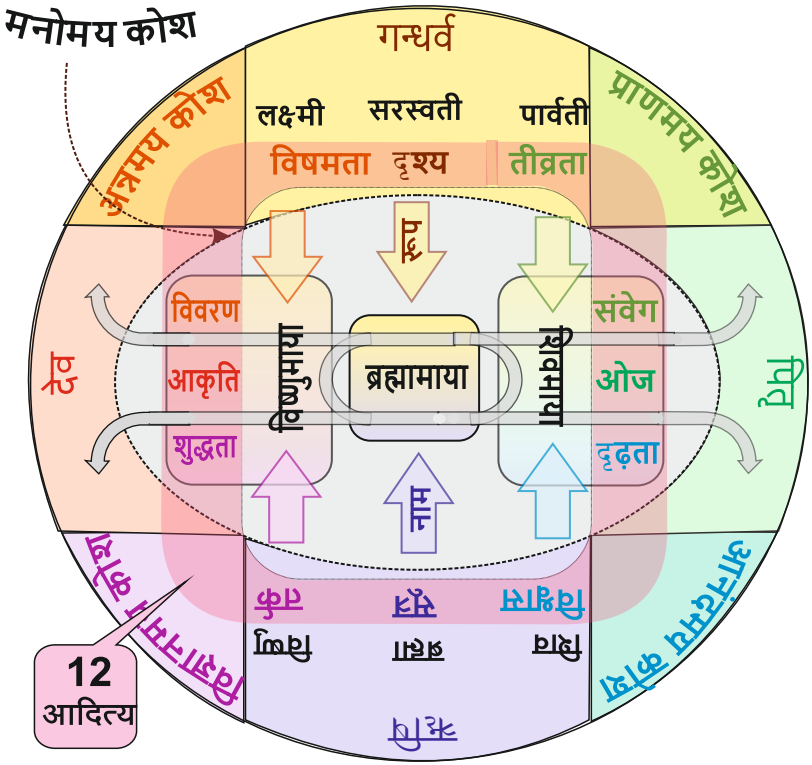

ब्रह्ममाया - दृश्य (रूप) और सूत्र (नाम) के संयोजन की संबद्धता का चारों कोशों में स्मृतिबद्ध होना

विष्णुमाया - विषमता और तर्क के संयोजन से उत्पन्न ज्ञेय भाव की संबद्धता का स्मृतिबद्ध होना

शिवमाया - तीव्रता और विश्वास के संयोजन से उत्पन्न क्रेय भाव की संबद्धता का स्मृतिबद्ध होना

चित्र ७ - अक्षर पुरुष का स्वरूप

शुक्ल-पक्ष तथा कृष्ण-पक्ष की अष्टमी क्रमश: रूप (राधा अष्टमी) (गन्धर्व-प्राण) तथा नाम (कृष्ण जन्माष्टमी)(ऋषि-प्राण) का संकेत है। यहाँ देव का अर्थ 'स्पष्टता या रस' से है तथा पितृ का अर्थ 'सुदृढ़ता या बल' से है। इस प्रकार एक ही आवृत्ति में संकेत के अनेकानेक अवयव उपलब्ध हो जाते हैं। सीखने वाला अपनी आन्तरिक आपोमयता अर्थात् ग्रहणशीलता के अनुसार विशिष्ट आवृत्तिमय संकेतों को आत्मसात् करता रहता है। सार भाव यह है कि संगृहीत अन्न (ज्ञेय) सोम के आवृत्तिमय रूप में विभिन्न संकेतों को उपलब्ध कराता है। जिसे सीखने वाला (द्रष्टा) अग्नि द्वारा आकाश-काल उत्पन्न कर अवशोषित कर लेता है। यह अवशोषित संकेत ही सीखा हुआ अक्षर है। पुनश्च यहाँ यह माना जा सकता है कि अग्नि सोम का भक्षण करता है। इसके लिये आकाश-काल अर्थात् धैर्य अपेक्षित है – धृति: निष्ठा सत्यम्।

(3) जो सीख है, जो सत्य अनुभूत हो रहा है, अर्थात् जो संकेत प्रवाहित हो रहा है, अर्थात् जो कुछ भी क्रिया उत्पन्न हो रही है, अंतर्गमन, अवगमन, तथा बहिर्गमन, वह 'इंद्र माया' कहलाती है। इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते - (ऋग्वेद) का अर्थ यह है कि इंद्र अपनी माया द्वारा अनेक रूप धारण कर लेता है। यह अनेक रूप तीन भागों में विभक्त हैं।

(3अ) ब्रह्मा माया - ब्रह्मा माया जीवन में नाम (तर्क, सूत्र, तथा विश्वास) (ब्रह्मा) और रूप (विषमता, संकेत, तथा तीव्रता) (सरस्वती) से संबद्धता की स्थापित सृष्टि है। ब्रह्मामाया हमारी सत्ता की आंतरिक दक्षता है, जो कि तीन दिशाओं में काम करती है – अंतर्गमन (स्मृति में स्थापित करना), स्वगमन (स्मृति को व्यवस्थित करना), बहिर्गमन (स्मृति में से याद आना)।

(3ब) विष्णुमाया - विष्णुमाया जीवन में तर्क (विष्णु) और विषमता (लक्ष्मी) की संबद्धता द्वारा विश्लेषित स्पष्टता लाती है। शुद्धता, आकृति, तथा विवरण में स्पष्टता विष्णुमाया है, यह भी तीन दिशाओं में काम करती है - अंतर्गमन (ज्ञेय को जानना), स्व-गमन (ज्ञेय का मनन करना), बहिर्गमन (ज्ञेय को व्यक्त करना)।

(3स) शिवमाया - शिवमाया जीवन में विश्वास (शिव) और तीव्रता (पार्वती) की संबद्धता द्वारा व्युत्पन्न शक्ति लाती है। संवेग, ओज, तथा दृढ़ता की व्युत्पन्नता शिवमाया है, यह भी तीन दिशाओं में काम करती है – अंतर्गमन (निडर बनना), स्व-गमन (निडरता अनुभव करना), बहिर्गमन (निडरता से क्रिया करना)। संदर्भ - कुमार सम्भव 5वाँ सर्ग।

हमारे प्रत्येक कृत्य में तीनों मायाओं का समावेश रहता है। ब्रह्मामाया कृत्य को अस्तित्व प्रदान करता है। विष्णुमाया उसमें ज्ञेयत्व का विधान करती है तथा शिव माया उसमें क्रेयत्व का विधान करती है। विष्णुमाया 'होश' है, तो शिवमाया 'जोश' है। विष्णुमाया 'कर्म की दिशा' है, तो

शिवमाया 'कर्म की गति' है। विष्णुमाया 'शुद्धता' है, तो शिवमाया 'दृढ़ता' है। विष्णुमाया 'विवरण' है, तो शिवमाया 'संवेग' है। विष्णुमाया 'विषमता' है, तो शिवमाया 'तीव्रता' है। विष्णुमाया 'विविधता' है, तो शिवमाया 'स्पंदन' है। विष्णुमाया 'तर्क' है, तो शिवमाया 'विश्वास' है। विष्णुमाया 'विवेचना' है, तो शिवमाया 'बल' है। मूल रूप से मायाओं के इस बोध को 12 कलाओं में बांटा जा सकता है, जिनको आदित्य कहा जाता है। ये कलायें हैं: शुद्धता (accuracy), आकृति (feature), विवरण (detail), विषमता (variability), संकेत (gesture), तीव्रता (intensity), संवेग (rapidity), ओज (power), दृढ़ता (firmness), विश्वास (belief), सूत्र (formulation), तथा तर्क (logic)। प्रत्येक सीख में इन 12 आदित्यों का समावेश होता है. ब्रह्मामाया द्वारा सबका सहसम्बन्ध हो जाता है, जिसको हम सीखना कहते हैं। यह सीखना स्मृतिबद्ध होने से अक्षर का निर्माण होता है। इस अक्षर को सीखना ही अक्षर पुरुष कहलाता है। सृष्टि के विभिन्न स्तरों में यह अक्षर पुरुष विभिन्न रूप में दिखाई देता है। प्राणिक स्तर पर यह निरंतर देह की अभ्यस्तता, मानसिक स्तर पर निरंतर संस्कारों का संचयन, तथा बौद्धिक स्तर पर निरंतर ज्ञान का अवधारण इसका उदाहरण है। जब हम कहते हैं कि 'प्याला पूरा भर गया', इसका तात्पर्य यह होता है कि हमारा अहं अक्षर से परिपूर्ण हो गया; उस स्थिति में नये ज्ञान को प्राप्त करना मुश्किल होता है। सामान्यतया बाल्यकाल में हम सीखते ही रहते हैं। जैसे जैसे प्याला भरता जाता है, सीखने की गति मध्यम होती जाती है, तथा हमारे 'करने' का आत्म बल बढ़ता जाता है। इस प्रकार हम कर्ता के भाव में आ जाते हैं। यहाँ इस चित्र संख्या 7 में 12 आदित्यों की व्याख्या हमने दी है। अन्नमय आदि कोश तथा देव आदि प्राणों की व्याख्या आगे दी जायेगी (देखिये चित्र 9,10), जो कि यह स्पष्ट करेंगे कि अव्यय किस प्रकार अक्षर के द्वारा क्षर को प्रवाहित करता है.

अक्षर पुरुष और प्राणिक इकाई (biological entity) – प्राणिक इकाई में बीज का निर्माण शुक्राणु तथा डिम्ब में स्थित विभिन्न ओत्पत्तिक सूत्रों के संयुक्तीकरण से होता है, संयुक्तीकरण की यात्रा में ओत्पत्तिक सूत्र पूर्णतया वंशानुगत नहीं होते हुए भी हमारे पूर्वजों से मिलते जुलते होते हैं। यह ओत्पत्तिक सूत्र अव्यय पुरुष कहलाते हैं। इन ओत्पत्तिक सूत्रों से हमारे अवयवों का निर्माण होता है। यह अवयव योग्यतानुसार संचालन सीखते हैं। इस सीखने की अभ्यस्तता को प्राणिक अक्षर कह रहे हैं। प्राणिक देह में तीनों प्रकार की, अर्थात् अंतर्गमन (सुनना, देखना आदि), बहिर्गमन (बोलना, करना आदि), तथा स्वगमन (अभ्यास आदि) के संचालन होते हैं। इस संचालन में जो प्रवीणता है, शुद्धता है, दिशात्मकता है, वह विष्णुमाया है। जो ऊर्जा है, बल है, मेहनत है, वह शिवमाया है। दोनों का सहसम्बन्धित होकर स्मृति में बदलना ब्रह्मामाया है। (चित्र 7)।

अक्षर पुरुष और मानसिक इकाई (psychological entity) – मानसिक इकाई में अक्षर पुरुष संस्कारों का सर्जन करता है। हमारे जो भी संस्कार होते हैं, मानसिक अव्यय की सीमा में ही होते हैं। प्रत्येक संस्कार में आभास (अनुभूत्यात्मक वैविध्यता) (ज्ञानाभास, कर्माभास, भोगाभास) की पूर्ती विष्णुमाया है, उन संस्कारों में उत्तेजना (अनुभूत्यात्मक तीव्रता) (ज्ञानोत्तेजना, कर्मोत्तेजना, भोगोत्तेजना) शिवमाया है, तथा उस संस्कारों का सहसम्बन्धित हो मानसिक देह में स्थापना ब्रह्मामाया है। यह संस्कार हमारी समस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को संचालित करते हैं, तथा स्वभाव कहलाते हैं। सामान्यतया संस्कारों का सर्जन बाल्यकाल की 5 वर्ष की आयु तक होता है। सर्प (रस्सी जैसा रूप) को देख कर एक विशेष आकार का ज्ञानाभास हुआ, पिता ने 'सर्प' बोला और भय (भोगोत्तेजना) का संचार कर दिया। भविष्य में जब भी हमारे अंदर भय व्याप्त होगा, और 'रस्सी जैसा रूप' दिखाई देगा, हम उसे सर्प ही समझेंगे। जब हम कहते हैं कि 'मन नहीं लगता', इसका मतलब है कि ज्ञान में, कर्म में या भोग में जिज्ञासा नहीं है। ज्ञान से भय हो तो डिस्लेक्सिया (dyslexia), कर्म में भय हो तो हकलाहट (stammering), तथा भोग में भय होने से उद्विग्नता (distraction) उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक मानसिक ज्ञेयता, क्रेयता, तथा भोग्यता में आभास तथा उत्तेजना का सहसम्बन्ध होता है।

आभास भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं तथा उत्तेजना भी अनेक प्रकार की हो सकती हैं। उपर्युक्त आभास तथा उत्तेजना के मध्य अनेक प्रकार के मनोवैज्ञानिक भाव उत्पन्न हो कर हमारी स्मृति में स्थान बना लेते हैं। इस प्रकार मानसिक व्यक्तित्व निर्मित हो जाता है। और यह मानसिक सीख ही हमारी मानसिक सृष्टि के अवयव कहलाने लगती हैं। क्यों कि यह बौद्धिक ज्ञेय की अपेक्षा असत् अवस्था है, इसको महामाया भी कहा जाता है। यह संस्कार न केवल प्राणिक देह को प्रभावित करते हैं अपितु बौद्धिक देह का आधार भी बनते हैं। बिना मानसिक आभास तथा उत्तेजना के कोई भी बौद्धिक यज्ञ उपलब्ध नहीं हो सकता।

अक्षर पुरुष और बौद्धिक इकाई (intellectual entity) – मानसिक सृष्टि के अनेक अवयवों में एक अवयव ऐसा होता है जो कि सम्पूर्ण मानसिक सृष्टि को संचालित करता है। जब यह अवयव अपने संचालन में किसी उच्चतर संस्था को स्वीकार कर लेता है तो हम उसे मनुष्य कहते हैं। यह उच्चतर संस्था बौद्धिक इकाई कहलाती है। बौद्धिक इकाई मनोवैज्ञानिक प्रतीकों की बौद्धिक व्याख्या करती है। इन व्याख्याओं को ही सत्य ज्ञान मान कर यह अक्षर पुरुष अनेक अवधारणाओं का सर्जन करता है।

हमारी मानसिक सृष्टि अपनी आभासित अनुभूतियों के तहत् अनेक प्रकार के प्रतीक हमारी बौद्धिक सृष्टि को प्रेषित करते रहती है। इनमें जो प्रतीक हमें उपयुक्त प्रतीत होता है, वही

ज्ञान के रूप में जुड़ जाता है। इस ज्ञान के दो भाग हैं: जानना तथा मानना। प्रत्येक ज्ञान में दोनों का होना आवश्यक है। ज्ञान में जो तार्किकता है वह जानने से तथा जो विश्वस्तता है, मानने से है। प्रत्येक अवधारणा में जानना (ज्ञान जानना, कर्म जानना, भोग जानना) विष्णुमाया है, उन अवधारणा में मानना (ज्ञान मानना, कर्म मानना, भोग मानना) शिवमाया है, तथा उन अवधारणाओं का सहसम्बन्धित हो बौद्धिक देह में स्थापना ब्रह्ममाया है। ये अवधारणाएं हमारी समस्त बौद्धिक प्रक्रिया को संचालित करती हैं। हमारी प्रत्येक अवधारणा किसी न किसी मनोभाव पर आधारित होती है, अत: सत्य की श्रेणी में नही आती, भ्रम ही कहलाती हैं। दर्शन कहता है कि हम वही जानते हैं जो जानना चाहते हैं, तथा वही जानना चाहते हैं जो पहले से ही जानते हैं। हम जो जान रहे हैं वह पूर्वसञ्चित अवधारणाओं का प्रत्यावर्तित या वैकल्पिक रूप ही होता है। फिर हम नया किस प्रकार जान पाते हैं? इसका कारण है ऋतम्भरा प्रज्ञा।

अक्षर पुरुष और ऋतम्भरा प्रज्ञा – बौद्धिक सृष्टि के अनेक अवयवों में एक अवयव ऐसा होता है जो कि सम्पूर्ण बौद्धिक सृष्टि को संचालित करता है। जब यह अवयव अपने संचालन में किसी उच्चतर संस्था को स्वीकार कर लेता है तो हम उस संस्था को अलौकिक कहते हैं। यह उच्चतर संस्था प्रज्ञ इकाई कहलाती है। प्रज्ञ इकाई को अवधारणाओं से मुक्त माना जाता है। प्रत्येक अवधारणा-मुक्त 'ज्ञेय' विष्णु है, तथा अवधारणा-मुक्त 'क्रेय' शिव है, तथा उन 'ज्ञेय' तथा 'क्रेय' का सहसम्बन्धित हो प्रज्ञान में स्थापित होना ब्रह्मा है। यह प्रज्ञा मात्र द्रष्टा भाव है जो बुद्धि को ज्ञान प्राप्त करते हुए तथा कार्य करते हुए देखता है और समय समय पर पथ-प्रदर्शन भी करता है। पौराणिक दृष्टि में इसे कृष्ण कहा जाता है। इसको माया से परे माना जाता है। वैष्णव दर्शन में कहीं कहीं इसे विष्णु भी कहा जाता है तथा नारायण भी कहा जाता है। हमारे अंदर जो आत्मा का मूल है, जो कि ब्रह्मांश है, जो कि कर्ता भाव तो नहीं होता वरन् द्रष्टा भाव तो होता ही है।

3.4 क्षर पुरुष

यहाँ तक हमने देखा कि किस प्रकार इकाई का उद्भव होता है, उस में गुणसूत्रात्मकता प्रकट होती है, वह क्रियान्विति सीखती है। आगे हम यह स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे कि वह इकाई किस प्रकार क्रिया करती है। किसी भी संकेत का दृश्य से द्रष्टा तक पहुँचना क्रिया कहलाता है। यह क्रिया गुणात्मक भी हो सकती है, गत्यात्मक भी हो सकती है तथा द्रव्यात्मक भी हो सकती है। प्रत्येक इकाई अव्यय पुरुष (a set of genetic code) द्वारा प्रदान की गई अपनी क्षमता के अनुसार, तथा अक्षर पुरुष (learned phenomenon) द्वारा सीखे हुए संस्कारों के अनुसार क्रिया (execution) करती है। क्रियाएँ तीन दिशाओं में होती हैं; (1) अंतर्गमन (inflow) (सुनने,

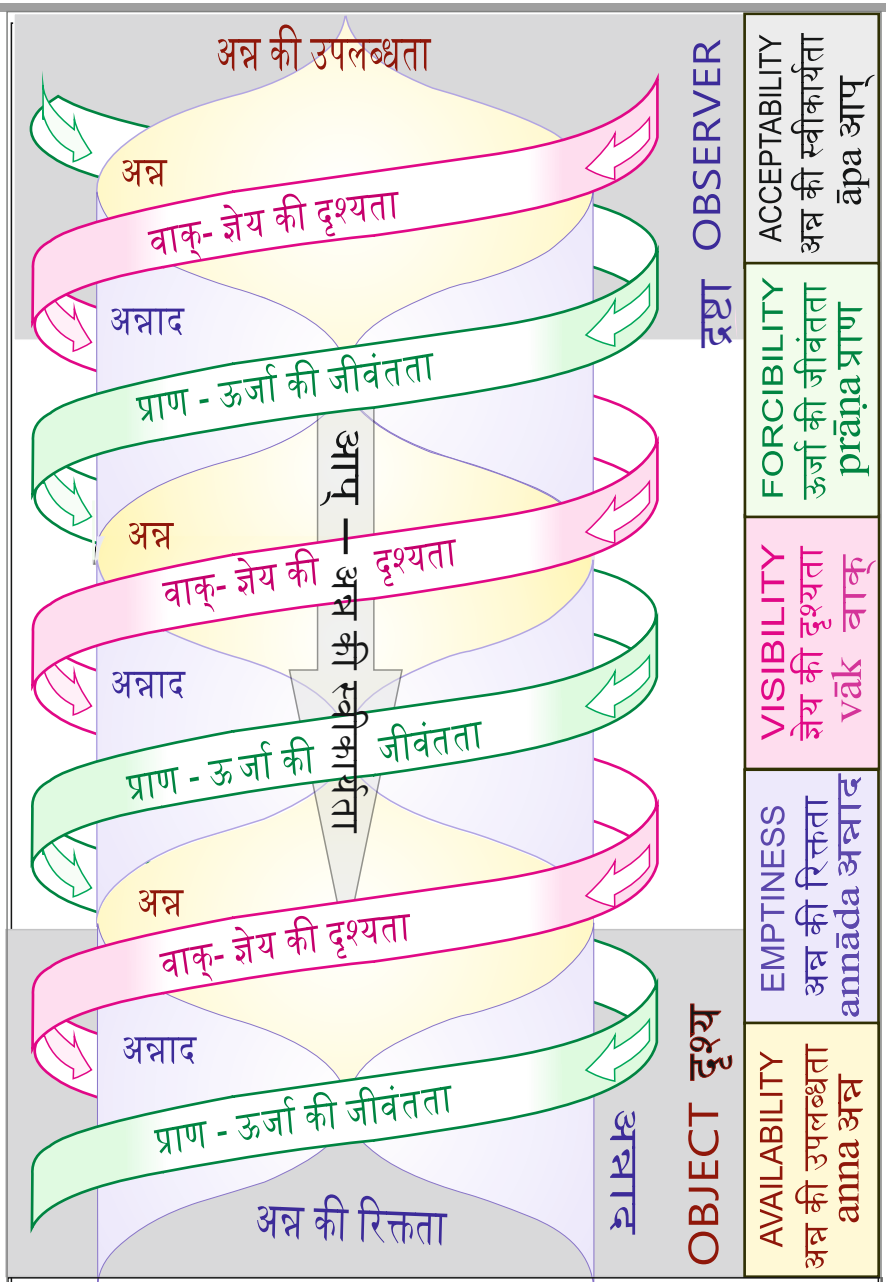

चित्र ८ - क्षर पुरुश का स्वरूप

देखने आदि), (2) बहिर्गमन (outflow) (बोलने, निष्पादित करने आदि) या (3) स्व-गमन (self-flow) (सोचने आदि)। इन क्रियायों से क्षर पुरुष फलित होता है। यह क्रियाएं, जो कि संकेतों द्वारा होती हैं, के पाँच विभाजन (कलाएं) हैं। कृपया चित्र संख्या 8 देखें। इन कलाओं का स्पष्ट उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में है – आपो वा इदं सर्वम्; प्राणो वा इदं सर्वम्; वाग्वा वा इदं सर्वम्; अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च (शतपथ ब्राह्मण 11/1/6/16 से 19)

अन्न – प्रत्येक इकाई के आकाश में कुछ (न होने में नकारात्मकता' (नेति न)) होने को अन्न कहा गया है। अर्थात् क्रिया के प्रवाह के लिये आकाश में जो भी 'कुछ' उपलब्ध है, उसे अन्न कहा गया है। यहाँ 'कुछ' का कोई प्रारूप नहीं है, अत: उपलब्ध विद्यमानता के परिमाण को ही 'अन्न' कहना उचित होगा। वैसे इस अन्न की गुणवत्ता प्राण तथा वाक् में निहित रहती है, जो कि क्षर पुरुष की तीसरी और चौथी कला है।

अन्नाद – प्रत्येक इकाई में स्थित आकाश किसी एक संदर्भ में खाली, तथा उसके विपरीत संदर्भ में भरा हुआ होता है। जो खालीपन है, उसे हम 'अन्नाद' कह रहे हैं, तथा जो सघनता है, उसे हम 'अन्न' कह रहे हैं। यह अन्नाद का खालीपन एक 'अंन्तर्गमित तरंग (Inflow wave)' उत्पन्न करता है जो कि भरेपन में से अन्न को पकड़ कर अंतर्वाहित करता है। मात्र 'खालीपन' कहने मात्र से अन्नाद स्पष्ट नहीं होता। यह अन्न की रिक्तता नहीं वरन अन्न की ऋणात्मकता है. यह परिभाषा अगोचर प्रतीत होती है, क्यों कि हम किसी भी वस्तु को उसकी मात्रा से बोध करते हैं.

प्राण – यह आकाश में वह अवकाश / क्षेत्र है, जो कि संकेत के प्रवाह में जीवन्तता को अवकाश प्रदान करता है। इस प्रवाहित जीवंतता को यहाँ 'प्राण क्षर' कहा गया है। यहाँ प्राण की गुणवत्ता को ही संकेत किया जा रहा है, प्राण का परिमाण तो 'अन्न' में ही सन्निहित है। यहाँ प्राण के दो ध्रुव हैं; उपलब्ध अस्थिरता (अन्न) तथा उपलब्ध स्थिरता (अन्नाद), दोनों के मध्य जीवंतता (प्राण) का उदय होता है।

वाक् – यह आकाश में चेतना के लिये वह अवकाश / क्षेत्र है, जो संकेत के प्रवाह में दृश्यता को अवकाश प्रदान करता है। इस प्रवाहित दृश्यता को यहाँ 'वाक् क्षर' कहा गया है। यहाँ वाक् की गुणवत्ता को ही संकेत किया जा रहा है, वाक् का परिमाण तो 'अन्न' में ही सन्निहित है। यहाँ वाक् के दो ध्रुव हैं; वैविध्यता की प्रदीपन (अन्न) तथा अनासक्त श्यामत्व (अन्नाद), दोनों के मध्य ज्ञेय दृश्यता (वाक्) का उदय होता है। इस प्रकार अन्न अन्नाद को प्राण क्षर के माध्यम से जीवंतता प्रदान करता है तथा वाक् क्षर के माध्यम से दृश्यता प्रदान करता है। अन्न की गुणवत्ता

अस्थिरता तथा प्रदीपन में निहित है, तथा अन्नाद की गुणवत्ता में स्थिरता तथा श्यामत्व में निहित है।

आप् – हम यह जानते हैं कि 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्', अर्थात् यदि द्रष्टा (अन्नाद) में दृश्य (अन्न) के प्रति श्रद्धा नहीं है, तो संकेत का प्रवाह नहीं होगा। इसलिये आप: का एक नाम श्रद्धा भी है। 'द्रष्टा' में 'अन्नाद' व 'दृश्य' में 'अन्न' होने मात्र से अंतर्वाह तरंग सम्भव नहीं है। इसके लिये द्रष्टा और दृश्य के मध्य स्वीकार्यता अनिवार्य है। यह स्वीकार्यता परम व्योम कहलाती है, तथा आकाश तथा काल का मूल है। परम व्योम स्वीकार्यता के अंतर्गत अन्य चार क्षेत्रों को उत्पन्न करता है। परम व्योम आकाश प्रदान करता है तथा उस आकाश में अन्नाद प्रवाह के लिये काल को स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार काल तथा आकाश दोनों ही प्रवाह के अभिन्न अंग हैं, तथा प्रत्येक इकाई के काल-आकाश निजी ही होते हैं।

किसी भी इकाई में किसी एक भाव के प्रति स्वीकार्यता तथा किसी दूसरे भाव के प्रति अस्वीकार्यता हो सकती है। मनोवैज्ञानिक दुनियां में यह समस्या बहुतायत में दिखाई देती है। हमें किसी से प्रेम नहीं है तो हम उसकी भावनाओं को समझ ही नहीं पाते। इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि उसकी भावनाओं को समझने के लिये हमारे पास काल-आकाश उपलब्ध नहीं होता। प्रसंगवश यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि क्षर पुरुष की पाँच कलाओं में प्राण-वाक् के साथ अन्न सोम का ही रूप है, प्राण-वाक् के साथ अन्नाद अग्नि का ही रूप है, सोम का निरंतर अग्नि में क्षरण आप् द्वारा उपलब्ध आकाश-काल में ही होता है।

यहां यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि ब्रह्म के मूल में जो 'एकोहं बहुस्याम' की जो स्व-प्रस्फुटित भावना है, उसके कारण ही द्रष्टा अग्नि उत्पन्न कर सोम का भक्षण करने लगता है। प्रत्येक इकाई में विकास की चाह है, तथा इसी चाह के कारण जीवन में गति उत्पन्न होती है। तथा इस गति मे लिये ही काल उत्पन्न होता है। पशुओं में बौद्धिक काल नहीं होता, वनस्पति में मानसिक काल नही होता, उसी प्रकार भौतिक पदार्थों में जैविक काल नहीं होता। हम जिस काल की चर्चा करते हैं वह मनोवैज्ञानिक जीवन में मनोवैज्ञानिक काल की चर्चा करते हैं , तथा वैज्ञानिक भौतिक काल की चर्चा करते हैं।

वेद कहते हैं – ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् अधिदेवा: निषेदु:। यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य एतद्विदु: त उ समासते।। अर्थात् ऋचा के अक्षर में परमव्योम में सारे देव अवस्थित हैं। जो उसे नहीं जानता ऋचा उसका क्या कर सकती है अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकती; जो इसे जानता है वही समाहित हो जाता है। सार यह है कि अक्षर (व्यक्त होते ज्ञेय) के सभी विषय (देव) आकाश

(परमव्योम) में व्याप्त हैं। क्यों कि परमव्योम से ही चार अवकाश प्रकट होते हैं जो कि ज्ञेय के प्रवाह का साधन बनते हैं। इस व्यवस्था को जानने वाला स्वयं द्रष्टा में समाहित हो जाता है

उपर्युक्त प्रकरण में अनेक तथ्य स्थापित होते हैं। सम्पूर्ण प्रक्रिया यह स्पष्ट करती है कि 'आप्' (श्रद्धा भाव) द्रष्टा में निहित रहता है। द्रष्टा का 'अन्नाद' आप् के द्वारा परमव्योम में अंतर्गमित काल-आकाश उत्पन्न करता है, जो कि अंतर्वाह वाहक तरंग के रूप में उत्सर्जक में से उपलब्ध अन्न की मात्रा को पकड़ लेती है। इस प्रकार हम अन्न-अन्नाद के मध्य एक तरंग को प्राप्त करते हैं। जिसे हम 'मात्रा तरंग' (quantum wave) कह रहे हैं। जो संकेत पकड़ा जाता है, वह भी वाक्-प्राण से बनने वाली छवि है। वाक् रूपी ज्ञान भाव, तथा प्राण रूपी शक्ति भाव। दोनों से निर्मित जो छवि बन रही है, उसे बोध तरंग (sense wave) कह रहे हैं। इस प्रकार काल तरंग और बोध तरंग एक दूसरे के पूरक हैं तथा मिला कर क्रिया का वहन करते हैं।

बृहज्जाबालोपनिषद् का कहना है कि जगत् अग्नि-सोमात्मक है – **अग्निषोमात्मकं जगत्।** अग्नि अन्न को स्वीकार करती है जिस स्वीकार्यता को आप् कहते हैं – **आप्नोति**। तथा अन्नाद में जो रिक्तता है उसकी पूर्ति करती है। जो अन्न अग्नि में स्वीकृत होता है उसमें दृश्यता, ऊर्जा, तथा परिमाण विशेष रहते हैं जिन्हें क्रमश: 'वाक्', प्राण, तथा अन्न कहा जाता है। इस प्रकार क्षर की पाँच कलाएं हो जाती हैं। ये क्षर इसलिए कहलाते हैं कि अन्न के अन्नाद तक क्षरण की प्रक्रिया के पाँच अंग हैं। जैसा कि हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं कि इस सृष्टि में अनेक स्तर हैं। अद्वैत के अनुसार प्रत्येक स्तर पर क्रिया का चलन समान रूप से होता है। अत: हम क्षर प्रक्रिया के चार स्तरों; भौतिक स्तर, प्राणिक स्तर, मानसिक स्तर, तथा बौद्धिक स्तर में व्याख्याहित कर सकते हैं।

इन्द्रियाणि पराण्याहु: इन्द्रियेभ्य: परं मन: ।
मनसस्तु परा बुद्धि: यो बुद्धे: परतस्तु स: ॥ - गीता ३-४२

4.0 इकाई का बोध व्यापार: ३३ कोटि देवता

अभी तक जो भी विवेचना की गयी है वह इकाई की संरचना तथा उसके उद्भव को स्पष्ट करती है। इकाई की आंतरिक संरचना जिसके कारण इकाई जीवित हो उठती है, वह है उसका अस्तित्व। पदार्थ की प्रत्येक क्रिया का कारण उसके अस्तित्व में निहित है और अस्तित्व ही ब्रह्म है। उपनिषद् कहते हैं – अस्ति इति एव उपलब्धव्य: - कठोपनिषद्; अर्थात् उसे "है" (अस्ति) इस

रूप में ही उपलब्ध करना चाहिये। ऊपर हमने स्पष्ट किया है कि यह अस्तित्व षोडशी पुरुष है, जिसमें 1 परात्पर, 5 अव्यय, 5 अक्षर, तथा 5 क्षर पुरुष हैं। प्रत्येक इकाई में जो जातीय विभिन्नता है, वह परात्पर प्रदत्त ओत्पत्तिक सूत्रों के समूहों में वैविध्यता के कारण हैं। अर्थात् प्रत्येक इकाई अनेक ओत्पत्तिक सूत्रों का समूह है, अत: सूत्र विभिन्नता के कारण इकाई भी भिन्न भिन्न प्रकार की हो जाती है। प्रत्येक सूत्र किसी गुण विशेष का प्रतिनिधित्व करता है। यह गुण सूत्र इकाई में किस प्रकार प्रकट होते हैं? दर्शन कहता है कि प्रत्येक सूत्र के पाँच समकोणिक प्रभाग होते हैं, जिन्हें पाँच कोश कहा जाता हैं। यह इकाई की प्रवृत्यात्मक संभाव्यताओं को दर्शाते हैं। प्रत्येक इकाई अपनी प्रवृत्ति की संभाव्यताओं की सीमा में दक्षता प्राप्त कर अपने कोशों में संकेतांशों का संग्रह करती है, इसे अक्षर कहा जाता है। प्रत्येक अक्षर अपने पाँच प्रभागों द्वारा सीखता तथा क्रिया करता है। इस क्रिया के पाँच अंग होते हैं जिन्हें क्षर पुरुष कहा गया है। अब नीचे यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि यह षोडश पुरुष किस प्रकार जीवन के कार्य कलाप करता है। यह कार्य कलाप चार प्रभागों में होते हैं। 1. संकेतों का बोध; 2. संकेतों का प्रवाह; 3. संकेतों का संग्रहण; 4. संकेतों की निरंतरता।

4.1 बोध व्यापार के प्रकार

संकेत का बोध (sensing of the signal) – बाहर से आने वाले संकेतों तथा पूर्वधारित संकेतों के मध्य अंत:प्रक्रिया के फलस्वरूप नये संकेतों (बूझ) का प्रादुर्भाव करना इकाई के जीवित होने की पहली शर्त है। यह पूर्व संकेत या नये संकेत जो भी हैं, उनका स्वरूप निर्धारण करना इकाई में स्थित जीवन का ही काम है। यह संकेतों का स्वरूप दर्शन हमें 12 कारकों द्वारा होता है। इन 12 कारकों को 12 आदित्य कहा जाता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि संकेत तीनों दिशाओं में प्रवाहित हो सकते हैं जिन्हें हम ज्ञानात्मक (inflow), क्रियात्मक (outflow), तथा भोगात्मक (self-flow) कहते हैं।

संकेत प्रवाह (flow of signal) – संकेत कोई भी हो, बिना प्रवाह के न तो अंदर आ सकता है और न बाहर जा सकता है। जिन कारकों के जरिये यह प्रवाह सम्भव हो पाता है, उन्हें हम 11 रुद्र कहते हैं। यह किसी इकाई के जीवित होने की दूसरी शर्त है।

संकेत संग्रहण (memorizing the signal) – प्रत्येक इकाई अनेकानेक स्मृतियों को बनाये रखती है। इन स्मृतियों के अनेक स्तर हैं जिन्हें हम 8 वसुओं के रूप में जानते हैं। यह किसी इकाई के जीवित होने की तीसरी शर्त है।

प्रवाह निरंतरता (continuity in signal) – प्रत्येक इकाई के जीवन में एक निरंतरता होती है। यह निरंतरता 2 अश्विनी कुमारों के कारण होती है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म, तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । संभव: सर्वभूतानां, ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय, मूर्त्तय: संभवन्ति या: । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता॥ –गीता १४।३-४
इति सतुतासो असया रिशादसो ये स्था त्रयश्च मनोर्देवा यज्ञियास: ------- ऋग्वेद ८।३०।२

4.2 इकाई में संकेत का बोध (12 आदित्य)

प्रत्येक इकाई अनगिनत ओत्पत्तिक गुणसूत्रों का समन्वय है। प्रत्येक गुणसूत्र एक विशिष्ट गुण को प्रतिनिधित्व करता है। इस गुण की प्रयोज्यता सूत्र के पाँच कोशों में सन्निहित है। यह पाँच कोश अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, तथा आनंदमय कोश कहे जाते हैं। प्रत्येक गुण पाँच अंशों से मिल कर बना है तथा गुण से सम्बंधित पांचों अंश इन पांचों कोशों में रहते हैं। यह कोश त्रिमुखी (प्राप्त करता, संग्रहण करता, उपलब्ध कराता) होते हैं। जब भी उस गुण विशेष से सम्बंधित कोई संकेत इकाई में आता है तो वह संकेत पाँच संकेतांशों में विभाजित हो अव्यक्त हो जाता है तथा यह संकेतांश पांचों कोशों में संगृहीत हो जाते हैं। इस प्रकार इन कोशों में अनगिनत संकेत आते रहते हैं। जिसे हम जानना कहते हैं। जाने हुए में विषमता उत्पन्न होने पर अनेक संकेतांश मन:पटल में उपस्थित हो कर नये नये बोधों का सर्जन करते रहते है, इसे सोचना कहते हैं। इस प्रक्रिया में (1) अन्नमयकोश से अव्यक्त विविधता आती है जो कि व्यक्ताव्यक्त विषमता तथा विवरण उत्पन्न करती है; (2) प्राणमय कोश से अव्यक्त स्पंदन आते हैं जो कि व्यक्ताव्यक्त तीव्रता तथा संवेग उत्पन्न कर देते हैं। (3) आनंदमयकोश से अव्यक्त आलम्बन आता है जो कि व्यक्ताव्यक्त दृढ़ता तथा विश्वास उत्पन्न कर देते हैं। (4) विज्ञानमयकोश से अव्यक्त दृष्टि आती है जो कि व्यक्ताव्यक्त शुद्धता तथा तर्क उत्पन्न कर देती है। तथा मनोमय कोश से उद्दीपन आता है। यह उद्दीपन मन:पटल को उद्दीप्त कर सभी आठों व्यक्ताव्यक्त कारकों (अष्ट-कमल) में अंत:प्रक्रिया उत्पन्न देता है, जिससे विभिन्न समीकरणों के द्वारा विभिन्न व्यक्तोन्मुख प्राणों का निर्माण हो जाता है। चार प्रकार के प्राण हैं : देव प्राण (शुद्धता, आकृति, विवरण), गंधर्व प्राण (विषमता, संकेत, तीव्रता), पितृ प्राण (संवेग, ओज, दृढ़ता), तथा ऋषि प्राण (विश्वास, सूत्र, तर्क)। असुर प्राण बाकी चारों में मात्रा प्रदान करता है. इस प्रकार इन प्राणों के 12 अंश प्रकाशित हो जाते हैं। यह 12 अंश आदित्य कहलाते हैं। प्रत्येक संकेत में उपर्युक्त सभी 12 आदित्य कम या ज्यादा की मात्रा में हो सकते हैं। और इनकी मात्रात्मक विविधता से ही संकेत का स्वरूप प्रकट होता है। यह 12 आदित्य कहाँ से प्रकट होते हैं? यह स्पष्ट किया जा रहा है।

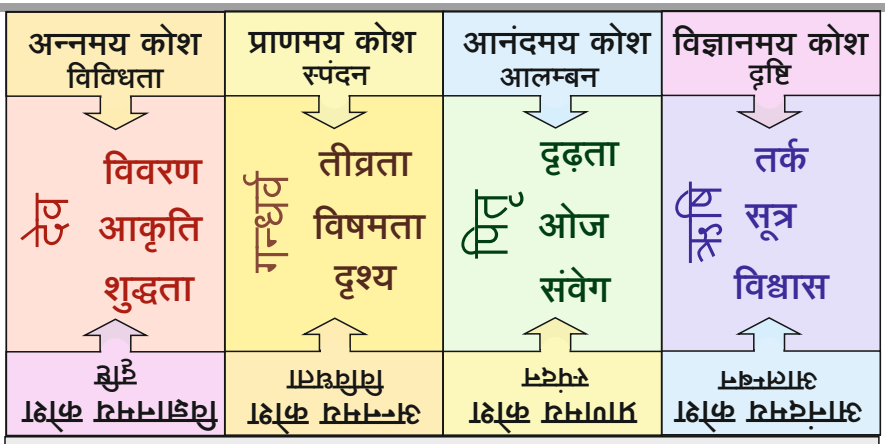

चित्र ९ - विभिन्न प्राणों का उदय

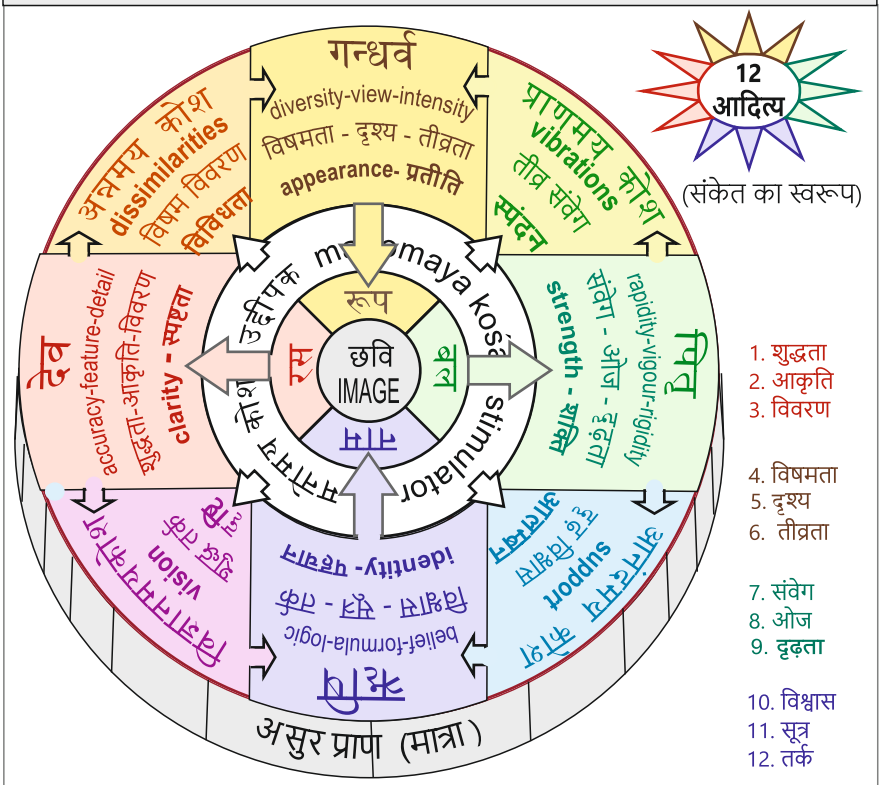

चित्र १० - इकाई में संकेत का सर्जन

देव प्राण - अन्नमय कोश (विविधता) व विज्ञानमय कोश (दृष्टि) के अंश संकेतों के मध्य जो प्रक्रिया होती है, उसके फलस्वरूप संकेत की 'स्पष्टता' का उदय होता है। अन्नमयता के प्रभाव से 'विवरण', विज्ञानमयता के प्रभाव से 'शुद्धता', तथा दोनों के संयोग से 'आकृति' स्पष्ट होती है। इस प्रकार छवि में स्थित 'शुद्धता', 'आकृति', तथा 'विवरण' की स्पष्टता को हम देव प्राण कह सकते हैं। एक आकृति अनेक शुद्धताओं तथा अनेक विवरणों से मिल कर बनती है।

जब हम वायु देवता कहते हैं, तो इसका तात्पर्य है कि हम वायु तत्त्व की स्पष्टता की बात कर रहे हैं। जब हम अग्नि देवता कहते हैं, तो इसका तात्पर्य है कि हम अग्नि तत्त्व की स्पष्टता की बात कर रहे हैं। यह कहा जाता है कि सूर्य हमारे लिए गौ उपलब्ध करा रहा है, और सभी देवता गौ की देह में स्थित हैं, इस वाक्यांश का अर्थ है "विज्ञानमय कोश चेतना उपलब्ध करा रहा है", और सभी 'स्पष्टताएं' (देव प्राण) चेतनाओं (गौ; स्पष्टता की स्वीकार्यता) में स्थित हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना अनिवार्य है कि मात्र स्पष्टता से छवि का सर्जन नहीं हो सकता। क्यों कि यह व्यक्ताव्यक्त हैं, व्यक्त नहीं है। 'ओज' के अभाव में 'स्पष्टता' का अर्थ है जैसे बिना स्याही (आत्म बल) के आकृति (क्रिया) बनाना, जो कि मात्र कल्पना है। बिना पितृप्राण के देवप्राण व्यक्त नहीं हो सकता।

तस्मादश्वाऽअजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः।।8।। -- यजुर्वेद - अथैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः (पुरुष-सूक्तम्)

पितृ प्राण - प्राणमय कोश (स्पंदन) व आनंदमय कोश (आलम्बन) के अंश संकेतों के मध्य जो प्रक्रिया होती है, उसके फलस्वरूप शक्ति की व्युत्पत्ति होती है। प्राणमयता के प्रभाव से 'संवेग', आनन्दमयता के प्रभाव से 'दृढ़ता', तथा दोनों के संयोग से 'ओज' व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार छवि में स्थित 'संवेग', 'ओज' तथा 'दृढ़ता' के शक्तियुग्म को हम पितृप्राण कह सकते हैं। यह 'आशीर्वाद' तत्त्व है, तथा हमारे जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। यह हमारे आंतरिक भय को समाप्त कर सुरक्षा प्रदान करता है। यदि बाल्यकाल में किसी बच्चे को माता-पिता का आलम्बन प्राप्त हो जाता है तो वह आलम्बन उसके उपचेतन में 'आशीर्वाद' के रूप में पितृ प्राण बन कर संगृहीत हो जाता है। बचपन के बाद, जब वह वयस्क होता है, तो वही पितृ प्राण उसे चिंता व भय से बचाता है। यदि वह अपने भय का सामना नहीं पाता, तो वह एक मूर्ति की पूजा करता है, जहां मूर्ति को परोक्ष रूप में परमपिता मान लेता है। परमपिता, अर्थात् अवचेतन में स्थित पिता के 'आशीर्वाद' की अनुभूति, जिसके द्वारा वह अपने वर्तमान भय को दूर करने का प्रयास करता है। 'स्पष्टता (देव प्राण)' के अभाव में 'शक्ति (पितृ प्राण)' का अर्थ है जैसे बिना दिशा के बल प्रयोग, जो कि सम्भव नहीं है। यहाँ 'शक्ति' का अर्थ है स्पंदनों की एकलयता। पितृ प्राण को आत्मबल भी कहा जाता है।

परमपिता, अर्थात् उपचेतन में स्थित पिता के 'आशीर्वाद' की अनुभूति, जिसके द्वारा वह अपने वर्तमान भय को दूर करने का प्रयास करता है। 'स्पष्टता (देव प्राण)' के अभाव में 'शक्ति (पितृ प्राण)' का अर्थ है जैसे बिना दिशा के बल प्रयोग, जो कि सम्भव नहीं है। यहाँ 'शक्ति' का अर्थ है स्पंदनों की एकलयता। देव प्राण को आत्मरस और पितृ प्राण को आत्मबल भी कहा जाता है।

गन्धर्व प्राण - अन्नमय कोश (विविधता) व प्राणमय कोश (स्पंदन) के अंश संकेतों के मध्य जो प्रक्रिया होती है, उसके फलस्वरूप एक प्रतीति की प्रस्तुति होती है। अन्नमयता के प्रभाव से 'विषमता', प्राणमयता के प्रभाव से 'तीव्रता', तथा दोनों के संयोग से 'दृश्य' प्रस्तुत होता है। इस प्रकार गंधर्व प्राण को हम 'विषमता', 'दृश्य', व 'तीव्रता' का प्रस्तुतीकरण कह सकते हैं। यहाँ प्रतीति अस्थापित व अव्यवस्थित है। कोई भी प्रतीति हो, ऋषि के अंगीकरण के अभाव में वह अपनी पहचान को प्राप्त नहीं हो सकती। व्यावहारिक जीवन में गन्धर्व भाव प्रदर्शन को कहते हैं। प्रत्येक प्रदर्शन गुण, गति, तथा द्रव्य के भावों का समुच्चय होते हैं। संगीत, रंग, खेल, और सुंदरता, अनेक प्रकार के भाव होते हैं। सचिन तेंदुलकर क्रिकेट सितारा (star) है, अमिताभ बच्चन अभिनय सितारा (star) है, ए आर रहमान संगीत सितारा (star) है। यह हमारे समय के सभी महान् गन्धर्व हैं। आकाश में चमकने वाला सूर्य भी एक सितारा है, भौतिक गन्धर्व है, जो ऊर्जा, तीव्रता, भाव, दृश्यता, व विविधता, सबको प्रदर्शित करता है। और, पृथ्वी की भौतिक इकाइयां ऋषि भाव से उस सूर्य के प्रदर्शन को अङ्गीकार करती हैं।

ऋषि प्राण – विज्ञानमय कोश (दृष्टि) व आनंदमय कोश (आलम्बन) के अंश संकेतों के मध्य जो प्रक्रिया होती है, उसके फलस्वरूप एक नाम (पहचान) का स्थापन होता है, विज्ञानमयता के प्रभाव से 'तर्क', आनंदमयता के प्रभाव से 'विश्वास', तथा दोनों के संयोग से 'सूत्र' प्रस्तुत होता है। इस प्रकार ऋषि प्रतीति (रूप; विषमता-दृश्य-तीव्रता) को पहचान (नाम; तर्क-सूत्र-विश्वास) प्रदान करता है। गंधर्व द्वारा उत्सर्जित संकेत में से तर्क तथा विश्वास के आधार पर सत्य को जानना ऋषि का काम है। व्यावहारिक रूप से ऋषि प्राण जीवन में आचार संहिता, दिशानिर्देश, नैतिकता, पहचान और धर्म प्रदान करता है।

असुर प्राण – इस प्रकार चार प्राणों से हमें 12 आदित्यों (शुद्धता, आकृति, विवरण, विषमता, दृश्य, तीव्रता, संवेग, ओज, दृढ़ता, विश्वास, सूत्र, तथा, तर्क) का स्पष्ट होता है। असुर का अर्थ है 12 आदित्यों का अभाव, अर्थात् विषय का अभाव। जो संज्ञा विषय को प्रदर्शित नहीं करती, वह परिमाण का संकेत देती है। एक आवृत्ति में सभी आदित्य असमान रूप से परिमाण प्राप्त

करते हैं, जिससे संकेत में विविधता उत्पन्न होती है। 'विश्वास' का परिमाण ज्यादा होने से शौर्य अधिक होगा, 'तर्क' का परिमाण ज्यादा होने से बुद्धि अधिक होगी। यह परिमाण ही असुर प्राण है।

परिमाण के अभाव में कुछ भी प्रकट नहीं हो सकता। सचिन तेंदुलकर क्रिकेट बहुत अच्छा खेल सकते हैं, लेकिन अगर खेलने का परिमाण शून्य है, तो कोई उद्देश्य नहीं है। भारतीय पौराणिक कथाओं में, असुर शब्द का उपयोग नकारात्मक पहलू में किया जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि भारतीय पौराणिक कथाओं में, गुणवत्ता महत्त्वपूर्ण हैं न कि परिमाण। हम जीवन को परिमाण के साथ नहीं जीना चाहते हैं, हम जीवन को गुणवत्ता के साथ जीना चाहते हैं। उदाहरण के लिये जब हम गेहूं की बात कर रहे होते हैं को गेहूं की तात्विक विवेचना करेगें, गेहूं कितने किलो है, यह चर्चा नहीं होगी।

समन्वय - इस प्रकार प्रत्येक संकेत स्पष्टता (देव), बल (पितृ), प्रतीति (गंधर्व), पहचान (ऋषि), तथा मात्रा (असुर) के द्वारा निर्मित होता है, इनमें एक भी अनुपस्थित हो जाये तो संकेत व्यक्त नहीं हो सकता। इस प्रकार यह पाँचों प्राण इकाई में अनेकानेक संकेतों का निर्माण करते है। यह संकेत जो कि व्यक्त हैं, बोध (perception) के उपरांत पुन: विघटित हो जाते हैं। विघटित होते ही सारे संकेत अव्यक्त हो जाते हैं। यह विघटित संकेतांश पुन: तद्विषयक अव्यय कोशों में स्मृतिबद्ध हो जाते हैं या/और बाह्य-उत्सर्जन के लिये प्रस्तुत हो जाते हैं। स्मृतिकोशों में निरंतर संग्रहण से अक्षर पुरुष स्थापित होता जाता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि स्मृतियों में जो भी संकेत संगृहीत हो रहे हैं, वह इकाई के संदर्भ मे असत् हैं, तथा माया हैं। इस प्रकार अक्षर पुरुष माया से ही निर्मित माना जाता है।

एक शिशु में बहिर्गमन की कोई भी मनोवैज्ञानिक चेष्टा नहीं होती। जो भी चेष्टा होती है मात्र प्राणिक चेष्टा होती है। शिशु सिर्फ सीखता है तथा अपने अव्यय कोशों में माया का सर्जन कर अक्षर पुरुष का निर्माण करता रहता है। जैसे जैसे अक्षर पुरुष विकसित होता जाता है, चेष्टा भाव भी विकसित होता जाता है। विकसित होने पर यही अक्षर पुरुष पुरुष-सूक्त में वर्णित पुरुष के अनुसार व्यवहार करने लगता है। यही पुरुष हमारे कर्म व्यापार में दक्षता उपलब्ध कराता है तथा पूर्वसञ्चित ज्ञान का बोध कराता है। जब यह कोश अत्यधिक भर जाते हैं तो हम इसे अहंकार कहते हैं, पुनश्च यह जो कुछ भी बोध है, वह तीनों प्रकार (गुणात्मक, गत्यात्मक, तथा द्रव्यात्मक) का है। (चित्र 11) यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक कि यहाँ 'पुरुष' शब्द का अभिप्राय 'कर्ता' भाव से है, प्राणिक रूप में स्त्री-पुरुष से नहीं। इस प्रकरण में हमने स्पष्ट किया कि किस प्रकार

बाहर से आने वाले संकेत हमारे मन:पटल में छवि का निर्माण करते हैं तथा किस प्रकार हमारी स्मृति में संगृहीत होते हैं और बाहर व्यक्त होते हैं। यह भी स्पष्ट किया है कि यह जो संकेत हैं इनको 12 हिस्सों में बांटा जा सकता है, जो कि संकेत का स्वरूप निर्माण करते हैं।

4.3 इकाई में संकेत का प्रवाह (11 रुद्र)

प्रवाह का मूल कारण अग्नि (जिज्ञासा, उत्तेजना, तथा लालसा) है, जो कि प्रेक्षक से उत्पन्न होती है। सोम उत्सर्जक में उपलब्ध है। यह अग्नि निरंतर सोम का भक्षण करती रहती है, तथा काल के प्रवाह को बनाये रखती है। तीन प्रकार के प्रवाह हैं : संकेत का अंतर्गमन, पुनर्गठन, बहिर्गमन। सभी प्रवाहों के लिये प्रवाह क्षेत्रों का तथा तरंगों का होना आवश्यक है।

शून्य क्षेत्र – प्रेक्षक तथा उत्सर्जक के मध्य विषमता के कारण मनोमय कोश उद्दीप्त हो जाता है जो आप् की स्वीकृति कारण शून्य क्षेत्र उत्पन्न करता है। शून्य क्षेत्र में उत्पन्न तरंग बोध के चार रूप (उपलब्धता ∞ दृश्यता ∞ खालीपन ∞ जीवंतता ⇨ पुनरावृत्ति) उदय होते हैं। जिसके कारण संकेत तरंग निरंतर आगे बढ़ती जाती है। यह स्वीकृति क्षेत्र ही परमव्योम या 'आप् क्षर' कहलाता है। प्रेक्षक की उत्सर्जक के प्रति आपोमयता (श्रद्धा) से ही परमव्योम तरंगित होता है, तथा आकाश तत्त्व उदय होता है। यदि प्रेक्षक में उत्सर्जक के प्रति श्रद्धा नहीं है तो परमव्योम तरंगित ही नहीं होगा और न ही किसी प्रकार का प्रवाह सम्भव होगा।

उपलब्धता क्षेत्र - अन्नमय कोश (दृश्यता का उपलब्धता) व प्राणमय कोश (जीवंतता का उपलब्धता) के मध्य प्रक्रिया के फलस्वरूप उपलब्धता क्षेत्र (उपलब्ध दृश्यता ∞ उपलब्ध जीवंतता ⇨ पुनरावृत्ति) का उदय होता है। यह 'अन्न क्षर' कहलाता है।

रिक्तता क्षेत्र - विज्ञानमय कोश (दृश्य की रिक्तता) व आनंदमय कोश (जीवंत की रिक्तता) के मध्य प्रक्रिया के फलस्वरूप रिक्तता क्षेत्र (रिक्त दृश्यता ∞ रिक्त जीवंतता ⇨ पुनरावृत्ति) का उदय होता है। यह 'अन्नाद क्षर' कहलाता है।

दृश्यता क्षेत्र - अन्नमय कोश (उपलब्ध दृश्यता) व विज्ञानमय कोश (रिक्त दृश्यता) के मध्य प्रक्रिया के फलस्वरूप दृश्यता का क्षेत्र (उपलब्ध दृश्यता ∞ रिक्त दृश्यता ⇨ पुनरावृत्ति) का उदय होता है। यह 'वाक् क्षर' कहलाता है।

जीवंतता क्षेत्र - प्राणमय कोश (उपलब्ध जीवन्तता) व आनंदमय कोश (रिक्त जीवन्तता) के मध्य प्रक्रिया के फलस्वरूप जीवंतता का क्षेत्र (उपलब्ध जीवन्तता ∞ रिक्त जीवन्तता ⇨ पुनरावृत्ति) का उदय होता है। यह 'प्राण क्षर' कहलाता है। यह आकृति विहीन प्राण का प्रकट करने वाला है।

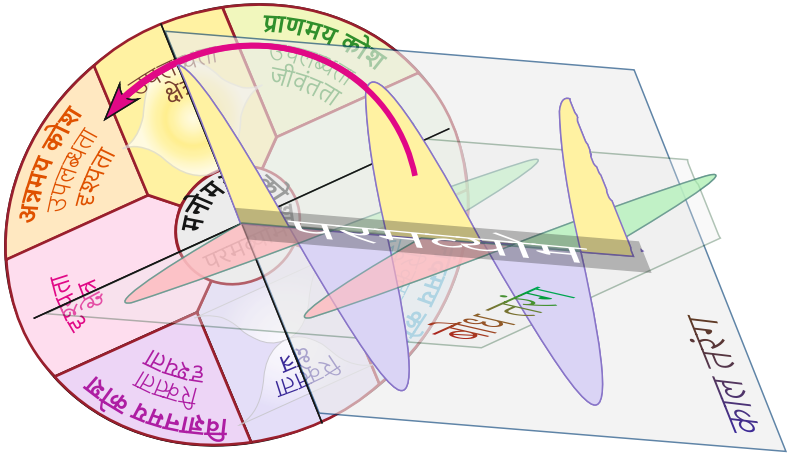

चित्र ११ - इकाई में प्रवाह का सर्जन

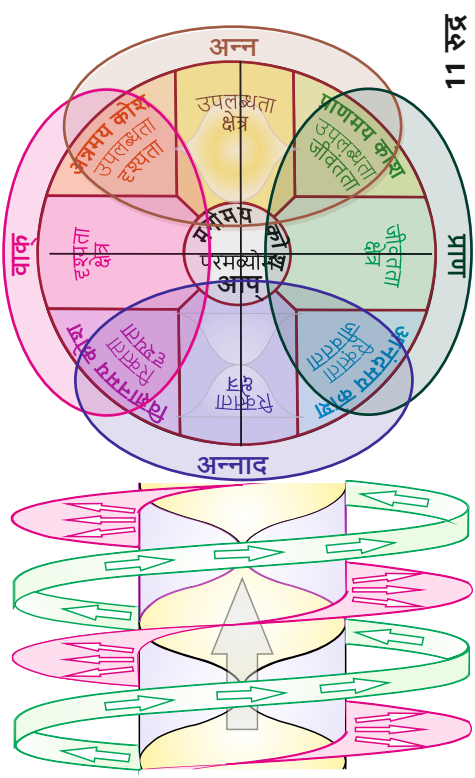

11 रुद्र				
क्षर पुरुष	ज्ञानेन्द्रियां	कर्मेन्द्रियां	मन	
अन्न	ज्ञान में उपलब्धता 1	कर्म में उपलब्धता 6	11	अर्न्तप्रक्रिया
अन्नाद	ज्ञान में रिक्तता 2	कर्म में रिक्तता 7		
आप्	ज्ञान में स्वीकृति 3	कर्म में स्वीकृति 8		
वाक्	ज्ञान में दृश्यता 4	कर्म में दृश्यता 9		
प्राण	ज्ञान में जीवन्तता 5	कर्म में जीवन्तता 10		

उपलब्धता क्षेत्र
रिक्तता क्षेत्र
काल क्षेत्र
दृश्यताक्षेत्र
जीवंतता क्षेत्र

चित्र १२
अव्यय कोशों में संकेतों के प्रवाह क्षेत्र

मात्रा तरंग – यदि प्रेक्षक की उत्सर्जक के प्रति आपोमयता है तो परमव्योम प्रकट हो जाता है, जो कि किसी भी तरंग के प्रवाह का माध्यम बनता है। उत्सर्जक में अन्न तथा प्रेक्षक में अन्नाद होने से इच्छा (अग्नि) उत्पन्न होती है, जिसके अन्तर्गत अन्नाद अन्न को अपनी तरफ प्रवाहित करता है। यह मात्रा तरंग है।

बोध तरंग – दृश्यता तथा जीवंतता के द्वैत से संकेत का गुणत्व उत्पन्न होता है। इस द्वैत को हम बोध तरंग कह रहे हैं। मात्रा तरंग बोध के उत्सर्जक से पकड़ती है तथा वाहक के रूप में उस को द्रष्टा तक पहुंचाती है। मात्रा तरंग में छवि बोध भी सन्निहित है, अत: मात्रा के प्रवाह के साथ साथ छवि का भी प्रवाह हो रहा है. यह छवि का प्रवाह ही बोध तरंग कहा जा रहा है. जिस संकेत अधिगृहीत किया जा रहा है, दर्शन की भाषा में उसे 'सोम' भी कहते हैं। सोम के दो पक्ष हैं: अग्रभाग तथा पार्श्वभाग। अग्रभाग दृश्यता या देवपक्ष को दर्शाता है तथा 'वाक्' कहलाता है। पार्श्वभाग जीवंतता या पितृपक्ष को दर्शाता है तथा 'प्राण' कहलाता है। वाक् तथा प्राण के संयोग से बोध उत्पन्न होता है।

रुद्रों की अवस्थिति – सम्पूर्ण क्रिया-प्रतिक्रियाएं उपर्युक्त पाँच क्षेत्रों के अंतर्गत ही होती है। हम तीन प्रकार के प्रवाहों को जानते हैं: अंतर्गमन (सुनना, देखना आदि), बहिर्गमन (बोलना, भाव विसर्जन आदि), तथा स्वगमन (सोचना आदि)। इनमें से अंतर्गमन तथा बहिर्गमन में पाँच पाँच क्षेत्र काम आते हैं तथा स्वगमन मे एक ही क्षेत्र काम आता है। इस प्रकार कुल 11 रुद्र स्वीकार किये गये हैं। (चित्र 12)। इस प्रकार हमें ज्ञान में मात्रा (अन्न), ज्ञान में इच्छा (अन्नाद), ज्ञान में स्वीकृति (आप्), ज्ञान में चेतना (वाक्), ज्ञान में जीवन्तता (प्राण), कर्म में मात्रा (अन्न), कर्म में इच्छा (अन्नाद), कर्म में स्वीकृति (आप्), कर्म में चेतना (वाक्), कर्म में जीवन्तता (प्राण), तथा मनमें अंत:प्रक्रिया सहित 11 रुद्र प्राप्त होते हैं।

4.4 इकाई में बोध का संग्रहण (8 वसु)

जो कुछ हमारे अंदर बसा हुआ है, वसु कहलाता है। इसे आदत, संस्कार, स्मृति, तथा अवधारणा भी कहा जाता है। जो भी कुछ स्मृत होता है, उसके लिए हमारी सत्ता में 7 लोक हैं। यह लोक विभिन्न प्रकार की संज्ञाओं को स्मृत करते हैं। यह स्मृतियां हमारी अंतर्गमन प्रक्रिय, बहिर्गमन प्रक्रिया, तथा स्वगमन प्रक्रिया, तीनों में ही महत्वपूर्ण योगदान देते हैं. जब हम एक बार जान जाते हैं या सीख जाते है, प्रक्रिया में मुख्य सहायक का काम करते हैं। उदाहरण के लिये यदि हम कोई दृश्य देखते हैं तो निम्नाङ्कित प्रतिक्रियाएं होंगी –

	स्मृतियों का स्वरूप (8 बसु)	लोक	
8	माया विहीन प्रज्ञा	द्रष्टा	ब्रह्म
7	बौद्धिक इकाइयों के अन्तर्गत स्मृतियां	सत्यम्	माया
6	बौद्धिक जीवन के अन्तर्गत स्मृतियां	तप:	
5	मानसिक इकाइयों के अन्तर्गत स्मृतियां	जन:	
4	मानसिक जीवन के अन्तर्गत स्मृतियां	मह:	
3	प्राणिक इकाइयों के अन्तर्गत स्मृतियां	स्व:	
2	प्राणिक जीवन के अन्तर्गत स्मृतियां	भुव:	
1	भौतिक इकाइयों के अन्तर्गत स्मृतियां	भू:	

चित्र 13 – वसु का स्वरूप

भोतिक इकाई (भू: लोक) – संकेत सबसे पहले हमारी भौतिक (पार्थिव) देह द्वारा स्वीकार किया जाता है। हमारी आँखों की रेटिना पर स्थित अणु-परमाणु प्रकाश (कास्मिक संकेत) को स्वीकार करते हैं। यह प्रकाश हमारी आँखों में स्मृत हो जाता है इसका प्रमाण यह है कि यदि हम ज्यादा समय तक लाल रङ्ग देख लेते हैं तो उसके बाद सफेद रङ्ग हमें हरा दिखाई देता है, क्यों कि वह सफेद को लाल की दृष्टि से देख रहा होता है। इसको हम विभिन्न भौतिक संकेतों (भौतिक विज्ञता) का भौतिक स्मृति में संगृहीत करना कहते हैं।

प्राणिक इकाई (स्व: लोक) – प्राणिक प्रक्रिया के बाद जब प्राणिक संकेत बन जाते हैं तो यह प्राणिक विज्ञता हमारी प्राणिक स्मृति में संगृहीत हो जाती है। जब हम बोल बोल कर श्रुति को याद करते हैं तो उसकी स्मृति हमारी प्राणिक इकाई तक ही सीमित रहती है।

मानसिक जीव (मह:लोक) – मानसिक तंतु इन प्राणिक संकेतों को मानसिक अनुभूतियों में बदल कर मानसिक संकेत बना देते हैं। जब हमारे मानसिक तंतु यह मानसिक प्रक्रिया करते हैं तो वह उस प्रक्रिया (चेतन्यता) में अभ्यस्त भी होते हैं। यह अभ्यस्तता भी मानसिक जीव में स्मृत हो जाती है। दैहिक ऊंचाई से भयभीत होना आदि अनेक उदाहरण हैं।

मानसिक इकाई (जन: लोक) – मानसिक प्रक्रिया के बाद जब मानसिक अनुभूतियां बन जाती हैं तो यह मानसिक विज्ञता (स्वभाव) को मानसिक स्मृति में संगृहीत हो जाती है। यह आदमी का स्वभाव कहलाता है।

बौद्धिक जीव (तप: लोक) – मानसिक अनुभूतियां, जो कि प्रतीक रूप में होती हैं, बौद्धिक प्रक्रिया उसे ज्ञान में बदल देती हैं। इसको विचार करना कहते हैं। यह विचार करने का भी अभ्यास हो जाता है।

बौद्धिक इकाई (सत्यम् लोक) – इस प्रकार विभिन्न बौद्धिक विज्ञता (ज्ञान) बौद्धिक स्मृति में संगृहीत होती जाती है।

प्रज्ञा - इन लोकों में हम जो भी कुछ धारण कर लेते हैं वह हमें सत्य प्रतीत होता है। परंतु यह सब सापेक्ष ही है, अत: माया के रूप में ही होता है। इन सातों के अलावा एक प्रतिष्ठा और है, जो निरपेक्ष है, जिसे हम द्रष्टा भाव कहते है, जो माया से परे है, साक्षी भाव है, तथा कृष्ण कहलाता है।

कहने का अर्थ यह है कि ऐसा नहीं है कि हम सत्य देख ही नहीं सकते; हम सत्य हमेशा देखते हैं, परंतु माया का आवरण इतना ज्यादा होता है कि सत्य जो सामने ही है, हमें दिखाई ही नहीं देता। हमने जो जाना हुआ है, वही सत्य है, ऐसा अहंकार सातों लोकों से प्रदीप्त होता है, और वास्तविक सत्य जो कि सामने ही है फिर भी दिखाई नहीं देता, परंतु फिर भी आठवां वसु साक्षात् द्रष्टा भाव है, जो निरपेक्ष रूप से सब कुछ देखने में समर्थ है, उसके प्रति भक्ति के उपरांत जो कुछ भी दिखाई देगा, सत्य ही होगा।

4.5 बोध के प्रवाह में निरंतरता (2 अश्विनी कुमार)

प्रत्येक प्रवाह तरंगो के माध्यम से होता है। प्रत्येक तरंग के दो ध्रुव होते हैं। दोनों एक के बाद एक प्रवाह को गति देते रहते हैं, तथा काल को संचालित करते रहते हैं। इन्हें अश्विनी कुमार कह सकते हैं। दोनों एक समान हैं, सदा यौवन अवस्था में रहते हैं। तथा यौवन अवस्था प्रदान करते रहते हैं। महाभारत के एक प्रसंग में इन्हें अश्वशाला पति, तथा गौशाला पति बताया गया है, जिससे यह संकेत मिलता है कि एक जीवंतता में बल (अश्व) का वाहक है तथा दूसरा ज्ञेयता में चेतन (गौ) का वाहक है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, अत: दोनों मिल कर सोम (बोध) का वाहक बनते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि यह क्षर पुरुष की बोध तरंग के दो भाग हैं जिन्हें वाक् तथा प्राण कहा जाता है, जिसके प्रवाह की निरंतरता काल तरंग द्वारा संचालित होती है।

आधुनिक विज्ञान में चुम्बकीय क्षेत्र तथा प्रकाशीय क्षेत्र को आपस में बदला जा सकता है। विद्युत चुम्बकीय तरङ्ग में प्रत्येक आवृति में दोनों एक के बाद एक बदलती रहती हैं। और समय के प्रवाह का कारण बनती हैं।

5.0 जीवन प्रवाह प्रक्रिया

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक इकाई में अव्यय पुरुष इकाई की क्षमताओं को स्पष्ट करता है, अक्षर पुरुष इकाई को शिक्षित करता है, तथा क्षर पुरुष क्रिया का संचलन है। यह संचलन तीन दिशाओं में तथा चार प्रकार से होता है।

5.1 जीवन प्रक्रिया स्तर के संदर्भ में

बौद्धिक स्तर के संदर्भ में – 1. अंतर्गमन प्रक्रिया में हम मानसिक संसार में से अनुभूतियों (बौद्धिक असत्) को अधिग्रहण करते हैं तथा बौद्धिक अंतश्चेतना तक पहुंचाते हैं। 2. स्वगमन प्रक्रिया में बौद्धिक अंतश्चेतना आगमित तथा पूर्वसञ्चित एकत्रित मानसिक अनुभूतियों में से उपयुक्त बौद्धिक विकल्प (ज्ञान) की तलाश करते हैं। इसको बौद्धिक मनन प्रक्रिया कहते हैं। 3. बहिर्गमन प्रक्रिया में चयनित ज्ञान को हम भावनाओं के जरिये बौद्धिक इकाई के बाहर प्रस्तुत कर देते हैं।

मानसिक स्तर के संदर्भ में – 1. अंतर्गमन प्रक्रिया में हम प्राणिक संसार में से आवेगों (मानसिक असत्) का अधिग्रहण करते हैं तथा मानसिक अंतश्चेतना तक पहुंचाते हैं। 2. स्वगमन प्रक्रिया में मानसिक अंतश्चेतना आगमित तथा पूर्वसञ्चित एकत्रित प्राणिक आवेगों में से उपयुक्त मानसिक विकल्प (अनुभूति) की तलाश करते हैं। इसको मानसिक मनन प्रक्रिया कहते हैं। 3. बहिर्गमन प्रक्रिया में उपलब्ध अनुभूतियों को हम प्राणिक प्रयास के जरिये मानसिक इकाई के बाहर प्रस्तुत कर देते हैं।

प्राणिक स्तर के संदर्भ में – 1. अंतर्गमन प्रक्रिया में हम पार्थिव संकेतों (पार्थिव असत्) का अधिग्रहण करते हैं तथा प्राणिक अंतश्चेतना तक पहुंचाते हैं। 2. स्वगमन प्रक्रिया में प्राणिक अंतश्चेतना आगमित तथा पूर्वसञ्चित एकत्रित भौतिक संकेतों में से उपयुक्त प्राणिक विकल्प (चेष्टा) की तलाश करते हैं। इसको प्राणिक मनन प्रक्रिया कहते हैं। 3. बहिर्गमन प्रक्रिया में उपलब्ध प्राण प्रवाह को हम पार्थिव गति के जरिये प्राणिक इकाई के बाहर प्रस्तुत कर देते हैं।

पार्थिव स्तर के संदर्भ में – 1. अंतर्गमन प्रक्रिया में हम कॉस्मिक संकेतों का अधिग्रहण करते हैं तथा पार्थिव अंतश्चेतना तक पहुंचाते हैं। 2. स्वगमन प्रक्रिया में पार्थिव अंतश्चेतना आगमित तथा पूर्वसञ्चित एकत्रित कॉस्मिक संकेतों में से उपयुक्त पार्थिव विकल्प (ऊर्जा) की तलाश करते

हैं। इसको पार्थिव मनन प्रक्रिया कहते हैं। 3. बहिर्गमन प्रक्रिया में उपलब्ध पार्थिव संकेत को हम कॉस्मिक उत्सर्जन के जरिये पार्थिव इकाई के बाहर प्रस्तुत कर देते हैं।

उपर्युक्त चारों उदाहरण मनुष्य में लागू होते हैं; अंतिम तीन उदाहरण पशुओं में लागू होते है; अंतिम दो उदाहरण वनस्पतियों में लागू होते है; अंतिम एक उदाहरण पार्थिव पदार्थों में लागू होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सृष्टि में जितनी भी इकाइयां है, सभी जीवित हैं। हां, सबके 'जीवन' का संदर्भ अलग अलग है। उनकी प्रक्रियाएं (अंतर्गमन, स्वगमन, तथा बहिर्गमन) समान न होते हुए भी समानांतर अवश्य हैं। इसका कारण यह है कि सबमें संदर्भ अलग अलग होते हुए भी सूत्र भाव समान है। और यह अद्वैत के कारण है। यहाँ हम प्रत्येक प्रक्रिया के सूत्र भाव की विवेचना करेंगें; पाठक उसमें संदर्भ उपस्थित कर वांछित प्रक्रिया को समझ सकते हैं।

5.2 जीवन प्रक्रिया दिशा के संदर्भ में

स्वगमन (मनन की प्रक्रिया) – प्रत्येक मनुष्य के अव्यय कोशों में अनेकानेक संकेत स्मृतिबद्ध रहते हैं। अपने स्वभावानुसार यह मनुष्य निरंतर उन संकेतों का पुन: निरीक्षण करता रहता है। इसको विचार करना कहते हैं। यह प्रक्रिया मनोमय कोश के उद्दीपन के कारण होती है।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान स्मृतियों के रूप में हमारे अव्यय कोशों में संगृहीत रहता है। (1) अन्नमय कोश में विवरण तथा विषमता रहती है, (2) प्राणमय कोश में तीव्रता तथा संवेग रहता है, (3) विज्ञानमय कोश में शुद्धता तथा तर्क रहता है तथा (4) आनन्दमय कोश में विश्वास तथा दृढ़ता रहती है।

मनोमय कोश का उद्दीपन मन:पटल पर अन्य कोशों से संकेत आमंत्रित करता है। यह संकेत नाम-रूपात्मक होते हैं। रूप के लिये अन्नमय कोश से 'विषमता' तथा प्राणमय कोश से 'तीव्रता' आती है और नाम के लिये विज्ञानमय कोश से तर्क तथा आनंदमय कोश से विश्वास आता है। मन:पटल पर यह चारो संकेतांश नये नये समन्वय बैठाते हैं। इसे ही मनन प्रक्रिया कहते हैं। नाम-रूप के युक्तिपूर्ण सामंजस्य से बोध (perception) का जन्म होता है, जो कि तुरंत ही रस तथा बल में तब्दील हो जाता है। नाम-रूप तथा रस-बल के मध्य जो बोध का क्षणिक अवलोकन है, वही वर्तमान काल है। इस प्रकार हम भविष्य (नाम-रूप) से वर्तमान (बोध) में होते हुए भूत (रस-बल) में चले जाते हैं। बल संवेग को प्राणमय कोश तथा दृढ़ता को आनंदमय कोश में प्रेषित कर देता है। तथा रस विवरण को अन्नमय कोश तथा शुद्धता चारों कोशों में स्मृत कर लिया जाता है।

भागवत में काल का स्वरूप - यहाँ पुन: एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि कल्प के प्रारम्भ में मात्र नाम-रूप ही रहते है। जैसे ही वर्तमान जो कि क्षणिक है, नामरूप के साथ रस-बल को भी जोड़ लेते हैं। जो बोध है, वह नाम-रूप-रस-बल, चारों का प्रतिफल है। वर्तमान के बाद नाम-रूप अगोचर हो जाते हैं, तथा जो कुछ बचता है वह रस-बल से ही युक्त होता है। भागवत की कथा कल्प के प्रारम्भ में ही होती है, जो वर्तमान काल की प्रक्रियाओं का ही वर्णन करती है। अत: कथा का स्थान नैमिषारण्य (वर्तमान काल का वन) कहा गया है।

सीखने की प्रक्रिया - एक बात यहाँ महत्त्वपूर्ण है कि जैसे ही बोध प्रकट होता है, मनोमय कोश आठों संकेतांशों (अष्ट कमल) के मध्य एक सहसंबंध स्थापित कर देता है। इस प्रक्रिया को सीखना कहते हैं। जैसे कि कोई संकेतांश मन:पटल पर आता है, उससे सम्बंधित अन्य संकेतांश स्वत: ही मन:पटल पर आजाते हैं। यही कारण है कि 'कुर्सी का नाम' सुनने से 'कुर्सी का रूप' सामने आ जाता है, तथा 'कुर्सी का रूप' देखने से 'कुर्सी का नाम' याद आ जाता है। यह स्वगमन या मनन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। हां यह क्रिया ज्ञानात्मक के अलावा कर्मात्मक या भोगात्मक भी हो सकती है। अर्थात् कर्म तथा भोग का भी ज्ञान हो सकता है। (चित्र15)

वर्तमान की अवधि – सामान्यतया वर्तमान की अवधि को क्षणिक ही माना गया है, परंतु व्यावहारिक रूप से ऐसा होता नहीं। जानने की क्रिया हो या करने की क्रिया, दोनों में ही धैर्य अपेक्षित है। यह धैर्य वर्तमान काल में रहता है। फल की आसक्ति में हमारा वर्तमान काल अत्यंत ही न्यून हो जाता है तथा क्रिया में गुणवत्ता नहीं आ पाती। धैर्य के साथ न सुनने से डिस्लेक्सिया, तथा धैर्य के साथ न बोलने से हकलाहट होने लगती है। वर्तमान का आधार मूलरूप से पितृ प्राण पर निर्भर करता है, जो बाल्यकाल के आशीर्वाद का फल है।

अंतर्गमन – अंतर्गमन यज्ञ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा किया जाता है। उपर्युक्त प्रक्रिया में जहां मन:पटल पर विभिन्न कोशों से नाम रूप के जरिये विभिन्न संकेतांश जा रहे हैं वहीं कुछ संकेत बाहर से भी (ज्ञानेन्द्रियों द्वारा) पहुँच रहे है। बाकी की प्रक्रिया वही होती है। इस प्रक्रिया में कुछ ऐसा अनुभूत होता है कि जो छवि बाहर से आ रही है, हम वही छवि देख रहे हैं। लेकिन यह भ्रम है। कारण स्पष्ट है। हमारे मन:पटल पर जो भी छवि बन रही है, उसमें हमारे पूर्वसञ्चित अंश संकेतों का भी योगदान है। यदि लम्बी वस्तु की प्रतीति के साथ सर्प का भय अवधारणा में संगृहीत है तो भय की मानसिक अवस्था में प्रत्येक लम्बी वस्तु सर्प ही दिखाई देगी। (चित्र15)

बहिर्गमन – बहिर्गमन यज्ञ कर्मेन्द्रियों द्वारा किया जाता है। स्वगमन प्रक्रिया से जो 'छवि' बनती है, जो कि रस-बल के रूप में बोधित होती है, यह छवि पुन: विखण्डित हो कर अव्यक्त हो

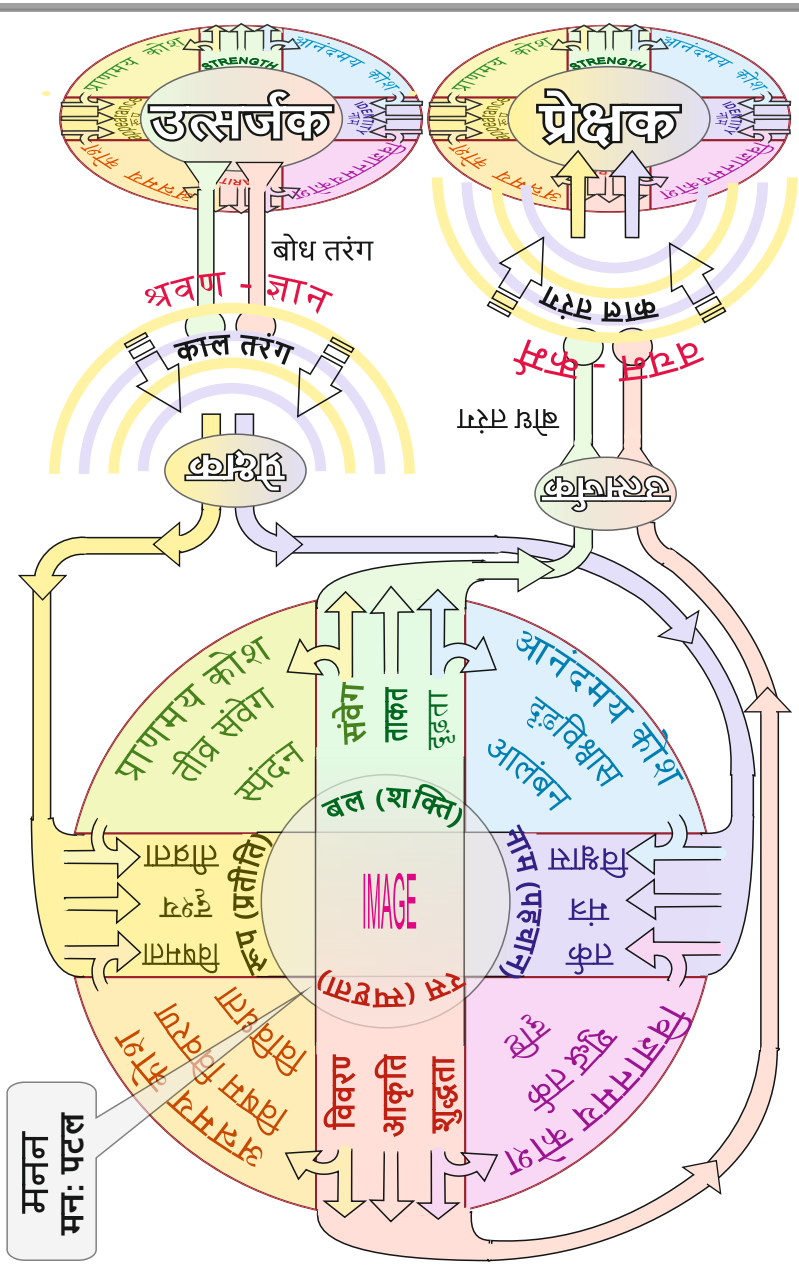

चित्र १४ - इकाई में अंतर्गमन, बहिर्गमन, तथा स्व-गमन प्रवाह

जाती है तथा रस में से शुद्धता तथा विवरण और बल में से दृढ़ता तथा संवेग चारों अव्यय कोशों में चले जाते हैं। तथा इस छवि की एक प्रतिलिपि बाहर व्यक्त होने के लिये उपलब्ध हो जाती है। यहाँ से जैसे ही कोई अन्य इकाई इसे नाम - रूप में स्वीकार करती है, छवि कर्मेन्द्रियों द्वारा बहिर्गमित हो जाती है। इसे 'बोलना' कहते हैं। यहां यह बात अति महत्त्वपूर्ण है कि बोलने के लिये सुनने वाला होना ही चाहिये। (चित्र15) यह प्रश्न अनेक बार किया जाता है कि 'अन्य इकाई' की अनुपस्थिति में भी हम बोलते रहते हैं, ऐसा क्यों कर होता है? इसके लिये यह जानना आवश्यक है कि वहां श्रोता हमारा स्वयं का मन:पटल होता है, जो नाम-रूप में संदेश को पुन: स्वीकृत करता रहता है। वैसे भी हम जब भी बोलते है, हमारी अंतश्चेतना तो सुनती ही रहती है।

5.3 दो विभिन्न इकाइयों के मध्य संप्रेषण

जब एक इकाई (प्रस्तोता) अन्न का उत्सर्जन करती है, और दूसरी इकाई (ग्रहणकर्ता) उस उत्सर्जित अन्न का अभिग्रहण करती है, यह दो इकाइयों के मध्य संप्रेषण कहलाता है। प्रथम इकाई अपनी आत्म सत्ता में एक संकेत का सर्जन करती है। यह संकेत वाक् तथा प्राण रूप में अन्न का ही संकेत है। इस संकेत के दो हश्र होते हैं। प्रथम तो यह विघटित हो कर पुन: स्मृति में संचय हो जाता है, द्वितीय यह किसी अन्य इकाई के लिये उत्सर्जन के रूप में उपलब्ध कर दिया जाता है। संकेत के ग्रहणकर्ता की अपनी स्वतंत्र इकाई है। यदि ग्रहणकर्ता में प्रस्तोता के प्रति श्रद्धा (आप्) का भाव है तो परमव्योम प्रकट हो कर ग्रहणकर्ता तथा प्रस्तोता के मध्य स्वीकृति का आकाश स्थापित कर देता है। तथा ग्रहणकर्ता का अग्नि (जिज्ञासा; उत्तेजना; लालसा) भाव काल (willingness) उपन्न कर देता है. इस प्रकार आकाश-काल के संयोग से छवि का प्रस्तोता तथा ग्रहणकर्ता के मध्य संप्रेषण उत्पन्न हो जाता है. यहां ग्रहणकर्ता की अग्नि काल को तथा ग्रहणकर्ता की श्रद्धा आकाश को उत्पन्न कर रही है. काल की आधिक्यता तथा आकाश की न्यूनता क्रोध को जन्म देती है, तथा काल की न्यूनता तथा आकाश की आधिक्यता अकर्मण्यता को जन्म देती है।

प्रस्तोता से ग्रहणकर्ता तक अन्न काल के नियंत्रण में ही प्रवाहित होता है। ग्रहणकर्ता तक पहुंचने तक भी हम संकेत को जान नहीं पाते। हमारी अंतश्चेतना में अन्न रूपी संकेत की स्वीकृति होती है। यहां हमारी स्मृति में से अनेक पूर्वसञ्चित संकेतांश उपस्थित हो जाते है। वहां सभी संकेतांश के मंथन द्वारा एक नये संकेत का सर्जन होता है। यह इस प्रक्रिया का फल है। इस नये संकेत तथा आने वाले संकेत में अंतर होता है। इसलिये ऐसा कहा जाता है कि हमारे कर्म फल में पूर्वसञ्चित प्रारब्ध का प्रभाव होता है। इस प्रकार एक संकेत उत्प्रेरक से ग्रहणकर्ता तक पहुंच जाता है।

स्पष्टीकरण – अग्नि (इच्छा), काल (तत्परता), तथा उससे होनेवाला प्रवाह (श्रम) वस्तुत: इच्छा, तप, तथा श्रम की त्रयी है। अत: प्रत्येक प्रवाह (श्रम) के लिये काल (तत्परता) की आवश्यकता होती है जिसका कारण अग्नि (इच्छा) है। सोम वस्तुत: संकेत का वह स्वरूप है जो कि प्रस्तोता द्वारा सम्प्रेषित होता है। एक अदृश्य पिण्ड (चंद्रमा) जब दृश्यता (सूर्य; आदित्य) के प्रकाश को स्वीकार करती है, अर्थात् शक्ति जब चेतना को स्वीकार करती है, तो शक्ति रूपेण पिण्ड दृश्यगत (सोम) हो उठता है, जिसे संकेत कहते हैं। यहाँ यह बात स्पष्ट हो रही है कि यहां जो दृश्यता तथा चेतन रूपी 'वाक्' है वह सूर्य से आ रहा है तथा पिण्ड तथा चेतन रूपी 'प्राण' है वह चंद्रमा से आ रहा है। दोनों मिल कर संकेत रूपी सोम का संयोजन कर रहे हैं। जब हम कहते हैं कि अग्नि सोम का भक्षण कर रही है तो इसका तात्पर्य यही है कि ग्रहणकर्ता की इच्छा (अग्नि) प्रस्तोता स्थित संकेत (सोम) का अभिग्रहण कर रही है।

5.4 एक ही इकाई के विभिन्न स्तरों में प्रवाह

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो वस्तुत: हमारी कौन सी इकाई उस वस्तु को देखती है? सर्वप्रथम हमारी आँखों में स्थित अणु-परमाणु अर्थात् भौतिक इकाई ही देखती है। तदुपरांत भौतिक छवि के संकेतों को प्राणिक इकाई देखती है, तदुपरांत प्राणिक छवि को मानसिक इकाई देखती है, तथा तदुपरांत मानसिक छवि को बौद्धिक इकाई देखती है। तब हम वस्तु को पहचान कर उसे नाम देते हैं।

भौतिक इकाई द्वारा कॉस्मिक क्षर का प्रवाह – सूर्य दृश्य है, तथा वे अणु-परमाणु द्रष्टा हैं जिनसे आँख का निर्माण हुआ है। द्रष्टा परमव्योम के जरिये चार अंतर्वाह क्षेत्र उत्पन्न करता है। इनमें दो क्षेत्रों, दृश्य में अन्न (प्रकाश) की उपलब्धता तथा द्रष्टा में अन्नाद (प्रकाश की अनुपलब्धता) से एक मात्रा-तरंग की उत्पन्न करते हैं, तथा अन्य दो क्षेत्र दृश्य-विविधता तथा ऊर्ज-विविधता छवि संकेत को प्रेषित करते हैं। यह छवि संकेत मात्रा-तरंग पर आरूढ़ हो कर बोध तरंग का निर्माण कर लेती है, तथा द्रष्टा तक पहुंचती है। मात्रा तरंग जो कि भौतिक द्रष्टा (अन्नाद) द्वारा ही निर्मित है, उसी में विलीन हो जाती है अत: मात्रा में स्थित बोध, द्रष्टा में ही अवधारित हो जाता है। इस प्रकार **कॉस्मिक बोध भौतिक बोध** में बदल जाता है। आधुनिक भाषा में इस प्रवाह को विद्युच्चुम्बकीय विकिरण (electromagnetic wave) कहा जाता है। ध्यातव्य है कि उपर्युक्त विवरण के अनुसार काल तरंग द्रष्टा से उत्पन्न होती है न कि दृश्य से, तथा छवि तरंग प्रेषक से ही उत्पन्न होती है। उपर्युक्त विवेचन 'देखने' के संदर्भ में है, परंतु, यही विवेचन अन्य चार ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत, त्वचा, रसना, घ्राण) के संदर्भ में भी किया जा सकता है।

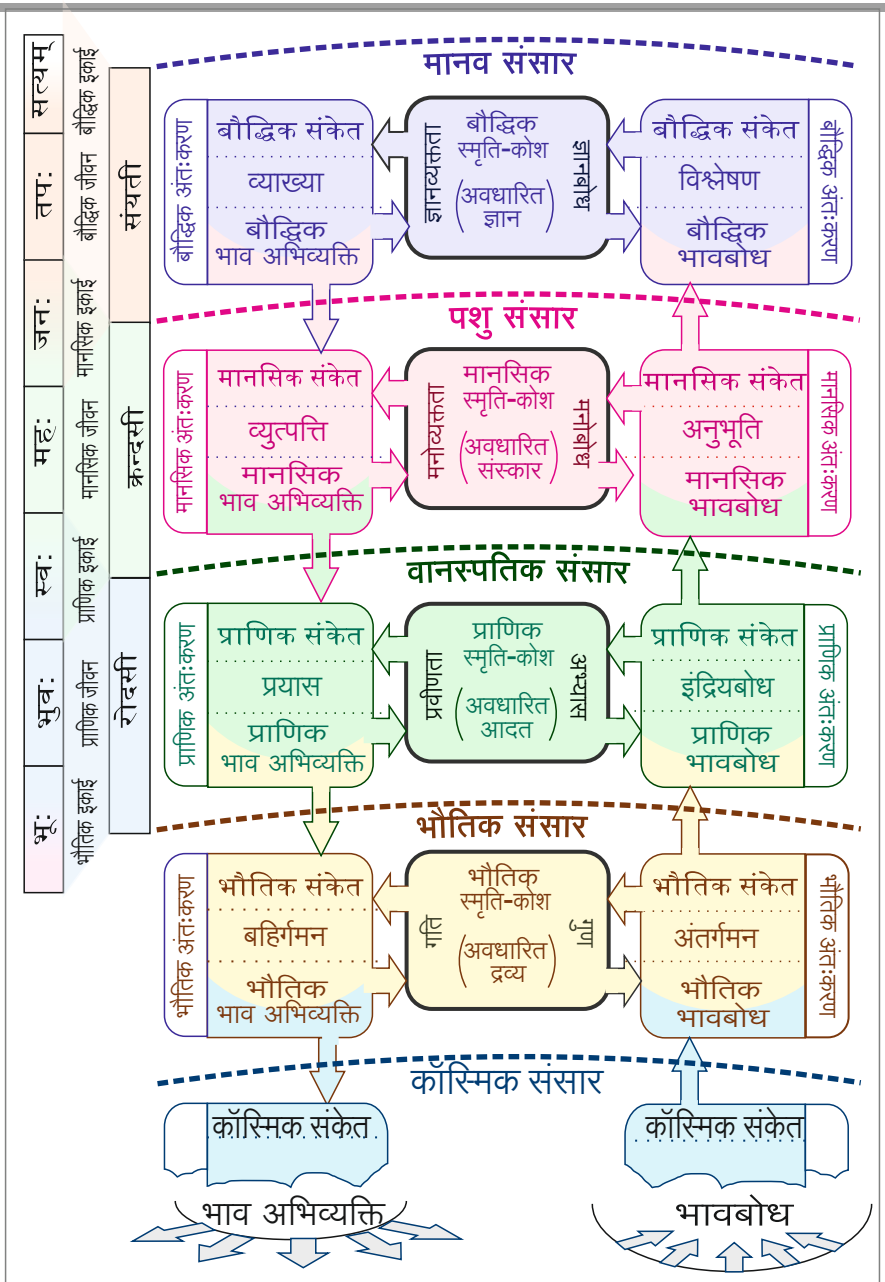

चित्र १५ - इकाई का विभिन्न स्तरों पर संकेत प्रवाह

प्राणिक इकाई (वनस्पति) द्वारा भौतिक क्षर का प्रवाह – यदि द्रष्टा मात्र भौतिक इकाई है तो प्रक्रिया यहीं समाप्त हो जाती है किंतु द्रष्टा प्राणिक इकाई है तो भौतिक बोध द्वारा प्राणिक पटल तक जाता है। प्राणिक पटल पर भौतिक संकेत दो दिशाओं से आते हैं। प्रथम तो अंतर्गमित होते हुए भौतिक संकेत तथा द्वितीय प्राणिक कोशों में स्मृत भौतिक संकेत। इस प्रकार यह दोनों संकेत प्राणिक पटल पर अन्योन्यक्रिया कर प्राणिक बोध को प्रदीप्त कर देते हैं। इस प्रकार भौतिक बोध प्राणिक बोध में बदल जाते हैं। व्यावहारिक भाषा में इसे 'पचाना' भी कहते हैं। भौतिक बोध यदि 'भोजन' है, तो प्राणिक बोध 'प्राणिक रसायन' है। नेत्रों से हम जो प्रकाश देखते हैं, वही प्रकाश नेत्रों में पहुँच कर विभिन्न प्राणिक रसायनों में बदल जाते हैं। वनस्पति के पत्ते पर जब सूर्य की किरण पड़ती है तो विभिन्न प्राणिक रसायनों से वह कार्बन-डाई-ऑक्साइड को प्रोटीन में बदल देती है। इस प्रकार वह प्राणिक इकाई को हृष्ट-पुष्ट करते हैं।

मानसिक इकाई (पशु) द्वारा प्राणिक क्षर का प्रवाह – यदि द्रष्टा मात्र प्राणिक इकाई है तो प्रक्रिया यहीं समाप्त हो जाती है किंतु द्रष्टा मानसिक इकाई है तो प्राणिक बोध मानसिक पटल तक जाता है। मानसिक पटल पर प्राणिक संकेत दो दिशाओं से आते हैं। प्रथम है अंतर्गमित होते हुए प्राणिक संकेत तथा द्वितीय है मानसिक कोशों में स्मृत प्राणिक संकेत। ये दोनों संकेत मानसिक पटल पर अन्योन्य क्रिया कर मानसिक बोध को प्रदीप्त कर देते हैं। इस प्रकार प्राणिक बोध मानसिक बोध में बदल जाते हैं. व्यावहारिक भाषा में इसे 'अनुभूत करना' भी कहते हैं। प्राणिक संकेत यदि 'दर्द' है, तो मानसिक संकेत 'भय' है। ये अनुभूतियां हमारी मानसिक सृष्टि में स्मृत हो जाती हैं।

बौद्धिक इकाई (मनुष्य) द्वारा मानसिक क्षर का प्रवाह – यदि द्रष्टा मात्र मानसिक इकाई है तो प्रक्रिया यहीं समाप्त हो जाती है किंतु द्रष्टा बौद्धिक इकाई है तो मानसिक बोध बौद्धिक पटल तक जाते हैं। बौद्धिक पटल पर मानसिक संकेत दो दिशाओं से आते हैं। प्रथम तो मानसिक इकाई द्वारा अंतर्गमित मानसिक संकेत तथा द्वितीय बौद्धिक कोशों में स्मृत मानसिक संकेत। इस प्रकार यह दोनों संकेत बौद्धिक पटल पर अन्योन्यक्रिया कर बौद्धिक बोध को प्रदीप्त कर देते हैं। व्यावहारिक भाषा में इसे 'युक्तिकरण करना (rationalization)' भी कहते हैं। इस प्रकार मानसिक संकेत बौद्धिक संकेत में बदल जाते हैं. मानसिक संकेत यदि 'भय' है, तो बौद्धिक संकेत 'समस्या' है। यह सब ज्ञान के रूप में स्मृत हो जाता है।

स्पष्टीकरण – प्रत्येक स्तर पर जब कोई संकेत जाते हैं तो उन संकेतों में उस इकाई के पूर्वसञ्चित संकेत भी आ कर मिल जाते हैं, अत: वास्तविक संकेत तथा स्वीकृत संकेतों में अंतर

होता है। जो हम देख रहे हैं, उनमें हमारी क्षमता, हमारा शिक्षण, हमारी इच्छा, हमारी पूर्वसञ्चित अवधारणाएं शामिल रहती है। यदि हमारी आँखों में मोतियाबिंद है तो दृश्य वास्तविक न दिख कर पीला दिखता है। यदि आँखे सही होते हुए भी हमें नहीं दिखेगा, तो चिकित्सक कहेगा कि 'नस सूख गयी'। यदि हमारी मानसिक इकाई में भय व्याप्त है, तो हमारी मानसिक इकाई जब रस्सी देखेगी तो उसमें सर्प का अंश ही देख पायेगी, तथा हमारी बौद्धिक इकाई को वह सर्प ही दिखाई देगा।

उपर्युक्त उदाहरण अंतर्गमित प्रक्रिया के हैं। यही प्रक्रिया बहिर्गमन में भी होती है। जो हमारी बुद्धि सोचती है, वैसा मन नहीं मानता। जैसा मन कहता है वह सामर्थ्य देह में नहीं होती। देह का भौतिक प्रयास भी पूर्ण रूप से फलीभूत नहीं हो पाता। (चित्र 9)

6.0 अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द

6.1 ब्रह्म

आमतौर पर पूछा जाता है कि ब्रह्म का अस्तित्व है या नहीं। अध्यात्मवादी मानते हैं कि ब्रह्म भौतिक, जैविक, मनोवैज्ञानिक या बौद्धिक सहित सभी इकाइयों में मौजूद है। उनका मानना है कि ब्रह्म के बिना कुछ भी अस्तित्वगत नहीं हो सकता। कथन सही है, क्योंकि वेदान्त का कहना है कि 'अस्तित्व' स्वयं ब्रह्म है। अस्तित्व या ब्रह्म के बिना कोई भी इकाई मौजूद नहीं हो सकती। इकाई का अस्तित्व हो सकता है परंतु अस्तित्व की इकाई नहीं होती। अत: अस्तित्व कारण है तथा इकाई उसका फल है। वेदांत में हम 'अस्तित्व' को विघटित करने का प्रयास करते हैं, ताकि हम ब्रह्म अर्थात् कारण को समझ सकें।

ध्वनिविज्ञान के अनुसार, ब्रह्म का अर्थ है 'सूत्रबद्ध संलिप्तता के कारण विकसित काया'। दूसरे शब्दों में, सभी अस्तित्वों में 'सूत्रबद्ध संलिप्तता शामिल होती है, जो ओत्पत्तिक सूत्रों के अनुसार इकाई का विकास करती है। यह समझाया गया है कि इस संसार के सभी अस्तित्व ब्रह्म की ही प्रतिकृति हैं। तथा प्रत्येक अस्तित्व में 16 पुरुष हैं; 1 परात्पर, 5 अव्यय , 5 अक्षर, और 5 क्षर पुरुष हैं। सामान्यतया ब्रह्म में भ्रम तब पैदा हो जाता है जब हम उसका मानवीयकरण करते हैं, तथा उसे स्थूल भाव में देखने का प्रयास करने लगते हैं। ब्रह्म स्थूल नहीं स्थूल का कारण है।

6.2 पञ्चमहाभूत का स्वरूप

यहाँ भूत का अर्थ इकाई से है। जब हम महाभूत कह रहे होते हैं तो हम उन कारकों की बात कर रहे होते हैं जिनके कारण यह भूत अस्तित्वगत बना रहता है। सभी कारक एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, अर्थात् इनमें से यदि एक भी अनुपस्थित हो जाये तो भूत का अस्तित्व नहीं रहता। ये पाँच कारक हैं – आकाश, पृथ्वी, आप्, वायु, तथा अग्नि। पाठकों के निवेदन कै कि वह कृपया इन शब्दों के स्थूल स्वरूप का चिंतन न करें। ये पाँचों तत्त्व हैं जिन्हें पूर्णतया परिभाषित करना लगभग असम्भव है, लेकिन फिर भी हम प्रयास कर रहे हैं।

आकाश – जहां तक अवकाश उपलब्ध हो उसे आकाश कहा गया है। अर्थात् किसी इकाई की क्षमता (capability) को आकाश कहा गया है। प्राणिक रूप से जहाँ तक देखने का अवकाश प्राप्त है, देखने का आकाश है; अर्थात् देखने की क्षमता। जहाँ तक सुनने का अवकाश प्राप्त है, सुनने का आकाश; अर्थात् सुनने की क्षमता। बोलने की क्षमता आदि सभी आकाश भाव हैं। मानसिक रूप से अनुभूति की क्षमता, बौद्धिक रूप से सोचने की क्षमता ही सोचने का आकाश है। हम कॉस्मिक आकाश को ही आकाश मान लेते हैं, और वह आकाश हमें अनंत दिखाई देता है। अत: हम मान लेते हैं कि आकाश अनंत है। लेकिन यह एक भ्रम है। हमारी सुदूर अंतरिक्ष में देखने की क्षमता 46,000,000,000 प्रकाश-वर्ष तक ही सीमित है। अत: हमारे अणु-परमाणुओं लिये आकाश इतना ही है।

पृथ्वी –किसी इकाई में जो उपलब्धता (availability) है उसे पृथ्वी कहा जा रहा है। चाहे कोई भी संज्ञा हो, उसकी संरचना ही उसके जीवन के लिये उत्तरदायी है। यह संरचना ही उसका आधार है तथा पृथ्वी कहलाती है। प्राणिक रूप से प्राणिक संरचना, मानसिक रूप से मानसिक संरचना, तथा बौद्धिक रूप से बौद्धिक संरचना ही उनकी पृथ्वी है। यहाँ इकाई के उपादान को पृथ्वी नहीं कहा जा रहा है।

आप् – उद्दीप्तता (अग्नि) के कारण जो प्रवाह (वायु) उत्पन्न होता है, इस कारण आकाश में पृथ्वी तत्त्व की स्वीकार्यता (acceptability) ही आप् तत्त्व है। आकाश को स्वीकार करने से ही पृथ्वी में क्षमता प्रकट होती है, तथा पृथ्वी को स्वीकार करने से ही आकाश में उपलब्धता प्रकट होती है। इसे परमव्योम भी कहा जाता है।

वायु – यह स्वीकृति क्यों होती है, क्यों कि ज्ञान, कर्म, तथा भोग के लिये प्रवाह (flow) आवश्यक है। इस प्रवाह को वायु कहा गया है। यह वायु ही जीवन की गति है। तीन प्रकार के प्रवाह हैं: अंतर्वाह प्रवाह, स्वयं प्रवाह, बहिर्वाह प्रवाह।

अग्नि – यह प्रवाह क्यों होना चाहता है। इसका कारण उद्दीप्तता (stimulation), जिसे अग्नि कहा जाता है। इस अग्नि का कारण ब्रह्म की 'एकोहं बहुस्याम' की भावना है। जिसके कारण काल उदय होता है।

कोई भी इकाई हो उपर्युक्त पाँचों के अलावा अन्य कुछ भी सम्भव नहीं है। यदि आपको कुछ अन्य दिखाई देता है तो वह उपर्युक्त पञ्चमहाभूतों का ही कोई सम्मिलित प्रतिरूप होगा।

6.3 नाम-रूप

जब भी हम किसी वस्तु को स्मृत करते हैं, तो वह हमारे मस्तिष्क में दो भागों में स्मृत हो जाती है। इन भागों को नाम (पहचान) और रूप (प्रतीति) कहा जाता है। जब तक ये दोनों भाग, नाम और रूप, हमारे दिमाग में असंयोजित रहते हैं, तब तक वे अप्राप्य (सोई हुई स्मृति) रहते हैं। जब कभी उस वस्तु से सम्बंधित कोई संकेतांश हमारे अंदर प्रवेश करता है तो उससे सम्बंधित नाम – रूप हमारे अंत:करण में पहुंच कर वस्तु को पुन: बोधित कर देते हैं। यदि बाहर से हम कुर्सी का रूप देखते हैं तो नाम याद आ जाता है, तथा यदि हम बाहर से कुर्सी का नाम सुनते हैं तो रूप याद आ जाता है।

मात्र रूप से हम बनी किसी भी चीज़ को याद नहीं कर सकते हैं। विचार करते समय, हमारा मस्तिष्क हमारी पूर्ववर्ती यादों में से प्रकट रूप से संबंधित या मिलते जुलते नाम के डेटा प्राप्त करता रहता है, और किसी भी काल्पनिक नाम को अपनाता है। यह कल्पित नाम हमारे रूप के साथ जुड़ता है और हमारे स्मृति कोशों में संगृहीत होजाता है। यह देखा जा सकता है कि कुछ लोगों की चेहरे और नामों के बारे में एक सटीक स्मृति होती है। दरअसल, उनके पास किसी भी रूप से संबंधित नाम, तथा किसी भी नाम से संबंधित रूप की कल्पना करने की क्षमता होती है। किसी के बाल बहुत घने हैं, बालों के रूप की कल्पना हम घने बादलों से कर सकते हैं।

यह स्पष्ट है कि एक रूप एक दृश्य पहलू है, और नाम एक अदृश्य पहलू है। वे एक दूसरे के ठीक विपरीत हैं, और एक दूसरे के पूरक भी हैं। यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि नाम 'रूप शून्यता' को निरूपित नहीं करता है; वरन् यह रूप की विपरीतता को ही दर्शाता है। उसी तरह, रूप 'नाम शून्यता' को निरूपित नहीं करता है; वरन् यह नाम में विपरीतता को ही दर्शाता है।रूप अपने आप में पहचान योग्य नहीं है, और नाम स्वयं दिखाई देने योग्य नहीं है। एक एकल रूप को कई अलग-अलग पहचानों द्वारा अपनाया जा सकता है। इसके विपरीत, एक नाम को विभिन्न रूपों द्वारा अपनाया जा सकता है। जब वे अन्तर प्रक्रिया करते हैं, तो उसमें तरह तरह के जोड़े बनते हैं, उनमें जो चयनित जोड़ा होता है वही छवि के रूप में विकसित हो जाता है।

6.4 रस-बल

यह सत्य है कि किसी भी बोध का सर्जन नाम तथा रूप का संयोजन है, परंतु जैसे ही बोध का सर्जन होता है, जो कि वर्तमान काल में होता है, बोध का प्रकटीकरण रस तथा बल के रूप में होता है। नाम दो भागों में विभाजित हो नाम में रस तथा नाम में बल प्रदान करता है, उसी प्रकार रूप दो भागों में विभाजित हो रूप में रस तथा रूप में बल प्रदान करता है। इस प्रकार नाम-रूप स्वत: ही रस-बल में बदल जाते हैं। वर्तमान काल में चारों ही एक साथ रहते हुए मनन प्रक्रिया करते हैं। यह रस तथा बल क द्वैत हमें अनेक प्रकार से दिखाई देता है। आकृति - शक्ति, दिशा - गति, शुद्धता - दृढ़ता आदि अनेक द्वैत हैं जो एक दूसरे के विपरीत भी हैं, तथा एक दूसरे के पूरक भी हैं। हमने कलम से कोई आकृति बनायी, उस आकृति में संदेश (रस) तो है, परंतु बिना स्याही (बल) के उसे पढ़ा नहीं जा सकता। उसी प्रकार स्याही तो है, परंतु आकृति नहीं है तो भी उसे पढ़ा नहीं जा सकता।

6.5 बोध (perception)

एक ही रूप को विभिन्न प्रकार से देखा जा सकता है। हमारे पास विभिन्न प्रकार के भाव (बोध) स्तर हो सकते हैं। हमारे पास ब्रह्मांडीय (कॉस्मिक), भौतिक, प्राणिक, मानसिक, और बौद्धिक बोध हो सकते हैं। प्रत्येक बोध को 108 प्रकार से देखा जा सकता है। सर्वप्रथम इन्हें रस, बल, प्रतीति और पहचान रूपी चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रत्येक संघटक में 27 नक्षत्र {(ज्ञेयता; क्रेयता; भोग्यता) x (गुण, गति; मात्रा) x (अंतर्वाह; बहिर्वाह; स्व-प्रवाह)} होते हैं, जो इस प्रकार हैं: -

A. गुणों को जानना; अंतर्वाह; knowing the properties – 1. गुणों के अवलोकन में ज्ञेयता; 2. गुणों के अवलोकन में क्रेयता; 3. गुणों के अवलोकन में भोग्यता।

B. गुणों को व्यक्त करना; बहिर्वाह; expressing the properties – 4. गुणों को व्यक्त करने में ज्ञेयता; 5. गुणों को व्यक्त करने में क्रेयता; 6. गुणों को व्यक्त करने में भोग्यता।

C. गुणों का मनन करना; स्व-प्रवाह; analysing the properties – 7. गुणों को मनन करने में ज्ञेयता; 8. गुणों को मनन करने में क्रेयता; 9. गुणों को मनन करने में भोग्यता।

D. गति को जानना; अंतर्वाह; knowing the dynamism – 10. गति के अवलोकन में ज्ञेयता; 11. गति के अवलोकन की क्रिया; 12. गति के अवलोकन में भोग्यता।

E. गति को व्यक्त करना; बहिर्वाह; expressing the dynamism – 13. गति को व्यक्त करने में ज्ञेयता; 14. गति को व्यक्त करने में क्रेयता; 15. गति को व्यक्त करने में भोग्यता।

F. गति का मनन करना; स्व-प्रवाह; analysing the dynamism – 16. गति को मनन करने में ज्ञेयता; 17. गति को मनन करने में क्रेयता; 18. गति को मनन करने में भोग्यता।

G. मात्रा को जानना; अंतर्वाह; knowing the quantity – 19. मात्रा के अवलोकन में ज्ञेयता; 20. मात्रा के अवलोकन में क्रेयता; 21. मात्रा के अवलोकन में भोग्यता।

H. मात्रा को व्यक्त करना; बहिर्वाह; expressing the quantity – 22. मात्रा को व्यक्त करने में ज्ञेयता; 23. मात्रा को व्यक्त करने में क्रेयता; 24. मात्रा को व्यक्त करने में भोग्यता।

I. मात्रा का मनन करना; स्व-प्रवाह; analysing the quantity – 25. मात्रा को मनन करने में ज्ञेयता; 26. मात्रा को मनन करने में क्रेयता; 27. मात्रा को मनन करने में भोग्यता।

7.0 स्वनिमार्थ (वर्णों की अर्थ वत्ता) विज्ञान का सिद्धांत

(स्वनिमों के मनोवैज्ञानिक अर्थ)

एकत्व सूत्र संलिप्तता का स्थूल होना ही जगत् है। यह एकत्व सूत्र ब्रह्म है, उसकी स्थूलता जगत् है। यह एकत्व सूत्र अस्तित्व की संरचना में निहित है। यह अस्तित्व की संरचना, जो कि प्रत्येक इकाई का आधार है, जो कि कॉस्मिक, भौतिक, प्राणिक, मानसिक, तथा बौद्धिक जगतों का स्वरूप प्रकट करती है, मानसिक अनुभूतियों का दर्पण भी है। यही कारण है कि हम अस्तित्व की संरचना के आधार पर मानसिक अनुभूतियों को स्पष्ट कर सकते हैं। जिस प्रकार भावभंगिमा, गंध, इशारे आदि विभिन्न मनोवैज्ञानिक अर्थ रखते हैं, उसी प्रकार स्वनिम या वर्ण भी अपना मनोवैज्ञानिक अर्थ रखते हैं। ब्रह्म की मनोवैज्ञानिक अस्तित्व की संरचना सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक अर्थों को स्पष्ट करने में सक्षम है।

7.1 वर्णों की अर्थवत्ता का संक्षिप्त इतिहास

प्रत्येक स्वनिम का अपना एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थ है, ऐसा मानने वालों में भारतीय दार्शनिक सबसे आगे रहे हैं। इसी आधार पर यास्क (700 BC) नें निरुक्त पर काम किया तथा

निघण्टु नामक एक महाग्रंथ की रचना की। उपनिषदों में भी अनेक स्थानों पर इसकी चर्चा की गयी है। भारत के प्राचीन महाभाषाकार पाणिनि (400BC) ने करीब 4000 धातुओं की खोज की जिनसे शब्दों के अर्थ निकालना आसान हो गया। सुकरात (400BC) ने तार्किक रूप से यह प्रमाणित करने का बहुत प्रयास किया कि स्वनिमों के अपने अर्थ होते हैं, परंतु, किसी सिद्धांत के अभाव में वे ऐसा नहीं कर पाये। जोन वलीस (1653), जोन लोकेस (1689), चार्लस दे ब्रोसेस (1765), एंटोइने कोर्ट दे गेब्लिन (1775), चार्ल्स नोडिअर (1808), जेनेट (1976) आदि अनेक विद्वान हुए, जिन्होंने इस विषय पर अपना अपना योगदान किया। अरस्तू तथा प्लेटो के योगदान को भी भुलाया नहीं जा सकता।

7.2 प्राणिक वर्णों का बौद्धिक अर्थों में बदलना

पाश्चात्य दर्शन 'कार्य से कारण' की खोज करते हैं, जब कि भारतीय दर्शन 'कारण से कार्य' पर आता है। भारतीय दर्शन के अनुसार 'कारण' एक ही है जिसे ब्रह्म कहा जाता है। यह कारण हमें इकाई के अस्तित्व में दिखाई देता है। अत: ब्रह्म सिद्धांत को ही हम स्वनिमार्थ विज्ञान में घटा कर सिद्धांत को स्पष्ट कर सकते हैं।

जब हम किसी भी भौतिक संकेत (गंध, दृश्य, ध्वनि आदि) को ज्ञानेंद्रियों द्वारा अंतर्वाह करते हैं यह संकेत हमारे मानसिक अंतश्चेतना पर अपने यथायोग्य स्थान पर स्थापित हो जाते हैं। यह स्थान देव, पितृ, गंधर्व, ऋषि, तथा असुर कहलाते हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि देव पितृ आदि विभिन्न मानसिक अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, अत: यह स्थापित हो जाता है कि विभिन्न वर्ण विभिन्न अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हम यह तो स्पष्ट कर सकते हैं कि कौन सा वर्ण किस अनुभूति का प्रतिनिधित्व करता है, परंतु इस आवंटन का आधार क्या है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता, क्यों कि यह प्रकृति जनित है, और ब्रह्म तथा प्रकृति का सम्बन्ध अभी तक पूर्णतया स्पष्ट नहीं है।

यहाँ तक यह तो स्पष्ट है कि मानसिक अंतश्चेतना में विशिष्ट ध्वनि संकेत विशिष्ट अनुभूतियां प्रकट करते हैं, परंतु इन अनुभूतियों का मात्र मानसिक प्रयोजन होता है। जब बौद्धिक इकाई इन अनुभूतियों का अवलोकन करती है, तो वह एक ही अनुभूति के विभिन्न बौद्धिक अर्थ निकाल सकती है। यहाँ बुद्धि मनन द्वारा उस अनुभूति का सबसे युक्तिजनित अर्थ निकालती है। और यह अर्थ ही भाषा में प्रयुक्त हो जाता है, और इस प्रकार वर्ण, जो कि प्राणिक संस्था द्वारा उच्चारित होते हैं, मानसिक संस्था में अनुभूतियां देते हैं, बौद्धिक संस्था में अपना अर्थ प्रकट कर देते हैं।

7.3 स्वनिमार्थ विज्ञान का परिचय

स्वनिमार्थ विज्ञान एक ऐसी परिकल्पना है, जिसके अनुसार प्रत्येक ध्वनि के प्रकृति प्रदत्त विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थ हैं। इस परिकल्पना के तहत, ऐसा माना जाता है कि, जब हम किसी भी ध्वनि को बोलते या सुनते हैं, तो हम अपने अंदर एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक भाव महसूस करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक भाव भाषाओं की संरचना का कारण बनते हैं। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि स्वनिमों के मनोवैज्ञानिक अर्थ हमें प्रकृति ने दिये हैं। यही कारण है कि एक ही जाति के पशु, जो कि विभिन्न देशों में जन्म लेते हैं, बिना कोई भाषा सीखे आपस में मनोवैज्ञानिक संप्रेषण कर लेते हैं। मनुष्य भी बिना भाषा जाने एक दूसरे से मनोवैज्ञानिक संप्रेषण तो कर ही लेते हैं। यदि कोई रोता है, या हंसता है, उसके लिये बौद्धिक भाषा की आवश्यकता नहीं होती, यह अर्थ हमें प्रकृति ने ही दिये हैं। अत: जो भाषा स्वत: बनती है, वह प्रकृति के ज्यादा नजदीक होती है। पाणिनि की धातुएं भी आज तक इसीलिये प्रासङ्गिक हैं और संस्कृत का आधार बनी हैं कि क्यों कि उन्होंने धातुओं के मनोवैज्ञानिक अर्थ ही दिये हैं।

7.4 व्यञ्जनों के अर्थ

बाह्य उपलब्ध संकेतों को हम किन्ही भी प्राणिक इंद्रियों (कान, त्वचा, आँख, नाक और जिह्वा) से अंतर्गमित (ध्वनि, स्पर्श, दृश्य, गंध, और स्वाद) कर सकते हैं, जब यह संकेत मानसिक अंतश्चेतना पर पहुंचते हैं, तो सभी संकेत एकाकार हो जाते हैं। चाहे आँख से देखा हो या कान से सुना हो, मानसिक अंतश्चेतना मात्र मनोवैज्ञनिक अनुभूतियां ही देखती है। हमारी स्मृति में पूर्व सञ्चित अनुभूतियां भी हैं, जो अंतश्चेतना में आ कर अपनी उपस्थिति दर्शाती हैं। दोनों स्रोतों से आयी हुई अनुभूतियां मिल कर नयी नयी सम्भावित अनुभूतियां बनाने लगती हैं। जैसे ही किसी युक्तिजनक अनुभूति का बोध का सर्जन होता है, हम उसे अर्थ कहते हैं। इस अर्थ बोध का सर्जन वर्तमान काल में होता है, उसे बौद्धिक अंतश्चेतना में प्रेषित कर दिया जाता है। यहां बुद्धि अपने विवेकानुसार उस अनुभूति को ज्ञान में बदल देती है।

अंतश्चेतना की संरचना चित्र संख्या 16 में स्पष्ट की गयी है। संरचना पटल पर सभी व्यञ्जनों को पाँच भागों में विभाजित किया गया है।

1. देव प्राण 'क वर्ग', 2. पितृ प्राण 'च वर्ग', 3. असुर प्राण 'ट वर्ग', 4. गन्धर्व प्राण 'त वर्ग' तथा 5. ऋषि प्राण 'प वर्ग' का प्रतिनिधित्व करते हैं। अत: इस प्रकार विभिन्न ध्वनियां विभिन्न मनोभाव उत्पन्न करती हैं। ये मनोभाव, जो कि ध्वनियों से प्रकट हो रहे हैं, वह मात्र मनोवैज्ञानिक

संकेत भर देते हैं, कोई बौद्धिक समाचार नहीं देते। अत: इनकी सीमा मानसिक इकाई तक ही है, परंतु मनुष्य इस मनोवैज्ञानिक संप्रेषण से संतुष्ट नहीं होता। आनेवाला संकेत मात्र व्यंजक के समान है जिसमें से बौद्धिक अर्थ का अनुमान ही किया जा सकता है। मनुष्य इस संकेतों को बौद्धिक मन:पटल तक ले जाता है जहां इन भावों की सम्भावित व्याख्या करता है। एक स्वनिम का मनोवैज्ञानिक अर्थ तो एक ही होता है, जो कि अनुभूत्यात्मक होता है। इसे समझा तो जा सकता है परंतु परिभाषित नही किया जा सकता। एक अनुभूत्यात्मक अर्थ को बौद्धिक संसार में अनेक प्रकार से देखा जा सकता है। अत: सही अर्थ के चयन के लिये सम्भावनाओं, परिस्थितियों, संदर्भों, तथा पूर्वधारित व्याख्या का सहारा लिया जाता है। यहाँ यह बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि स्वनिम के उपयोग में भिन्नता हो सकती है, परंतु उसका अनुभूत्यात्मक अर्थ वही रहता है। उदाहरण के लिये 'न' का मनोवैज्ञानिक अर्थ है 'उपलब्धि का न होना', तो इसका अर्थ 'नकारात्मकता', 'हीनता', 'रिक्तता', 'अङ्गीकरण करने की इच्छा', 'अङ्गीकरण करने की क्रिया' आदि सभी होंगे, जो कि शब्दों में आवश्यकता के अनुसार प्रयुक्त होंगे। एक उदाहरण और लेते हैं – 'ज' से 'ऊर्जा' की तथा 'ल' से 'फैलाव' की अनुभूति होती है। अब 'जल' शब्द के दो अर्थ हैं। कोई प्यासा व्यक्ति जब 'जल' का पान करता है तो उस प्यासे व्यक्ति में 'ऊर्जा का फैलाव' होता है। दूसरा, 'जल' शब्द अग्नि (fire) से भी है तथा वह भी 'ऊर्जा का फैलाव' ही है। एक शब्द के दो अर्थ हो गये, लेकिन 'ज' तथा 'ल' के मनोवैज्ञानिक अर्थ वही हैं।

सार यह है कि जो कि स्वनिम हैं, सभी दैहिक (प्राणिक) प्रकटीकरण हैं। हमारी मानसिक अंतश्चेतना सभी स्वनिमों के ध्वन्यात्मक 'नाम-रूप' को अर्थवत्ता प्रदान कर मनोवैज्ञानिक अर्थवत्ता में बदल देता है। यह मनोवैज्ञानिक अर्थवत्ता अनुभूति कहलाती हैं। मनोवैज्ञानिक अंत:करण में पहुंच कर वह अव्यय कोशों में स्थित पूर्वसञ्चित अनुभूतियों का आव्हान करती है तथा सम्मिलित अनुभूतियों में से बौद्धिक अंतश्चेतना उपयुक्त ज्ञान का चयन कर लेती है। इस प्रकार अनुभूति ज्ञान में परिवर्तित हो जाती है। में पहुंच कर विवेक के साहचर्य में उपयोगी ज्ञान में बदल जाती है।

7.5 स्वरों के अर्थ

जिस प्रकार 'व्यञ्जन' अक्षर पुरुष द्वारा प्रकट होते हैं, उस प्रकार 'स्वर' क्षर पुरुष द्वारा प्रकट होते हैं। क्षर पुरुष प्रवाह है; जो अक्षर को काल उपलब्ध करा कर उसे विशेषण से संज्ञा बना देता है।

1. आप् - आप् मध्य स्वर उत्पन्न करता है जो कि मध्य में परमव्योम बन कर बाकी चारों क्षेत्रों को आकाश उपलब्ध कराता है. मध्य स्वर अर्थात् 'अ-वर्ग' व्यञ्जन में अंश विहीन अस्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है।

2. वाक् - वाक् अग्रस्वर उत्पन्न करता है। यह अग्रस्वर अर्थात् 'इ वर्ग' व्यञ्जन में जीवन्तता विहीन दृश्यता उत्पन्न करता है।

3. प्राण - प्राण पश्चस्वर उत्पन्न करता है। यह पश्चस्वर अर्थात् 'उ वर्ग' व्यञ्जन में दृश्यता विहीन जीवन्तता उत्पन्न करता है।

4. अन्नाद - अन्नाद रिक्तस्वर उत्पन्न करता है। यह रिक्तस्वर अर्थात् 'ऋ वर्ग' व्यञ्जन में फैलाव विहीन संकुचन उत्पन्न करता है।

5. अन्न - अन्न उपलब्ध स्वर उत्पन्न करता है। यह उपलब्ध स्वर अर्थात् 'ऌ वर्ग' व्यञ्जन में संकुचन विहीन फैलाव उत्पन्न करता है।

अंतिम दो स्वर मनुष्यों में कम पाये जाते हैं। सम्भवतया पशुओं में जो मिश्रित ध्वनि होती है, उनमें ज्यादा प्रयुक्त होते हैं।

7.6 इकाई में स्वनिमों का स्थान नियोजन (वर्णों की अर्थवत्ता)

(1) गंधर्व; दन्त्य व्यंजनों का वर्ग; रूप (विषमता; दृश्य; तीव्रता**) की प्रस्तुति -**

[**न्**] - [विद्यमान – प्रस्तुत – रूप – भविष्य – स्वतंत्र संकेत]; अनुपलब्ध प्रकटन, नकारात्मक; निषेध; खालीपन; प्राप्त उत्सुक; अधिग्रहण की क्षमता; अधिग्रहण का कर्म; मर्दानगी; पहचान की परिपूर्णता; अधिग्रहण / कर्म में परिपूर्णता।

[**त्**] - [विद्यमान – प्रस्तुत – रूप – वर्तमान – स्वतंत्र संकेत]; मुक्त (निराकार; अव्यवस्थित; अरचित) प्रदर्शन (संकेत; आकार; चिह्न) के साथ प्रकटन (तीव्रता; भाव; विविधता) की प्रस्तुत करने की ओर।

[**थ्**] - [विद्यमान – प्रस्तुत – रूप – वर्तमान – स्थापित संकेत]; स्थापित (साकार; व्यवस्थित; रचित) प्रदर्शन (संकेत; आकार; चिह्न) के साथ प्रकटन (तीव्रता; भाव; विविधता) की प्रस्तुत की ओर; पेशकश का स्थापित रास्ता।

[**द्**] – [विद्यमान – प्रस्तुत – रूप – भूत – स्वतंत्र संकेत]; मुक्त (निराकार; अव्यवस्थित; अरचित) प्रदर्शन (संकेत; आकार; चिह्न) के साथ प्रस्तुत किया गया प्रकटन (तीव्रता; भाव; विविधता); पहले से ही प्रस्तुत; विनम्रता।

[**ध्**] – [विद्यमान – प्रस्तुत – रूप – भूत – स्थापित संकेत]; स्थापित (पूर्वाग्रहग्रस्त; पूर्वधारित; अवधारित; आवृत) के साथ पेश किया गया प्रकटन; पूर्वाग्रह ग्रस्त; सांबोधिक।

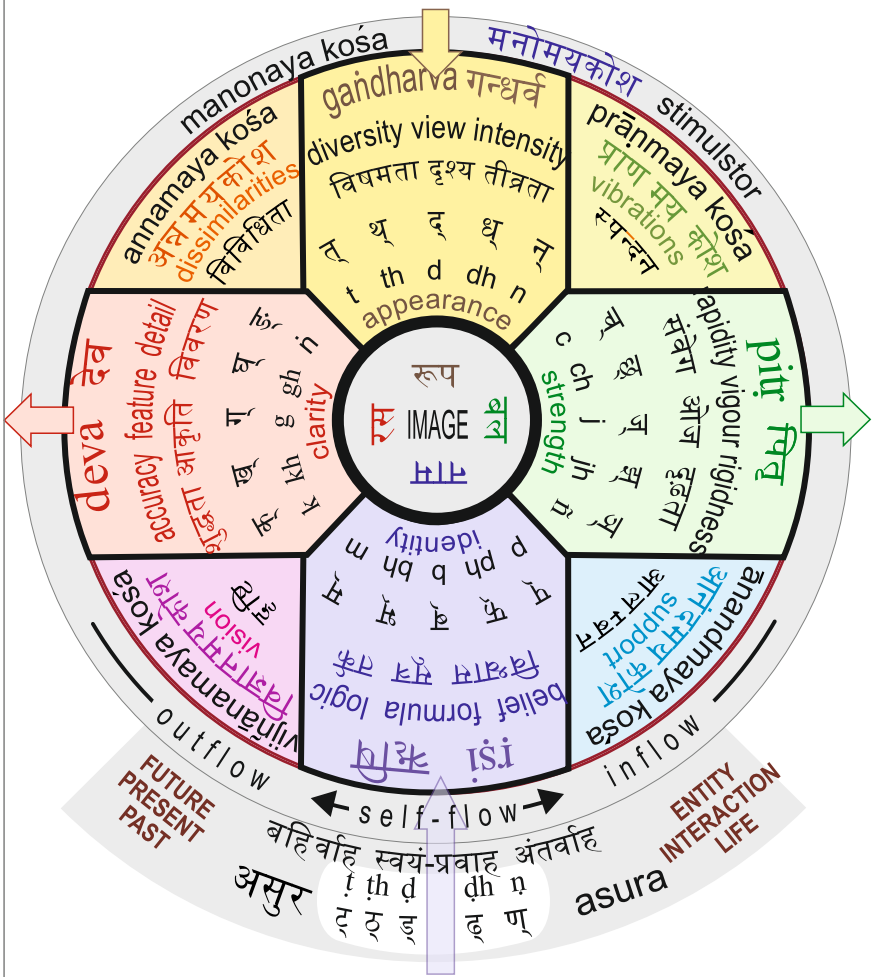

भविष्य	ङ्	ञ्	ण्	न्	म्
वर्तमान	क् ख्	च् छ्	ट् ठ्	त् थ्	प् फ्
भूत	ग् घ्	ज् झ्	ड् ढ्	द् ध्	ब् भ्

चित्र १६ - मनोपटल पर व्यंजनों की अवस्थिति

(2) ऋषि; ओष्ठ्य व्यंजनों का वर्ग ; नाम (तर्क; सूत्र; विश्वास**) में अंगीकरण -**

[**म्**] - [विद्यमान – अङ्गीकरण – नाम – भविष्य – शर्त रहित]; प्रस्तुत उपलब्धता; अस्थापित; अस्वीकृत; असत्; प्रस्तुति के लिए उत्सुकता; प्रस्तुत होने की क्षमता; विद्यमान में प्रस्तुति की परिपूर्णता; आत्मसमर्पण; अनभिज्ञता; होने; पदार्थ।

[**प्**] - [विद्यमान – अङ्गीकरण – नाम – वर्तमान – सशर्त]; सशर्त (संरक्षण; बंधन; समर्थन; सुरक्षा; जाँच; प्रतिबंध; परीक्षण) अनुमोदन के साथ पहचान प्राप्त करने की ओर; अनुमोदन; स्वीकार्य; मुक्त अनुमोदन।

[**फ्**] - [विद्यमान – अङ्गीकरण – नाम – वर्तमान – बिना शर्त]; बिना-शर्त (बिना बंधन; बिना सहारा; बिना सुरक्षा; बिना जाँच; अप्रतिबंधित; अपरीक्षित; खतरा; डर) पहचान (तर्क; सूत्र; विश्वास) अधिग्रहण करने की ओर; स्वतंत्र रूप से अनुमोदन; अरक्षित; बिना शर्त व्यक्त अनुमोदन; तेजी; अचानक।

[**ब्**] – [विद्यमान – अङ्गीकरण – नाम – भूत – सशर्त]; अतीत में शर्त (संरक्षण; बंधन; समर्थन; सुरक्षा; जाँच; प्रतिबंध; परीक्षण) के साथ अधिगृहीत पहचान (तर्क, संविन्यास, विश्वास); मजबूरी; संबंध; सिद्धांत; प्रकृति; सीमा; लाचारी, बाध्य; पक्षपाती; सीमित; नियंत्रित।

[**भ्**] - [विद्यमान – अङ्गीकरण – नाम – भूत – बिना शर्त]; अतीत में बिना शर्त अधिगृहीत पहचान; असुरक्षित; अनियंत्रित; नई दृष्टि; असुरक्षित; मुक्त; लचीला; मनमाना; स्वतंत्र।

(3) देव; कंठ्य व्यंजनों का वर्ग; स्पष्टता (शुद्धता; आकृति; विवरण**) का विश्लेषण-**

[**ङ्**] - [विद्यमान – विश्लेषण – स्पष्टता – भविष्य – कोई भी चेतना]; अनुपलब्ध स्पष्टता (शुद्धता; आकृति; विवरण); विश्लेषण के लिए उत्सुकता; जिज्ञासा; विश्लेषण के लिए क्षमता; शक्ति की भावनात्मक परिपूर्णता; व्यक्त शक्ति।

[**क्**] - [विद्यमान – विश्लेषण – स्पष्टता – वर्तमान – खुली चेतना]; खुली चेतना के साथ स्पष्टता (शुद्धता; आकृति; विवरण) का विश्लेषण की ओर; विश्लेषित अभी भी नहीं है; प्रश्न चिह्न; पचाना; डर (अशक्त स्पष्टता); चौकस; गतिविधि अनुभूति, समझ में चेतन; बिखरने; विभाजित।

[**ख्**] - [विद्यमान – विश्लेषण – स्पष्टता – वर्तमान – बंद चेतना]; बंद चेतना के साथ विश्लेषण करने; / क् / के लिए जगह उपलब्ध कराना; गैर विश्लेषण।

[**ग्**] - [विद्यमान – विश्लेषण – स्पष्टता – भूत – खुली चेतना]; खुली चेतना के साथ विश्लेषित सुबोध स्पष्टता; शक्ति से रहित (असुरक्षित, खतरा) स्पष्टता; स्पष्ट गैर खुशी।

[**घ्**] – [विद्यमान – विश्लेषण – स्पष्टता – भूत – बंद चेतना]; बंद चेतना के साथ विश्लेषित स्पष्टता; घिरा हुआ।

(4) पितृ; तालव्य व्यंजनों का वर्ग; बल (संवेग; ओज; दृढ़ता**) की व्युत्पत्ति -**

[**ञ्**] - [विद्यमान – व्युत्पन्न – बल – भविष्य – कोई भी जीवंतता]; अव्युत्पन्न शक्ति; विद्यमान में सावधानी की परिपूर्णता; भीरु; शक्ति व्युत्पन्न की उत्सुकता / क्षमता।

[**च्**] - [विद्यमान – व्युत्पन्न – बल – वर्तमान – स्वतंत्र जीवंतता]; स्वतंत्र जीवंतता के साथ शक्ति (ऊर्जा; ताकत; दृढ़ता) व्युत्पन्न (उपार्जित, प्राप्त, इकट्ठा) करने की ओर; साहस, स्पन्दन ऊर्जा; आवेश; भ्रम (असावधानी) की ओर।

[**छ्**] - [विद्यमान – व्युत्पन्न – बल – वर्तमान – अवरुद्ध जीवंतता]; बाधित जीवंतता के साथ शक्ति व्युत्पन्न की दिशा में; असंतुलित ऊर्जा; ऊर्जा के क्षेत्र में बाधा; सभी / च् / में बाधा; चयन।

[**ज्**] - [विद्यमान – व्युत्पन्न – बल – भूत – स्वतंत्र जीवंतता]; स्वतंत्र जीवंतता से व्युत्पन्न शक्ति; ऊर्जा; काल्पनिकता (स्पष्टता की कमी) की व्युत्पन्नता; खुशी, जीवंतता (मनोवैज्ञानिक शक्ति)।

[**झ्**] - [विद्यमान – व्युत्पन्न – बल – भूत – अवरुद्ध जीवंतता]; बाधित जीवंतता के साथ व्युत्पन्न शक्ति; झिझक; अस्थिर; दृढ़ता की कमी; कमजोर; / ज् / की सीमितता; परेशान; असहज।

(5) असुर; वक्र व्यंजनों का वर्ग; अधिवास के लिये अन्तरिक्ष में स्थान उपलब्धता; प्रवाह -

[**ण्**] - [विद्यमान – अधिवास – नितंतरता – भविष्य – कोई भी प्रवाह]; अनुपलब्ध प्रवाह; विद्यमान में स्थान की परिपूर्णता; अंतरिक्ष में प्रवृत्त/ कब्जे / अधिवास / प्रवाह / सक्रिय की उत्सुकता; निष्पादन क्षमता; समयनिष्ठ; वितान।

[**ट्**] - [विद्यमान – अधिवास – नितंतरता – वर्तमान – अबाधित प्रवाह]; वर्तमान के स्वतंत्र प्रवाह (बहिर्वाह, अन्तर्वाह, स्वयं प्रवाह) के साथ अंतरिक्ष में प्रवृत्त होने की दिशा में; प्रवृत्त; सक्रियण; निष्पादन; उपस्थिति।

[**ठ्**] - [विद्यमान – अधिवास – नितंतरता – वर्तमान– अवरुद्ध प्रवाह]; वर्तमान के वर्जित प्रवाह में अंतरिक्ष में प्रवृत्त होने की दिशा में; सभी / ट् / में वर्जित।

[**ड्**] - [विद्यमान – अधिवास – नितंतरता – भूत – अबाधित प्रवाह]; प्रवृत्त; अधिवासित; सक्रियित; अधिकृत; था; मौत; पुराने; पहले से ही हुआ; पहले से विद्यमान; प्रवाहित; अतीत; अतीत से उपलब्ध; पिछले; किया हुआ।

[**ढ्**] - [विद्यमान – अधिवास – निरंतरता – भूत – अवरुद्ध प्रवाह]; वर्जित प्रवाह के साथ पहले से ही काबिज अंतरिक्ष; पिछले का उपयोग नहीं; अतीत में वर्जित स्थान; अतीत से अनभिज्ञ।

[**ड़्**] - [विद्यमान – अधिवास – त्वरण – भूत – अबाधित प्रवाह]; मुक्त प्रसार के साथ सक्रिय रूप से काबिज; विस्तार में कब्जा किया हुआ; त्वरित् / ट्ड् /; त्वरण में प्रवृत्त।

(6) भौतिक प्रपांतरण; ऊष्म व्यंजनों का वर्ग; अभिव्यक्ति के स्तर -

प्रवाह का अंतिम उद्देश्य सूक्ष्म से स्थूल या स्थूल से सूक्ष्म में रूपान्तरण है, जो कि चार हिस्सों में है:

[**स्**] - [भौतिक - अभिव्यक्ति - स्पष्टता - भूत - अनुप्रयोग]; भौतिक स्पष्टता का अनुप्रयोग, भौतिक अभिव्यक्ति; व्यक्त।

[**श्**] - [भौतिक - अनुभव – बल - भूत - अनुप्रयोग]; भौतिक शक्ति का अनुप्रयोग; भौतिक अनुभव; व्यतीत।

[**ष्**] - [भौतिक - इच्छा - प्रसार - भूत - अनुप्रयोग]; भौतिक प्रवाह का अनुप्रयोग; भौतिक इच्छा का अंतरिक्ष; सक्रिय; प्रवृत्त; वांछित; व्याप्त भौतिक अभिव्यक्ति; उभरते सक्रियण; संतुष्टि।

[**ह्**] - [भौतिक - मात्रा - सम्पूर्ण - भूत - अनुप्रयोग]; भौतिक रखने का अनुप्रयोग; भौतिक उपलब्धता; गैर-विद्यमान की उपलब्धता; मौत;

(7) क्षेत्रों का अस्तित्व; अन्तस्थ व्यंजनों का वर्ग; अर्ध स्वरों का वर्ग

[**य्**] - अवलोकनीय, बल रहित प्रत्यक्ष का अस्तित्व; दृश्य।

[**ल्**] - उत्सर्जन (भावना; गति; प्रसार; विसर्जन) के उपलब्ध विस्तार की परिपूर्णता; एकाग्रता का अभाव; अनदेखी करना; विस्तार योग्य।

[**व्**] - अदृश्य (छिपा; अन्तर्वाह; बल) अस्तित्व; प्रत्यक्षता रहित बल का अस्तित्व; आंतरिक कल्पना; अनुभूत।

[**र्**] - एकाग्रता (संलिप्तता; तर्क; अनुभूति, केंद्रीकरण; संग्रह) के अधिग्रहण की परिपूर्णता; बुद्धिमानी; पतलापन; विस्तार की कमी; अद्वैत; द्वारा; लीलना।

(8) परमव्योम; मध्य स्वरों का वर्ग; पूर्ण शून्य के किये आकाश –

जो प्रत्येक स्वर को आपोमयता में स्थान देता है, वही परम आकाश कहलाता है।

[**अ**] - अस्तित्व; सत् रहित अस्तित्व।

[**आ**] - इकाई (बहिर्वाह के सूक्ष्म प्रभाव के साथ); कर्ता।

(9) दृश्यता क्षेत्र; अग्रस्वरों का वर्ग; के लिये आकाश -

[**इ**] - दृश्य (देखने में; की दिशा में; बल रहित) सत्; प्रत्यक्षतः मौजूद; वजूद; गोचर।

[**ई**] - विद्यमान को उजागर; बहिर्वाह; बोध योग्य।

[**ए**] - सांकेतिक सत्; इंगित सत्; विशिष्ट सत्; सीधे; प्रदर्शित सत्; अभिप्रायपूर्ण सत्।

[**ऐ**] - सत् की दृश्यता; सत् का बहिर्वाह।

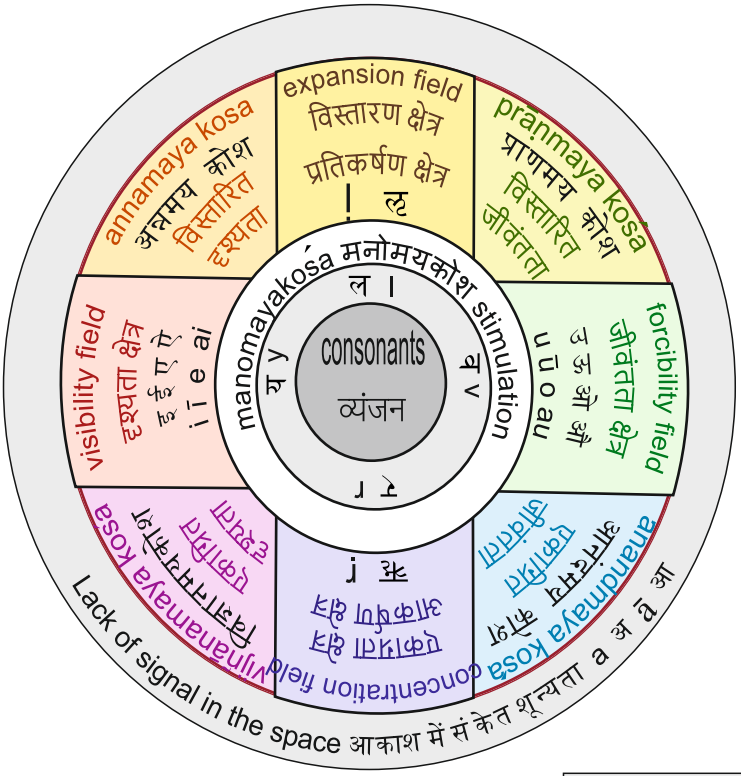

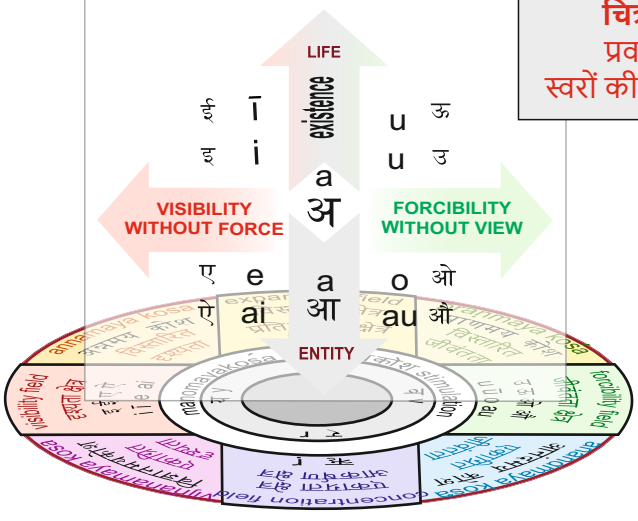

चित्र १७
प्रवाह में
स्वरों की अवस्थिति

चित्र १८ - व्यंजन तथा स्वरों की तालिका

व्यञ्जनों का विभाजन

	वर्तमान काल विद्या अघोश	वर्तमान काल अविद्या अघोश	भूत काल विद्या घोश	भूत काल अविद्या घोश	भविष्य काल अनुनासिक
प्रस्तुत रूप	त	थ	द	ध	न
विश्लेषित स्पष्टता (रस)	क	ख	ग	घ	ङ
व्युत्पन्न शक्ति (बल)	च	छ	ज	झ	ञ
अङ्गीकृत नाम	प	फ	ब	भ	म
अधिवासित प्रवाह	ट	ठ	ड	ढ	ण

अन्तस्थ व्यञ्जन
य
र
ल
व

ऊष्म व्यञ्जन
स
श
ष
ह

स्वरों का विभाजन

	अनित्य	नित्य	अनित्य इङ्गित	नित्य इङ्गित	शून्य अस्तित्व	सत्ता
अग्रस्वर जीवंतता रहित दृश्यता	इ	ई	ए	ऐ		
मध्यस्वर					अ	आ
पश्वस्वर दृश्यता रहित जीवंतता	उ	ऊ	ओ	औ		
काल स्वर	ऋ ऌ	ॠ ॡ				

(10) जीवंतता क्षेत्र; पञ्च स्वरों का वर्ग; जीवंतता के लिये आकाश -

[**उ**] - अंदर (अन्तर्वाह; छिपा; अप्रत्यक्ष; अदृश्य) सत्; के लिए।

[**ऊ**] - अंदर सत् (आंतरिक; आमद; भीतरी) को स्वीकार।

[**ओ**] - अप्रत्यक्ष इंगित सत्; सत् की दिशा में।

[**औ**] - सत् की स्वीकार (छिपा; निष्क्रिय; अन्तर्वाह; अंदर; अदृश्य) क्षमता; सत् की स्वीकार्यता।

(11) अन्य स्वरों का वर्ग; नाम-रूप के लिये आकाश -

[**ऋ**] - आत्म ध्यान केंद्रित सत्; आकर्षण सत्; केंद्रीकरण; सिकुड़ता सत्।

[**ऌ**] - प्रतिकर्षण; आत्म विस्तार सत्; फुलाव।

8.0 धातु-रूप का अर्थपूर्ण प्रतिनिधित्व

भारतीय भाषाविज्ञान के अनुसार, 'धातु' को शब्द के मूल और सबसे छोटे हिस्से के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो शब्दों के मूल व्याख्यात्मक अर्थ का प्रतिनिधित्व करता है। यह वैदिक संस्कृत व्याकरण का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है, जिसे शब्दों के शरीर का मौलिक तत्त्व माना जाता है, और संस्कृत भाषा में संकेत व्यक्त करने के लिए घटक के रूप में उपयोग किया जाता है। इन मौलिक तत्त्वों को विभिन्न मनोवैज्ञानिक संदेशों के मुखर प्रतिनिधित्व कहा जाता है, जिन्हें बौद्धिक प्रारूप में व्याख्या किया जा सकता है। भारतीय दार्शनिकों, विशेष रूप से पाणिनि ने मनोवैज्ञानिक अर्थों के साथ 3999 ध्वनियों (धातु) की खोज की। यद्यपि ये अर्थ वैज्ञानिक रूप से सिद्ध नहीं हैं, परन्तु यह जानना अत्यंत आश्चर्यजनक है कि वह आज भी शब्दों के सटीक अर्थ देते हैं। हमारा सिद्धांत धातुओं के घटकों को स्वनिम में विघटित करता है और उन्हें अपने अर्थपूर्ण मूल्यों से परिभाषित करता है। प्रत्येक धातु में ध्वन्यात्मकता द्वारा प्रदान की गई सीमाओं के भीतर अनेक मनोवैज्ञानिक अर्थ हो सकते हैं। जिन्हें अनुशासित रूप से विभिन्न व्यावहारिक अर्थों में उपयोग किया जा सकता है।

1. **अज् -** [हांकना] - [अ] अस्तित्व में [ज] ऊर्जा।
2. **अद् –** [खाना] - [अ] अस्तित्व [द्] प्रस्तुत।
3. **अन् -** [श्वास लेना] [अ] अस्तित्व का [न्] अधिग्रहण।
4. **अर्च् -** [स्तुति करना; to pray] - [अ] अस्तित्व में [र्] एकाग्रित [च्] जीवंतता।

5. **अर्ह् -** [योग्य होना] - [अ] अस्तित्व में [र्] निपुण (संकेन्द्रित) [ह्] काया।
6. **अस् -** [व्यक्त अस्तित्व] - [अ] अस्तित्व की [स्] अभिव्यक्ति।
7. **आप् -** [प्राप्त करना] - [आ] इकाई द्वारा [प्] प्राप्त उन्मुख।
8. **इष् -** [चाहना] - [इ] दृश्यता की ओर [ष्] संतृप्ति।
9. **ईक्ष् -** [देखना] - [ई] ग्रहणशील में [क्ष्] जीवंत चेतना।
10. **एज् -** [काँपना; ऊर्जा प्रदान करना] - [ए] प्रदर्श (इंगित) में [ज्] ऊर्जा।
11. **एध् -** [विकसित होना] - [ए] प्रदर्श (इंगित) में [ध्] स्थापित अस्तित्व।
12. **कम् -** [अनुरक्त होना] - [क] चेतना में [म्] आत्मसमर्पण उपलब्धता।
13. **कुप् -** [कुपित होना] - अंधापन ([क] चेतना में [ु] अदृश्यता) का [प्] अनुमोदन।
14. **कृत् -** [काटना; नष्ट करना] - [ृ] ध्यान केंद्रित [क] विघटन (ऊर्जा विहीन) में [त्] प्रस्तुत।
15. **कृष् -** [चीरना; झुकाना] - [ृ] ध्यान केंद्रित [क] विघटन (ऊर्जा विहीन) में [ष्] संतृप्ति।
16. **क्रन्द् -** [चिल्लाना] - [क्] सचेत [र] संलिप्तता की [न्] सक्रिय [द्] प्रस्तुति।
17. **क्रम् -** [डग भरना; पदार्पण करना] - [क्] सचेत (अनुशासित) [र] संलिप्तता में [म्] प्रस्तुत उपलब्धता।
18. **क्रुध् -** [क्रुद्ध होना] - [ु] अंधी (अदृश्य) [क्] सचेत [र] संलिप्तता में [ध्] अवधारणा प्रस्तुत।
19. **क्रुश् -** [चिल्लाना] - [ु] अंधी (अदृश्य) [क्] सचेत [र] संलिप्तता में [श्] शारीरिक प्रयास (शारीरिक शक्ति का अनुप्रयोग)।
20. **क्लृप् -** [के अनुरूप होना] - [क्] सचेत [ऌ] रूप (उत्सर्जन) का [प्] अनुमोदन।
21. **क्षम् -** [क्षमा करना; अनुमति; सहना] - [क्ष] सचेत जीवंतता में [म्] विनम्र उपलब्धता।
22. **क्षिप् -** [फेंकना] - [ि/ बहिर्वाह [क्ष] सचेत सक्रियण का [प्] अनुमोदन।
23. **खन् -** [खोदना] - [ख] बंद चेतना (अनावश्यक विश्लेषण) की [न्] क्रिया; बंधित चेतना के लिये कार्य करना।
24. **खाद् -** [शिकार करना; खाना] - [ख] चेतना (गैर जीवंतता) [ा] प्रदाता की [द्] प्रस्तुति।
25. **गा -** [गाना] - [ग] विवरण का [ा] प्रदाता।
26. **गाह् -** [डुबकी लगाना] - [गा] इकाई की स्पष्टता का [ह्] अंत।
27. **गुह् -** [छिपाना] - [गु] छिपी स्पष्टता की [ह्] भौतिक।
28. **गृ -** [गाना; जागना] - [ृ] आत्मकेंद्रित [ग] स्पष्टता।
29. **ग्रस् -** [निगलना] - [ग्] स्पष्ट [र] लीलने की [स्] अभिव्यक्ति।

30. **ग्रह् -** [पकड़ना] - के लिए भौतिक जगह [ग्] स्पष्ट [र] संलिप्तता [ह्] के लिए भौतिक जगह।
31. **चक्ष् -** [देखना] - [च] व्युत्पत्ति के प्रति [क्ष्] सचेत जीवंतता।
32. **चर् -** [चलना; भक्षण] - [च] सजीवता में [र्] संलिप्तता / लीलना।
33. **चाय् -** [ध्यान से देखना] - [च] चयन (व्युत्पत्ति) [ा] के द्वारा [य्] अवलोकन (प्रत्यक्ष अस्तित्व)।
34. **चि -** [चुनना; ध्यान से देखना] - [च] चयन (व्युत्पत्ति) में [ि] दृश्यता।
35. **जन् -** [प्रकट करना; उत्पन्न करना] - [ज] जीवंतता की [न्] अधिग्रहण।
36. **जि -** [जीतना] - [ज] शक्ति (दृढ़ता, ताकत और ऊर्जा) का [ि] प्रकट।
37. **जू -** [वेगवान् होना] - [ज] ऊर्जा की [ू] अन्तः स्वीकृति।
38. **ज्ञा -** [जानना] - [ज्ञ] ज्ञान (जीवंत स्पष्टता) की [ा] इकाई।
39. **ज्या -** [अभिभूत करना] - [ज्] जीवंत [य] अभिपुष्टि की [ा] इकाई से।
40. **तक्ष् -** [घड़ना; काटना; चीरना] - [त] पेशकश की दिशा में [क्ष्] गैर जीवंत सक्रियण; तीखा, काटने वाला।
41. **तन् -** [फैलाना, विस्तार करना] - [त] प्रस्तुति की ओर [न्] अधिग्रहण।
42. **तप् -** [तपाना, यन्त्रणा देना] - [त] तीव्र प्रस्तुति की ओर [प्] सहिष्णुता (अनुमोदन); स्व के अहं का समर्पण करना।
43. **तुद् -** [चुभोना; प्रहार करना] - [ु] अन्तर्वाह [त] प्रस्तुत तीव्रता [द्] प्रस्तुत करने; तीव्रता की प्रस्तुति करना।
44. **तृप् -** [तृप्त होना] - [ृ] स्व-केंद्रित [त] प्रस्तुति के प्रति [प्] संतृप्ति (अनुमोदन); स्वयं में संतुष्ट होना।
45. **त्यज् -** [त्यागना] - [त्य] पुष्टि प्रस्तुति में [ज्] जीवंतता।
46. **त्रस् -** [थका; त्रस्त होना] - [त्र] आत्मसमर्पण संलिप्तता की [स्] अभिव्यक्ति।
47. **दध् -** [विश्वास की प्रस्तुति] - [द] प्रस्तुति में [ध्] अवधारणा।
48. **दह् -** [जलाना] - [द] प्रस्तुति में [ह्] समाप्त होने।
49. **दा –** [देना] - [दा] प्रस्तुतीकरण।
50. **दीप् -** [चमकना] - [दी] प्रस्तुति को उजागर करने का [प्] अनुमोदन।
51. **दुह् -** [दुहना] - [ु] अंदर से [द] प्रस्तुत वजूद की [ह्] भौतिक उपलब्धता।
52. **दृप् -** [उन्मत्त होना] - अहंकार ([ृ] स्व-केंद्रित [द] प्रस्तुति) का [प्] अनुमोदन।

53. **दृश् -** [देखना; अनुभव करना] - [द्] स्व-केंद्रित प्रस्तुति (लिप्तता) का [श्] जीवंत अनुभव।
54. **दृह् -** [दृढ़ बनना] - लिप्तता ([ृ] स्व-केंद्रित [द] प्रस्तुति) में [ह्] ठोस (भौतिक)।
55. **धाव् -** [दोड़ना] - [धा] उद्देश्य (स्थापित) की दिशा में [व्] बलपूर्वक प्रवाह।
56. **धूष् -** [शब्द करना] - [ू] अंतर्निहित [ध] अवधारणा के लिये [ष्] सक्रियण इच्छा।
57. **धृ -** [धारणा में रहना] - [ृ] आत्म केंद्रित [ध] अवधारणा में रहना। धारणा में रहना
58. **नक्ष् -** [प्राप्त करना] - [न] अधिग्रहण के प्रति [क्ष्] सचेत जीवंतता।
59. **नम् -** [झुकना] - [न] गैर अहंकार की [म्] प्रस्तुत उपलब्धता।
60. **निन्द् -** [निन्दा करना] - [ि/ प्रत्यक्षतः [न] हीनता की [न्] सक्रिय [द्] प्रस्तुति।
61. **पच् -** [पकाना] - [प] अनुमोदन के लिए [च्] जीवंतता की व्युत्पत्ति।
62. **पा -** [पीना; रक्षा करना] - [प] सुरक्षा / अधिग्रहण / अनुमोदन का [ा] कर्ता।
63. **पृ -** [संचालन करना] - [ृ] आत्म केंद्रित अनुसार [प] अभिग्रहण / अनुमोदन।
64. **प्रथ् -** [स्थापित करना] - [प्] स्वीकार्य [र] संलिप्तता की [थ्] स्थापना।
65. **प्री -** [प्रसन्न करना] - [ी] प्रकाशित [प्] स्वीकार्य [र] संलिप्तता।
66. **बन्ध् -** [बांधना] - [ब] प्रतिबंध के साथ [न्] अधिगृहीत [ध्] अवधारणा।
67. **भक्ष् -** [खाना] - [भ] स्वच्छंद अधिग्रहण में [क्ष्] सचेत जीवंतता।
68. **भञ्ज् -** [तोड़ना] - [भ] स्वच्छन्द (लापरवाही) अधिग्रहण में [ञ्] उत्सुक [ज्] शक्ति।
69. **भा -** [चमकना] - [भ] मुक्त-स्वीकृति में [ा] इकाई; इकाई का दिखाई देना।
70. **भिक्ष् -** [मांगना] - [भि] प्रत्यक्षत: स्वच्छन्द अधिग्रहण के लिये [क्ष्] सचेत जीवंतता।
71. **भी -** [डरना] - [ी] उजागर [भ] असुरक्षित] अनियंत्रित अधिग्रहण।
72. **भू -** [होना] - [ू] अन्तः स्वीकृत [भ] स्वच्छन्द अधिग्रहण; स्वीकृत विद्यमानता।
73. **भृ -** [धारणा करना] - [ृ] आत्म केंद्रित [भ] स्वच्छन्द अधिग्रहण।
74. **मी -** [क्षति पहुँचाना] - [ी] उजागर [म] अस्वीकार्य उपलब्धता।
75. **मुच् -** [बाहर निकाल लेना] - [ु] आन्तरिक [म] अस्वीकार्य उपलब्धता में [च्] ऊर्जा; अंदर से अस्वीकृति।
76. **मुद् -** [आनन्दित होना] - [ु] आन्तरिक [म] पदार्थ (माया) में [द्] प्रस्तुति।
77. **मृ -** [मरना; कुचला जाना] - [ृ] आत्म केंद्रित [म] अस्वीकृत उपलब्धता।
78. **मृण् -** [कुचलना] - [ृ] आत्म केंद्रित [म] अस्वीकृति का [ण्] निष्पादन।
79. **यज् -** [यज्ञ करना] - [य] प्रतिज्ञान / दृश्यता में [ज्] सजीवता।

1. **युज्** - [जोड़ना] - [ु] अंदरूनी [य] अभिपुष्टि की ओर [ज्] जीवंतता।
2. **रक्ष्** - [रक्षा करना] - [र] संलिप्तता में [क्ष्] सचेत जीवंतता।
3. **राज्** - [शासन करना] - [र] संलिप्त [ा] सत्ता में [ज्] जीवंतता।
4. **रुद्** - [रोना] - [ु] अंतर्मुखी [र] लिप्तता की [द्] प्रस्तुति।
5. **लभ्** - [प्राप्त करना] - [ल] विस्तार में [भ्] स्वतंत्र अर्जन।
6. **लिप्** - [लीपना] - कवर ([ि] दृश्य [ल] विस्तार) के लिए [प्] अनुमोदन।
7. **वच्** - [बोलना] - [व] अवधारणा (अन्त: स्थित माया) की [च्] बाह्य जीवंतता।
8. **वज्** - [सुदृढ़ करना] - [व] अन्त: स्थित में [ज्] बल।
9. **वद्** - [बोलना] - [व] अवधारणा (अन्त: स्थित माया) की [द्] बाह्य प्रस्तुति।
10. **वन्द्** - [नमस्कार करना] - [व] अहं (अन्त: स्थित) की [न्] अहंकार-रहित [द्] प्रस्तुति।
11. **वर्च्** - [रोशनी; आलोक] - [व] अन्त: में स्थित रोशनी ([र्] सन्लिप्त [च्] उर्जा)।
12. **वस** - [रहना] - [व] अन्त: स्थित रहने का [स] व्यक्त भाव।
13. **शिक्ष्** - [सीखना] - [ि] प्रकट [श] सीख में [क्ष्] सचेत जीवंतता।
14. **सप्** - [सेवा करना] - [स] व्यक्त का [प्] अनुमोदन करना।
15. **स्तु** - [स्तुति करना] - [ु] स्वीकार्य [स्] अभिव्यक्ति [त] प्रस्तुत करना }।
16. **स्वन्** - [कोलाहल करना; ध्वनि] - [स्] अभिव्यंजनीय [व] बल का [न्] कर्म।
17. **स्वर्** - [शब्द करना; ध्वनि करना] - [स्व] व्यक्त तेज अस्तित्व में [र्] संलिप्तता
18. **ह्** - [शारीरिक रूप से लेना] - [ृ] आत्म केंद्रित [ह] भौतिक उपलब्धता।

9.0 वैदिक शब्दावली

1. **ॐ ; om** – [उ] अन्तर्वाह, [इ] बहिर्वाह, और [अँ] स्वयं प्रवाह; सभी तीन दिशाओं में; त्रिपाद।
2. **अकल्पयन्** - [अ] अस्तित्व में [क] चेतना का [ल्प] विस्तारात्मक अनुमोदन [य] प्रत्यक्ष सत् का [न्] कृत्य; कल्पना का कृत्य
3. **अक्ष** - [अ] सत् विहीन अस्तित्व में [क्ष] योग्यता (सचेत जीवन्तता); आलम्बात्मक योग्यता

4. **अक्षर ब्रह्म** - [अ] अस्तित्व स्थित [क्ष] संदेश (सचेत सक्रियता) में [र] संलिप्तता; अस्तित्व स्थित संदेश में संलिप्तता; 'अक्षर' इकाई का आकार-चरित्र है, जो इकाई की संलिप्तता को दिशा प्रदान करता है; माया (सत् से अभावित अस्तित्व) के प्रति जागरूक सक्रियण में संलिप्तता; अक्ष जो कि अव्यय के चार कोशों से अव्यक्त संकेत प्रदान करता है, परस्पर संलिप्तता के कारण व्यक्त हो अक्षर बन जाता है। व्यावहारिक रूप से यह इकाई का स्वभाव माना जाता है, जिसे व्यक्ताव्यक्त भी कहा जाता है।
5. **अक्षाः** - अक्ष में कर्ता भाव।
6. **अग्नायी** - [अ] अस्तित्व में [ग्ना] उत्तेजना (स्पष्ट शून्य संलिप्तता) के [यी] दृश्य अस्तित्व का उजागर; उत्तेजना को उजागर करना।
7. **अग्नि** - [अ] अस्तित्व में [ग्] स्पष्टता (गुण, गति, द्रव्य) के लिए [नि] भूख (अशनाया)। 1. जिज्ञासा (प्रकट ज्ञान शून्यता) - अस्तित्व में गुणों को स्पष्ट करने के लिए भूख। 2. उत्तेजना (प्रकट गति शून्यता) - अस्तित्व में गति को स्पष्ट करने के लिए भूख। 3. लालसा (प्रकट मात्रा-शून्यता) - अस्तित्व में मात्रा को स्पष्ट करने के लिए भूख।
8. **अग्नि र्होता** - [अग्नि] अग्नि (अशनाया) [र्हो] द्वारा स्थूल (असत्) की दिशा में [ता] प्रस्तुत उन्मुखता; अग्नि (अशनाया) द्वारा स्थूल (असत्) प्राप्ति के लिये।
9. **अग्निना** - [अग्नि] अग्नि की [ना] पहचान।
10. **अग्ने** - [अग्नि] अग्नि (अशनाया) के [ए] इंगित में।
11. **अङ्गिरसः** - [अ] अस्तित्व में [ङ्गि] प्रत्यक्षत: जीवंत स्पष्टता में [र] संलिप्तता की [स] अभिव्यक्ति; स्पष्टता में संलिप्तता।
12. **अङ्गूठे** - असत् [अ] अंतर्विलीन होती स्पष्ट [ग्] में इंगित [ठे] ठहराव ; असत् को पकड़ने का भाव। इंगित में ठहराव।
13. **अज एकपात्** - [अ] अस्तित्व में [ज] जीवंतता [एक] लक्ष्य (संकेत के प्रति चेतना) [पात्] प्राप्त अनुमोदन करने की प्रत्यक्ष उत्सुकता; जीवंतता में लक्ष्य के प्रति उत्सुकता; प्रयत्न
14. **अजायत** - अस्तित्व [अ] में जीवन्त सत्ता का [जा] प्रत्यक्ष सत् [य] का प्रस्तुत उन्मुख [त]; उत्पन्न होने का प्रत्यक्ष भाव।
15. **अजायन्त** - [अ] अस्तित्व [जा] में जीवन्तता की [यन्त] प्रत्यक्षता का किया हुआ प्रस्तुत; अस्तित्व में जन्म होने का भाव।
16. **अजायवः** - [अ] अस्तित्व [जा] में जीवन्त सत्ता [य] का छिपे सत् [वः]; छिपी जीवन सत्ता।
17. **अतन्वत** - [अ] अस्तित्व में [त] प्रस्तुत [न्व] अंगीकृत छिपाव का [त] भाव; अंतर्मुखिता।
18. **अति** - [अ] सत् शून्य अस्तित्व में [ति] प्रत्यक्ष बाह्य प्रस्तुति; गहराई से; मात्रात्मक प्रस्तुति।

19. **अतिख्य** - [अ] अस्तित्व का [ति] प्रत्यक्ष भाव का [ख्य] स्थान उपलब्धात्मक प्रत्यक्ष; प्रत्यक्षता के लिये स्थान उप्लब्धता।
20. **अतिरोहति** - [अति] ज्यादा [रो] संलिप्तता कि दिशा में [ह] भौतिक [ति] प्रत्यक्ष प्रस्तुति; प्रत्यक्ष प्रस्तुति में ज्यादा संलिप्तता; विकास का कारण।
21. **अतिष्ठत्** - [अ] अस्तित्व की [ति] प्रत्यक्ष प्रस्तुति में [ष्] व्यापक [ठ] ठहरता हुआ [त्] भाव; स्थिर होता हुआ भाव
22. **अथर्व** - [अ] अस्तित्व की [थ] स्थापना का [र्व] रहस्य (संलिप्त छिपा अस्तित्व); अस्तित्व की स्थापना का रहस्य; इस ब्रह्मांड में सभी संस्थाओं के सर्जन को समझाते हुए बुनियादी सिद्धांत।
23. **अथर्वा** - अथर्व की सत्ता।
24. **अथर्वाणः** - अथर्व के लिये स्थानिक उपलब्धता।
25. **अथा** - [अ] अभाव में [था] स्थापित सत्ता के; स्थापित सत्ता के अभाव के; स्थापित सत्ता के सत् विहीन अस्तित्व में।
26. **अथो** - अस्तित्व [अ] स्थापन उन्मुख दिशा में [थो]; स्थापित का अस्तित्वगत होना; वजूद की स्थापित दिशा
27. **अदितिः** - [ति] मात्रा (दृश्यमान प्रस्तुतीकरण) की [दि] बहिर्वाह प्रस्तुति का [अ] अभाव; मात्रा का अर्थ है 'दैत्य'; 'दैत्य' का अभाव
28. **अद्वैत** - [अ] अनुपस्थिति में [द्वै] दूसरी (प्रस्तुत अदृश्यता) की दृश्यता [त] प्रस्तुत करना; दूसरे की अनुपलब्धता।
29. **अधि** - [अ] अस्तित्व [धि] प्रत्यक्ष धारण; स्थापित।
30. **अनु** - [अ] अस्तित्व के [नु] स्वीकार्य अधिग्रहण।
31. **अनुमतिः** - [अ] अस्तित्व के [नु] स्वीकार्य क्रिया की [म] उपल्ब्धित [ति] बाह्य प्रस्तुति; क्रिया की स्वीकार्यता की प्रस्तुति।
32. **अनुमान** - [अ] अस्तित्व के [नु] स्वीकार्य क्रिया में [मा] उपल्ब्धित सत्ता का [न] अधिग्रहण; क्रिया की स्वीकार्यता की प्रस्तुति।
33. **अनुमान प्रमाण** - तार्किकता पर आधारित प्रमाण।
34. **अन्तमानां** - [अ] अस्तित्व के [न्त] शून्य भाव में [मा] उपलब्धता को [नां] अंगीकरण की इच्छा; अन्तः में होती हुई अंगीकरण की इच्छा का होने से।
35. **अन्तरिक्षं** - [अन्त] रिक्तता में [रि] प्रत्यक्ष संलिप्तता की [क्ष] योग्यता; अंत:प्रक्रिया के लिये स्थान।

36. **अन्न** - [अ] अस्तित्व में [न्] खालीपन का [न] अभाव; संलिप्तता में उपलब्ध विविधता।

37. **अन्नमयकोश** - यह अव्यय ब्रह्म का वह भाग है जो 'असमानताओं' को स्वीकार करने, प्रदान करने और संगृहीत करने के लिए ज़िम्मेदार है। यहाँ असमानताएं अव्यक्त रूप में रहती हैं।

38. **अन्नाद** - [अन्न] विद्यमान की [आ] इकाई [द] की प्रस्तुति; अन्न का वाहक; अस्तित्व द्वारा सक्रिय शून्य इकाई की प्रस्तुति; तरंग; अन्न के लिये उपलब्ध नाद।

39. **अन्नेन** - [अन्न] सत् (क्षर) की [एन] इंगित दिशा में निरन्तर स्वीकृति उत्सुक; अन्न के प्रति स्वीकृति उत्सुकता है; इंगित दिशा में सत् की स्वीकृति; अन्न का अङ्गीकरण।

40. **अपां नपात्** - [अ] अस्तित्व में [पां] अधिग्रहण की क्षमता के द्वारा वस्तु-संबंधी [न] रिक्तता के लिए [पा] अनुमोदन [त्] प्रस्तुत करना; अस्तित्व को खाली करने की क्षमता।

41. **अप्वा** - [अ] अस्तित्व में [प्वा] स्वीकार्य छुपा अस्तित्व; अदृश्य पदार्थ; हवा।

42. **अबध्नन्** - [अ] अभाव [ब] बंधन की [न्ध] क्रियात्मक धारणा [न्] क्रिया; बंधन का न होना; स्वतंत्रता।

43. **अभवत्** - [अ] अस्तित्व में [भ] किये हुए अङ्गीकरण के [व] छिपे अस्तित्व का [त्] प्रस्तुत; हुआ है; स्व स्वभाव का प्रदर्शन।

44. **अभाशवः** - [अ] अस्तित्व में [भा] मुक्त अधिग्रहण द्वारा [श] प्रयुक्त भौतिक शक्ति का [व] अदृश्य अस्तित्व; अदृश्य भौतिक ताकत का उपयोग करना।

45. **अभि** - [अ] सत् [भि] का बिना शर्त स्वीकृत; सत् का बिना शर्त स्वीकृत; अभिलषित।

46. **अमावस्या** - [अ] अस्तित्व की [मा] उपलब्धता में [व] अंधेरे (पूर्ण छिपी हुई अस्तित्व) की [स्या] अभिव्यक्त दिखाई देयता; अस्तित्व की उपलब्धता में व्यक्त अदृश्यता; इस अदर्शन में भौतिक प्रकाश, मनोवैज्ञानिक चेतना और तर्क अनुप्रयोगों की अनुपलब्धता शामिल है; अस्तित्व में गैर स्वीकार्य सत्ता द्वारा पूर्ण छिपे अस्तित्व की व्यक्त दिखाई इकाई; चेतना के गैर अनुमोदन के कारण छिपे अस्तित्व की परिपूर्णता।

47. **अमृतं** - [मृतं] मृत होने का [अ] अभाव; निरन्तर।

48. **अमृत्वस्य** – [अ] सत् विहीन [मृ] केंद्रित मृत [त्व] प्रस्तुत छिपा सत् [स्य] व्यक्त प्रत्यक्ष सत्; मृत्यु विहीनता से सम्बंधित; अव्यय; निरन्तर का संवाहक।

49. **अरण्यानी** - [अ] अस्तित्व में [र] संलिप्तता की [ण्या] विशाल दृश्यता में [नी] शून्यता को उजागर करना; अस्तित्व में शून्यता को उजागर करना; रेगिस्तान; अस्तित्व में निरंतर अधिग्रहण करने को उजागर करना; बड़ा जंगल।

50. **अरिः** - [अ] अस्तित्व में [रिः] प्रत्यक्ष एकाग्रता; अस्तित्व में प्रत्यक्ष एकाग्रता; जुड़ा हुआ।

51. **अरिच्यत** - [अ] अस्तित्व [रि] का प्रत्यक्ष अंगीकृत एकाग्र [च्य] को संकलनात्मक प्रत्यक्ष [त] का भाव; अंगीकृत कर संकलन करने।

52. **अर्द्धनारीश्वर** - नाम - रूप के संयोग से उत्पन्न प्राकट्यता।

53. **अन्त:प्रक्रिया** - विभिन्न आंतरिक असंतुलनों को हल करना।

54. **अवधूत** - [अ] अस्तित्व में [व]अंत: स्थित [धू] विलीन धारणाओं के लिये [त] प्रस्तुत उन्मुख; धारणाओं को अस्वीकार करने वाला; दार्शनिक ।

55. **अवनिः** - [अ] अस्तित्व में [व] छिपी [निः] अंगीकरण इच्छा; आंतरिक इच्छा।

56. **अविद्या** - [वि] अनुबोध (जाहिर छिपे अस्तित्व) की [द्या] प्रस्तुत सकारात्मक इकाई का [अ] अनुपलब्ध अस्तित्व; विद्यमानता के लिये खाली स्थान की उपलब्धता अविद्या कहलाती है। प्रकाश के लिये अंधेरा अविद्या है, स्पंदन के लिये आधार अविद्या है, माया के लिये ब्रह्म अविद्या है, ज्ञान के लिये जिज्ञासा अविद्या है।

57. **अविर्मुखी** - [अ] सत् शून्य अस्तित्व [वि:] प्रत्यक्ष छिपे सत् के द्वारा [मुखी] मुखी; अर्थात् छिपे सत् के अस्तित्व की तरफ मुखित होना अर्थात्। छिपे सत् को देखना।

58. **अव्यक्त** - [व्य] छिपे सकारात्मक अस्तित्व की [क्त] सचेत प्रस्तुति का [अ] अनुपलब्ध अस्तित्व; ज्ञेय की अनुपलब्धता।

59. **अव्यय** - [अ] अभाव में [व्य] संगृहीत दृश्य अस्तित्व का [य] बहिर्वाह; व्यय का अभाव; संस्था का अपरिवर्तनीय पक्ष; यह एक इकाई का बुनियादी ढांचा है, जो कभी भी परिवर्तन नहीं होता है, और इकाई को अन्तर्वाह और बहिर्वाह की क्षमता प्रदान करता है। इसे ब्रह्म-अंश माना जाता है। इसे इकाई का अस्तित्व, इकाई का जीवन सूत्र, व परात्पर ब्रह्म का अंश भी माना जाता है।

60. **अश्व** - [अ] अस्तित्व [श्] में जीवन्त अनुभूत्यात्मक [च] व्युत्पन्न उन्मुख; अस्तित्व में बल की व्यत्पुत्ति।

61. **अश्वः** - [अ] अस्तित्व के [श्वः] भीतर शक्ति का अनुप्रयोग।

62. **अश्विनी** - [अ] इकाई में [श्वि] छुपी शक्ति के [नी] अधिग्रहण को उजागर; इकाई में निरंतर शक्ति प्राप्त करना; हमारे पास दो प्रकार की शक्ति है: विश्लेषण करने की शक्ति, मजबूत बनाने की शक्ति; 'अश्व' के रूप में कार्य को उजागर करना; अस्तित्व में छिपे अस्तित्व से संबंधित शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग के उजागर क्षमता; अस्तित्व में शक्ति का छिपा हुआ अनुप्रयोग।

63. **अश्वा** - [अ] अस्तित्व [श्] में बलात्मक [वा] छिपी सत्ता; अस्तित्व में बल (आश्रय की सत्ता)।

64. **अश्वाजनी** – [अश्व] 'अश्व' की [ज] व्युत्पन्न सजीवता के [नी] कार्य को उजागर करना।

65. **अष्टमी** - पुरुष तत्त्व के उद्भव का समय।

66. **असुनीतिः** - [अ] अनुपस्थिति में [सु] स्वीकार्य अभिव्यक्ति के [नी] व्यवस्था को उजागर करने की [ति] दृश्य प्रस्तुति।

67. **असुर** - [सु] स्वीकार्य अभिव्यक्तियों में [र] संलिप्तता की [अ] अनुपलब्धता; मात्रा; गुणों (स्वीकार्य अभिव्यक्तियाँ में संलिप्तता) की अनुपलब्धता

68. **अस्ति** - [अ] अस्तित्व की [स्ति] उपलब्धता (व्यक्त प्रत्यक्ष प्रस्तुति); अस्तित्व की उपलब्धता।

69. **अस्य** - [अ] अस्तित्व का [स्य] व्यक्तात्मक प्रत्यक्ष सत्; यह; इसका।

70. **अहन्या** - [अ] अस्तित्व के [ह] मात्रा (स्थूल); भौतिक पहलू में [न्या] निरंतर दृश्य की सत्ता; स्थूल मात्रा की निरंतर दृश्य सत्ता; निरंतरता।

71. **अहिः** - [अ] अस्तित्व का [हि] दृश्य शरीर; दिखाई देती इकाई।

72. **अहिर्बुध्यः** - [अ] अस्तित्व के [हि] दृश्य शरीर के [र्बु] बहिर्वाह सीमाओं में संलिप्तता की [ध्य] धारणात्मक सक्रिय प्रत्यक्ष अस्तित्व; संस्कार।

73. **आ वरम्** - [आ] सत्ता का [व] आन्तरिक सत् में [र] एकाग्र [म्] होना; सत्ता में अंगीकार होना।

74. **आकाश** - [आ] इकाई द्वारा [का] चेतनता की [श] जीवंत प्रयोज्यता; इकाई द्वारा चेतनता की जीवंत प्रयोज्यता; अंतरिक्ष निष्पादन की क्षमता है; इकाई में चेतना की सक्रिय क्षमता; इकाई में चेतना की सीमा; क्षमता।

75. **आगहि** - [आ] सत्ता में [ग] स्पष्ट [हि] प्रत्यक्ष प्राकट्यता; सत्ता में स्पष्ट प्रत्यक्ष प्राकट्यता प्रदान करती है।

76. **आज्यम्** - सत्ता [आ] में जीवन्तात्मक प्रत्यक्ष [ज्य] होना [म्]; सत्ता में जीवन्त का प्रकट होना।

77. **आथ** - [आ] इकाई द्वारा [थ] स्थापित प्रस्तुति; इकाई द्वारा स्थापित प्रस्तुति; इकाई में स्थापित भावना; अर्थ।

78. **आदित्य** - [आ] इकाई में [दि] दृश्य प्रस्तुति का [त्य] बोध (प्रस्तुत प्रतिज्ञान); इकाई में दृश्य प्रस्तुति का बोध; हमारे पास बारह प्रकार के 'बोध' हैं; संस्था द्वारा देखने योग्य प्रस्तुति का प्रस्तुत प्रतिज्ञान]

79. **आधिदैविक** - [आ] इकाई में [धि] प्रतिज्ञान धारित [दैव] गुणों (प्रस्तुत कार्रवाई की दृश्यता का छिपी अस्तित्व) से [इक] संबंधित; इकाई में आयोजित गुण से संबंधित; एक इंसान के लिये यह आंतरिक स्पष्टता, मानसिक जिज्ञासा, ज्ञात चीजों के लिए तर्क से संबंधित है।

80. **अध्यात्मिक** - [आ] इकाई में [य] प्रतिज्ञान धारित [आत्म] स्वयं-संस्था से [इक] सम्बन्धित; इकाई में आयोजित स्वयं-संस्था से संबंधित; यदि इकाई एक इंसान है, तो यह आंतरिक ताकत, मानसिक शांति, कुछ अज्ञात चीज़ों पर आधारित है। आत्म तत्त्व पर आधारित।

81. **आनंद** - [आ] इकाई में [न] अधिग्रहण की [न्द] सक्रिय प्रस्तुति; अधिग्रहण / समर्थन में खुशी; संस्था द्वारा अधिग्रहण की क्षमता के सक्रिय प्रस्तुत; प्राप्त करने की क्षमता; खुशी का कारण।

82. **आनंदमयकोश** - यह अव्यय ब्रह्म का वह भाग है जो 'आलम्बन' को स्वीकार करने, प्रदान करने और संगृहीत करने के लिए ज़िम्मेदार है। यहाँ आलम्बन अव्यक्त रूप में है।

83. **आपः** - [आ] इकाई का [प] अनुमोदन; संस्था द्वारा अनुमोदन; क्यों कि पानी प्रत्येक पदर्थ को अनुमोदित करता है, इसे आप् कहा जाता है।

84. **आपण** - [आ] सत्ता [प] के अनुमोदन के लिये स्थान [ण]; हर प्रकार की स्वीकृति के लिये स्थान; गुण, गति, द्रव्य, तीनों की स्वीकृति के लिये स्थान उपलब्धता।

85. **आप्त्याः** - [आ] संस्था द्वारा [प्त्या] स्वीकार्य प्रस्तुत/आत्मसमर्पण भाव दृश्य; द्रव्यता।

86. **आरण्या** – [आ] सत्ता [र] संलिप्त [ण्या] अव्यवस्थित प्रत्यक्षता।

87. **आर्त्री** - [आ] इकाई [र्त्री] द्वारा विनम्र सम्बद्धता को उजागर; व्यथित होने का उजागर।

88. **आलम्बन** - [आ] सत्ता में [ल] विस्तृत [म्ब] उपलब्ध बंधन मे [न] अंगीकरण; अवलंब

89. **आशवे** - [आ] सत्ता में [श] जीवन्त अनुभूति का [वे] इंगित छिपा सत्; संस्कारों में ऊर्जावान् होना।

90. **आशुम** - [आ] सत्ता में [शु] स्वीकृत जीवन्त अनुभूति (ऊर्जावान्) [म] होना; सत्ता में ऊर्जावान् होना।

91. **आसन** - [आ] संस्था द्वारा [स] भौतिक वस्तु (अभिव्यक्ति) का [न] अधिग्रहण; भौतिक वस्तु का अधिग्रहण करने वाला; मंच; लोक; पटल।

92. **आसीत्** - [आ] सत्ता की [सी] बाह्य प्रत्यक्ष व्यक्त की [त] प्रस्तुति; हुआ; था; है।

93. **आसुरी** - [आ] असत् द्वारा [सु] अन्तर्मुखी व्यक्त का [री] प्रत्यक्ष होता हुआ एकाग्र; असत् का सत्ता के अंदर प्रवेश।

94. **आस्तिक** - [अस्ति] होने में [इक] दृश्य चेतना; वेदों के अस्तित्व के होने में चेतना।

95. **आहुः** - [आ] इकाई द्वारा [हुः] भौतिक पदार्थ की स्वीकृति; भौतिक इकाई द्वारा ब्रह्माण्ड संबंधी पदार्थ की स्वीकृति; जैविक संस्था द्वारा भौतिक पदार्थ की स्वीकृति; मनोवैज्ञानिक इकाई द्वारा जैविक पदार्थ की स्वीकृति; बौद्धिक इकाई द्वारा मनोवैज्ञानिक पदार्थों की स्वीकृति; स्मृति बद्ध करना; स्मृति में दिव्य रूपान्तरण।

96. **इज्या** - [इ] दृश्यता की [ज्या] सजीव गोचर सत्ता; दृश्यता की सजीव गोचर सत्ता; ज्ञान का स्रोत; यज्ञ।

97. **इदेवेष** - प्रत्यक्ष [इ] विशिष्ट देवों [देव] व्याप्त हो [इष]; संबन्धित देवों में व्याप्त हो।

98. **इद्** - [इ] प्रत्यक्ष [द्] प्रस्तुतत्त्व; यह।

99. **इद्दुव** - [इ] प्रत्यक्ष [द्दु] अन्तः प्रस्तुत होता हुआ [व] छिपा सत्; ग्रहणबोध।

100. **इध्मः** - [इ] दृश्यमान में [ध्म] सांबोधिक प्रस्तुत उपलब्धता; इच्छाशक्ति का निष्पादन।

101. **इन्दुः** - [इ] बहिर्वाह-उजागर करने की [न्दु] स्वीकार्य सक्रिय प्रस्तुति; सक्रियण की स्वीकृति।

102. **इन्द्रं** - [इ] प्रकट (तर्क, सूत्र, विश्वास) में [न्] सक्रिय [द्] प्रस्तुत [र] संलिप्तता; 1। विष्णुमाया; प्रज्ञा - प्रकट तर्क में सक्रिय प्रस्तुत संलिप्तता। 2। ब्रह्ममाया; नियंत्रक - प्रकट सूत्र में सक्रिय प्रस्तुत संलिप्तता।3। शिवमाया; शौर्य - प्रकट विश्वास में सक्रिय प्रस्तुत संलिप्तता। इंद्र सोम (समय) और अग्नि (उत्तेजना) की मदद से, उपर्युक्त तीनों के समन्वय से इकाई को नियंत्रित करता है, तथा अक्षर ब्रह्म की पाँच कलाओं का प्रादुर्भाव करता है; प्रकट सक्रियता; इकाई का नियंत्रक भाग; कर्ता।

103. **इन्द्राणी** - [इन्द्रा] इंद्र की सत्ता की [णी] क्रियांवित क्षमता; वितान को उजागर करना।

104. **इळः** - [इ] दृश्यता की [ळ] त्वरित् विस्तारित इकाई।

105. **इव** - [इ] प्रत्यक्ष [व] छिपा सत्; इस प्रकार कि; की तरह।

106. **इषुः** - [इ] प्रकट में [षु] स्वीकार्य इच्छा; लक्ष्य; तीर।

107. **इषुधिः** - [इ] प्रकट में [षु] स्वीकार्य इच्छा को [धि] प्रत्यक्ष धारण करना; लक्ष्य धारण करना।

108. **इष्ट** - [इ] प्रकट में [ष्ट] इच्छुक स्थिति; प्रकट वांछित स्थिति; विशिष्ट इच्छित स्थिति।

109. **इष्ट** - बहिर्वाह में वांछित सक्रियण; विशिष्ट वांछित दिशा में बहिर्वाह।

110. **इह** - [इ] प्रत्यक्ष [ह] भौतिक रूप से; यहाँ।

111. **ईळे** - [ई] निरन्तर प्रत्यक्ष होती हुई [ळे] इंगित सक्रियित विस्तार; लपट।

112. **ईशानो** - [ई] बाह्य प्रत्यक्ष सत् [शा] अनुभूत जीवन्तता (प्रेरित) में [नो] अंगीकृत उत्सुक की दिशा में; बाह्य प्रत्यक्ष संकेतों की अनुभूति द्वारा अंगीकरण की दिशा।

113. **ईश्वर** - [ई] प्रतिपादन में [श्व] जीवंत महसूस अदृश्य अस्तित्व में [र] संलिप्तता; प्रतिपादन (उजागर) में जीवंत महसूस अदृश्य अस्तित्व में संलिप्तता।

114. **उच्येते** – [उ] अंदर से [च्ये] व्युत्पन्न इंगित प्रत्यक्ष [ते] इंगित प्रस्तुति; अंदर से बाहर प्रस्तुतीकरण; कहना।

115. **उत** - छिपा भाव; वह; उस; अप्रत्यक्ष प्रस्तुति।

116. **उत्तम** - [उ] अंदर से [त्त] 'समर्पित प्रस्तुति' में [म] होना; अहंकार विहीन होना।

117. **उत्तर** - [उ] अंदर से [त्त] भाव प्रस्तुति में [र] संलिप्तता।

118. **उत्तानपाद** - [उ] अंदर से [त्ता] भाव प्रस्तुतता की [न] क्रिया की अनुमोदनता [पा] में प्रस्तुति [द]; आत्मविश्वास के साथ अंदर से भाव प्रस्तुति।

119. **उदैत्** - [व] छिपे अस्तित्व में [दै] प्रस्तुति का दृश्यता की [त्] प्रस्तुत उन्मुख; अव्यक्त में से व्यक्त होना।

120. **उप** - [उ] अप्रत्यक्ष का [प] अनुमोदन; अन्तः अनुमोदन।

121. **उपनिषद्** - [उ] सुन (अंत:प्रवहन) के [प] अनुमोदन द्वारा [नि] जिज्ञासा (गोचर अधिग्रहण) के लिये [षद] प्रस्तुत व्याप्त इच्छा; जिज्ञासा की पूर्ति।

122. **उर्जा** - [ऊ] अंदर से स्वीकार [र्जा] ऊर्जा में संलिप्तता।

123. **उर्वशी** - [उ] अंतर्मुखिता में [र्व] संलिप्त छवि से [शी] जीवंत अनुभूति का उजागर; जीवंत अनुभूति युक्त छवि का अन्तर्वाह।

124. **उलूखलम्** - [उ] अन्तर्मुखिता के [लू] आन्तरिक फैलाव में [ख] चेतन विहीन (अविद्या) [ख] विस्तार होना; अन्त:मस्तिष्क के आन्तरिक फैलाव में संकेत विस्तारित होते रहते हैं।

125. **उषाः** - [उ] स्वीकृति के लिए [षा] उभरते सक्रियण; 1। गुण - स्वीकृति के लिए उभरते विश्लेषण (सुबह की रोशनी); 2। गति - स्वीकृति के लिए उभरती गति (तीर की बेटी); और 3। द्रव्य- स्वीकृति के लिए निरन्तर उपलब्धता (अनिरुद्ध की पत्नी)।

126. **उषासा-नक्ता** - [उ] स्वीकृति के लिए [षा] उभरते सक्रियण की [सा] व्यक्तता - [न] शून्यता से [क्ता] सचेत निरन्तर प्रस्तुति; आंतरिक अनुमोदन।

127. **ऊतये** - [ऊ] स्व स्थित [त] भाव का [ये] इंगित प्रत्यक्ष; तरफ़दारी की प्राकट्यता।

128. **ऊरू** - [ऊ] निरन्तर अन्तर्मुखी [ख] अन्तः अंगीकृत स्थान; अन्तगर्मित को एकत्रित।

129. **ऊर्ध्वः** - [ऊ] अंदर से बाहर ऊर्जित होने [र्ध्वः] के द्वारा धारणात्मक छवि; दृढ़ता से बाहर उठाई हुई; अदृश्य होती हुई धारणात्मक छवि।

130. **ऋ** - [ऋ] आलम्बन की ओर गहरी एकाग्रता; शिव; वक्ष: स्थल।

131. **ऋक्** - [ऋ] एकाग्रता के प्रति [क्] सचेत; एकाग्रता में चेतनता।

132. **ऋक्ष** - [ऋ] अधिगृहीत एकाग्रता द्वारा [क्ष] सचेत जीवंतता; अधिगृहीत एकाग्रता द्वारा दिखाई दिया;तारा।

133. **ऋग्वेद** - [ऋ] एकाग्रता के साथ [ग्वे] विशिष्ट स्पष्ट छिपे ज्ञान को [द] प्रस्तुत करना।

134. **ऋचः** - [ऋ] संकुचन का [चः] व्युत्पन्न उन्मुख; संकुचन का व्युत्पन्न उन्मुख; सूत्रात्मक उन्मुखता।

135. **ऋजु** - [ऋ] स्व एकाग्रित [जु] आंतरिक जीवंतता; सत्य को केंद्र में रखते हुए जीवंतता; ईमानदार, सही, बिना चालबाजी।

136. **ऋतः**-[ऋ] स्व एकाग्रता की [तः] प्रस्तुति; सत्य; फैलाव-हीन; मायाविहीन; केंद्र स्थित।

137. **ऋत्विजम्** - [ऋ] स्व एकाग्रित हो सूक्ष्म ([इ] प्रत्यक्ष [त्] प्रस्तुत [व] कल्पना) में [इ] प्रत्यक्ष [ज] जीवन्तता; स्व एकाग्रित हो सूक्ष्म में प्रत्यक्ष जीवन्तता का।

138. **ऋषभ** - [ऋ] स्व एकाग्रता की [ष] इच्छा का [भ] अप्रतिबंधित अधिग्रहण; मुक्त प्रज्ञा, सहजता, सबसे उत्कृष्ट।

139. **ऋषि** - [ऋ] स्व एकाग्रता [षि] में प्रत्यक्ष व्याप्तता; आत्म एकाग्रता द्वारा दृश्यता व्याप्त होना; प्रज्ञावान्; दार्शनिक; क्षमता; व्याप्त एकाग्रता।

140. **ऍतद** - [ऍ] इंगित [त] प्रस्तुत उन्मुख [द] प्रस्तुत विद्यमान; जो सामने है; यह।

141. **एक** - [ए] इंगित दिशा में [क] चेतना; एक।

142. **एता** - [ए] इंगित में [ता] प्रस्तुत मात्रा; इंगित में प्रस्तुत मात्रा; इतना।

143. **एतावानस्य** - [ए] इंगित [ता] प्रस्तुत उन्मुखता [वा] छिपी सत्ता [न] की अंगीकृत उत्सुकता [स्य] का; इसलिए; इस तरह से; इस की।

144. **एम** - [ए] इंगित [म] पदार्थ उपलब्धता।

145. **एवेद** - [ए] विशिष्ट [वेद] वेद; वेद में विशिष्ट रूप से; इस विशिष्ट ज्ञेय की प्रस्तुति।

146. **एह** - [ए] इंगित [ह] असत्; यह मात्रा।

147. **ओज** - [ओ] विद्यमान की दिशा में [ज] जीवंतता; विद्यमान की दिशा में जीवंतता।

148. **ओर** - [ओ] की दिशा में [र] संलिप्तता।

149. **ओषधयः** - [ओष] वांछित दिशा में [ध] अवधारित ज्ञान (चिकित्सा) का [य] प्रत्यक्ष अस्तित्व।

150. **कंस** - [क] चेतना के लिए [न्स] शून्यात्मक अभिव्यक्ति; कृष्ण के विपरीत।

151. **कः** - [क] चेतना।

152. **कतिधा** - [क] प्रश्न वाचक में [ति] प्रत्यक्ष प्रस्तुत [धा] स्थापित सत्ता; प्रश्नों में स्थित विषय; तर्क।

153. **कथा** - [क] स्पष्ट हो रही [था] स्थापित प्रस्तुत-योग्य बात; पूर्व स्थापित भावनाओं को स्पष्ट किया जा रहा है; पूर्व में कही बातों का स्थापित होना।

154. **कपि** - [क] चेतना का [पि] दृश्यमान अनुमोदन; नकल करना; बंदर।

155. **कपिल** - [क] विश्लेषण के [पि] प्रत्यक्ष अनुमोदन का [ल] विस्तार।

156. **कर्दम** - [क] चेतन [र्द] के द्वारा प्रस्तुति [म] होना; जो भी प्रस्तुति हो रही है, चेतन के द्वारा हो रही है, अर्थात् समझ का उपयोग।

157. **कर्म** - [क] दिशात्मक चेतना में [र्म] संलिप्तता की उपलब्धता; कार्रवाई की परिभाषा।

158. **कर्मेन्द्रियां** - एक ही बहिर्गमित कर्म के 5 अविभाज्य अङ्ग

159. **कल्प** - छवि के उद्भव के पूर्व की स्थिति, जहाँ नाम व रूप का संयोग तो होता है, परंतु, वर्तमान काल मे प्रवेश नहीं करते।

160. **कवि** - [क] चेतना द्वारा [वि] छिपे सत की दृश्यता; चेतना द्वारा छिपे सत की दृश्यता; छिपे सत्य को चेतना में लाना।

161. **कविक्रतुः** - [क] चेतना द्वारा [वि] छिपे सत की दृश्यता में [क्र] चेतनात्मक संलिप्तता की [तुः] प्राप्त उन्मुख; चेतनात्मक संलिप्तता द्वारा प्राप्त सत् का विश्लेषण।

162. **कारण शरीर** - साधारणतया अव्यय ब्रह्म को हि कारण शरीर कहा जाता है। जिसके फल स्वरूप यह जगत् उत्पन्न होता है।

163. **काल** - [का] चेतना-सत्ता की [ल] विस्तारित उपलब्धता; चेतना-सत्ता की विस्तारित उपलब्धता। ब्रह्म का "एक से अनेक हो जाऊं" भावना के अंतर्गत चेतना प्रवाह में विस्तार लेती है, और इसी कारण काल उदय होता है।

164. **किमस्** - [कि] प्रत्यक्ष प्रश्न [मस्] का उपलब्ध व्यक्त; प्रश्न विश्लेषण।

165. **किमूरू** - [कि] प्रत्यक्ष चेतन में [मू] अन्तर्गमित पदार्थ की [रू] अन्तर्गमित संलिप्तता; ज्ञेय पदर्थ का अन्तर्गमन।

166. **कुकर्म** - [कु] अंधापन (छिपी हुई चेतना) में [कर्म] कर्म; अंधापन में कर्म।

167. **कुतर्क** - [कु] अंधेपन (छिपी हुई चेतना) से [तर्क] तर्क (प्रस्तुति में बौद्धिक चेतना); प्रस्तुति में अंधापन के साथ तर्क। अनुपयुक्त तर्क।

168. **कुत्सन** - [कु] अंधेपन (छिपी हुई चेतना) में [त्स] प्रस्तुत अभिव्यक्ति का [न] कार्य; अंधापन में प्रस्तुत अभिव्यक्ति का कार्य; बकवास करना ; निंदा करना।

169. **कुत्सा** - [कु] अंधेपन (छिपी हुई चेतना) में [त्सा] कहा गया (प्रस्तुत व्यक्त इकाई); अंधेपन में कहा गया। अनुपयोगी बात।

170. **कुब्जा** - [कु] अंधेपन (छिपी हुई चेतना) के साथ [ब्जा] अनुबद्ध जीवंतता (अदृश्य चेतना); अन्धत्वोन्मुख बन्धित जीवंत सत्ता; अंधेपन में बन्धित ऊर्जावान् इकाई; अंधा साहस; मूर्ख बलशाली।

171. **कुश** - [कु] अदृश्य चेतना के साथ [श] शारीरिक शक्ति का अनुप्रयोग; शौर्य का अनुप्रयोग।

172. **कुशासन** - [कु] अंधेपन (अन्धी चेतना) के साथ [शासन] शासन; अंधेपन के साथ शासीकरण (शक्ति के अनुप्रयोग द्वारा अभिव्यक्ति का कार्य)। अंधा प्रशासन।

173. **कुहूः** - [कु] अदृश्य चमक (चेतना) के साथ [हू] भौतिक रूपान्तरण को स्वीकार करना; चमक का सूक्ष्म से स्थूल होना; चेतना होते ही सूक्ष्म छवि (चंद्रमा) में चमक (चेतना, अङ्गिरसः); चेतना (अङ्गिरसः) का पहला चरण (बेटी)।

174. **कृतः** – [कृ] एकाग्रित चेतना की [तः] प्रस्तुति; क्रिया भाव है।

175. **कृताः** - [कृ] एकाग्रित चेतना की [ताः] प्रस्तुति कर्त्ता; एकाग्रित चेतना करने वाला।

176. **कृपा** - [कृ] आत्म केन्द्रित चेतना द्वारा [पा] अनुमोदनता; आत्म केन्द्रित चेतना द्वारा अनुमोदनता (सुरक्षा)।

177. **कृष्टय** - [कृ] प्रज्ञात्मक चेतन के [ष्ट] व्याप्त्यात्मक प्रवृत्त का [य] प्रत्यक्ष - संरचित आधार का प्रत्यक्ष।

178. **कृष्ण** - [कृ] प्रज्ञात्मक चेतन के [ष्ण] सक्रियण को व्याप्त करने की इच्छा; बौद्धिक चेतना को फैलाने की इच्छा।

179. **के** - इंगित चेतन; सम्बंधित; के।

180. **केउ** - [के] इंगित प्रश्न का [उ] छिपा हुआ अस्तित्व; कोई भी।

181. **केन** - [के] विशिष्ट चेतना की दिशा में [न] अधिग्रहण के लिए उत्सुकता का उपनिषद्।

182. **केशिनः** - [के] विशिष्ट चेतना द्वारा [शि] प्रबल अभिव्यक्ति/शक्ति का प्रयोग का [न] अधिग्रहण; 1. लम्बे बाल युक्त - सिर ([के] संकेतित चेतना) के साथ बंधन ([शि] शक्ति के प्रयोग) का अधिग्रहण; 2. रुद्र/विष्णु/शेर/लपट - [के] विशिष्ट चेतना द्वारा प्रबल अभिव्यक्ति [शि] शक्ति के प्रयोग; 3. इन्द्र/अग्नि - [के] विशिष्ट चेतना द्वारा [शि] घोड़ों (प्रबल अभिव्यक्ति) का अधिग्रहण।

183. **केशी** - [के] विशिष्ट चेतना द्वारा [शी] शक्ति के आवेदन को उजागर; [1] बाल - सिर (संकेतित चेतना) के साथ बंधन (शक्ति के प्रयोग) को उजागर; [2] दुर्गा - बुद्धि (विशिष्ट चेतना) के साथ शक्ति के प्रयोग को उजागर।

184. **कैलाश** - [कै] चेतना की दृश्यता द्वारा [ला] विस्तृत इकाई का [श] जीवंत अनुभव; चेतना की दृश्यता द्वारा विस्तारित इकाई का जीवंत अनुभव।

185. **कोटि** - [को] चेतना की विविध दिशाओं में [टि] प्रत्यक्ष सक्रियण; विभिन्न प्रकार का सक्रियण; किस्म; प्रकार।

186. **कोटि** - [को] सतर्कता के लिए [टि] प्रत्यक्ष सक्रियण; सतर्कता में तेजी; तलवार की धार।

187. **कौरव** - [कौ] चेतना की निष्क्रिय क्षमता में [र] लिप्त होने का [व] प्रबल अस्तित्व।

188. **क्रन्दसी** - [क्र] मनोवैज्ञानिक (जागरूक / भयभीत) संलिप्तता की [न्द] सक्रिय प्रस्तुति की [सी] अभिव्यक्ति को उजागर करना; मानव के मामले में मानसिक अभिव्यक्ति है।

189. **क्रन्दसी त्रिलोकी** - स्व:, मह:, जन: से बनी त्रिलोकी। जो मानसिक सृष्टि से संबंधित है।

190. **क्षर** - [क्ष] निर्देशित (सचेत) सक्रियण में [र] संलिप्तता; विद्यमान के प्रवाह। यज्ञ प्रक्रिया में असत् एक सत्ता से दूसरी सत्ता में प्रवेश करता है, इस प्रवाह को क्षर कहते हैं।

191. **क्षेत्रस्य पतिः** - [क्षेत्र] क्षेत्र (विशिष्ट जागरूक गतिविधि में प्रस्तुत संलिप्तता) [स्य] के (व्यक्त प्रत्यक्ष अस्तित्व) [प] संरक्षण की [ति] प्रत्यक्ष प्रस्तुति।

192. **खधोता** - [ख] चेतन के स्थान में [धो] धारणात्मक प्रस्तुति की दिशा में [ता] प्रस्तुत उन्मुखता; अंतर्गमिता।

193. **खर** - [ख] बुद्धिहीन सत्ता (बंद चेतना) में [र] संलिप्तता; बुद्धिहीन सत्ता में संलिप्तता।

194. **खरा** - [ख] विश्लेषण के परे [रा] आकर्षक (संलिप्त) इकाई; विश्लेषण के परे आकर्षक इकाई।

195. **खल** - [ख] बुद्धिहीन सत्ता (बंद चेतना) का [ल] विस्तार; बुद्धिहीन सत्ता का विस्तार।

196. **खिन** - [खि] चेतना के लिए प्रत्यक्ष अंतरिक्ष (में समय) का [न] अधिग्रहण; चेतना के लिए दृश्यमान अंतरिक्ष में समय का अधिग्रहण; समय निष्पादन के लिए अंतरिक्ष है; क्षण।

197. **खुद** - [खु] स्वयं (आंतरिक चेतना के लिए जगह का प्रावधान) की [द] प्रस्तुति; स्वयं की प्रस्तुति; अहंकार।

198. **खुदा** - [खु] आत्म सम्मान (आंतरिक चेतना के लिए सत्ता का प्रावधान) की [दा] प्रस्तुत सत्ता; आत्म सम्मान की प्रस्तुत सत्ता।

199. **गऊ** - [ग] स्पष्ट की [ऊ] निरन्तर अन्तर्गमिता; ज्ञान प्राप्त करना।

200. **गज** - [ग] स्पष्ट बोध में [ज] जीवंतता; स्पष्ट की दिशा में जीवंत होना (गणेश का भाव)।

201. **गण** - [ग] स्पष्टता के साथ [ण] निष्पादन क्षमता; स्पष्टता के साथ क्रियान्वयन के लिए उत्सुकता; उत्तरदायी सदस्य।

202. **गणता** - [ग] निर्धारित दिशा (स्पष्टता) में [ण] निष्पादन क्षमता का [ता] प्रस्तुतीकरण; निर्धारित दिशा में सक्रियण के लिए उत्सुकता की प्रस्तुतीकरण; सभी एक ही दिशा में हैं।

203. **गणित** - [ग] स्पष्टता के लिये [णि] दृश्य निष्पादन क्षमता की [त] प्रस्तुति; स्पष्ट करने की निष्पादन क्षमता।

204. **गणेश** - [ग] स्पष्टता के साथ [णे] सक्रियण की विशेष इच्छा की ओर [श] मनोवैज्ञानिक ताकत; निर्णय (स्पष्टता) के साथ सक्रियण की विशिष्ट निष्पादन क्षमता की ओर मनोवैज्ञानिक ताकत; निष्पादन शुरू करने के लिए।

205. **गति** - [ग] स्पष्टता में [ति] प्रत्यक्ष गुण; गति; द्रव्य।

206. **गत्** - [ग] पहले से ही स्पष्टित की [त्] प्रस्तुति की ओर; भूत काल में स्पष्ट प्रस्तुति।

207. **गन्धर्व** - [ग] स्पष्टता के [न्ध] सक्रिय भावों में [र्व] संलिप्त अपहचान (छिपे) अस्तित्व; गन्धर्व भावों का उत्सर्जन तो करते हैं, परंतु यह उत्सर्जन विवरण व ऊर्जा ही प्रदान करते हैं। विवरण व ऊर्जा से कोई पहचान नहीं होती। पहचान के लिये ऋषि के द्वारा विश्लेषण व आलम्ब प्रदान किया जाता है; अपहचानित रूप।

208. **गरुत्मान** - [गरु] अन्तः संलिप्त स्पष्टता के [त्मा] आभासी पदार्थ का [न्] कार्य; आंतरिक मौजूदा भावना से विकसित। यहाँ आभासी पदार्थ कल्पना है तो उसका कार्य भावोत्पत्ति होगा; यहाँ आभासी पदार्थ गुरुत्व है तो उसका कार्य गुरुत्व होगा; यहाँ आभासी पदार्थ उत्सर्जन है तो उसका कार्य अनुभूति होगा।

209. **गहि** - [ग] स्पष्ट का [हि] प्रत्यक्ष स्थूल; प्रयोजन।

210. **गायत** - [गा] स्पष्टता की [य] प्रत्यक्ष [त] प्रस्तुति।

211. **गावो** - [गा] स्पष्टता के [वो] छिपे सत् की दिशा में; छिपी स्पष्टता की दिशा।

212. **गीता** - [गी] प्रकट योग्य स्पष्टता का [ता] प्रस्तुतीकरण; प्रकट योग्य स्पष्टता का प्रस्तुतीकरण।

213. **गीर्ण** - [गी] प्रकट योग्य स्पष्टता में [र्ण] विशाल संलिप्तता; प्रकट योग्य स्पष्टता में विशाल संलिप्तता; समझाने के लिए पूरा अवसर होने; वर्णन किया गया।

214. **गुण** - [गु] आंतरिक चरित्र (वैशिष्टय) का [ण] उत्सर्जन; आंतरिक चरित्र की स्पष्टता के लिये काल स्थान की उपलब्धता।

215. **गुरु** - [गु] आंतरिक स्पष्टता के साथ [रु] प्रज्ञा (आंतरिक बुद्धिमत्ता); आंतरिक स्पष्टता के साथ प्रज्ञा।

216. **गुरुत्मान्** – [गुरु] गुरु से [त्] आभासी [मा] पदार्थ (गुण; गति; द्रव्य) का [न्] अधिग्रहण; गुरु से अनुभूति प्राप्त करना।

217. **गोण** - [गो] अनुदेश (स्पष्टता) की दिशा में [ण] सक्रियता के लिए उत्सुकता; अनुदेश की दिशा में सक्रियता के लिए उत्सुकता।

218. **गोदुहे** - [गो] स्पष्ट की दिशा में [दु] अन्तः प्रस्तुत से [हे] 'विशिष्ट स्थूल'; चेतना के द्वारा अंत: से प्रतीक [स्थूल ज्ञान] की प्राप्ति; प्रकट प्रतीक।

219. **गोप** - [गो] ज्ञान (स्पष्टता) की ओर [प] अनुमोदन; जिज्ञासु।

220. **गौः** - [गौः] स्पष्टता की स्वीकार्यता।

221. **गौतम** - [गौ] सच (स्पष्टता) की स्वीकार्यता में [त] प्रस्तुत [म] गैर अनुमोदन; सत्य को न मानना।

222. **गौरी** - [गौ] स्पष्टता की स्वीकार्यता में [री] संलिप्तता को उजागर; शिव गौरी को पौराणिक कहानियां सुनाते हैं, और गौरी उन्हें सावधानीपूर्वक सुनती हैं; गौर करने वाली।

223. **ग्रन्थ** - [ग्र] जानने (स्पष्ट संलिप्तता) में [न्थ] अधिग्रहण योग्य स्थापित प्रस्तुति; सविस्तार संलिप्तता का प्राप्य स्थापित अस्तित्व।

224. **ग्रहण** - [ग्र] स्पष्ट संलिप्तता के साथ में [ह] भौतिक उपलब्धि का [ण] क्रियान्वयन; भौतिक रूप से उपलब्ध करना।

225. **ग्रामक** - [ग्रा] प्रज्ञात्मक स्पष्टता में [म] समपर्ण की [क] चेतना, समपर्ण को स्पष्ट करना, स्त्री प्रसंग।

226. **ग्राम्याः**-[ग्रा] स्पष्ट (व्यवस्थित) संलिप्तता में [म्याः] उपलब्ध प्रत्यक्ष सत्ता; व्यवस्थित सत्ता।

227. **ग्रावाणः** - [ग्रा] स्पष्ट संलिप्त इकाई के लिए [वा] आंतरिक सत्ता का [ण] उपलब्ध स्थान; [1] संकेतों को अनुभूत करने के लिए उपलब्ध स्थान [2] आकृतियों को अंदर रखने के लिए उपलब्ध अंतरिक्ष; स्मृति।

228. **घटक** - [घ] सीमित अस्तित्व के भीतर [ट] सक्रियण में [क] चेतना; सीमित व्यवस्था का एक हिस्सा।

229. **घनो** - [घ] घिरी हुई [नो] रिक्तता की दिशा; घिरा हुआ सीमित स्थान।

230. **चंद्र** - [च] जीवंतता में [न्द्र] सक्रिय रूप से संलिप्तता प्रस्तुत; जीवंतता में सक्रिय रूप से संलिप्तता प्रस्तुत; चंद्र को पितृ प्राण का आश्रय स्थल माना जाता है।

231. **चक्र** - [च] जीवन्त उन्मुख [क्र] चेतनात्मक एकाग्रता; एक ही स्थान पर चेतन को जीवन्त करना।

232. **चक्षोः** - [च] व्युत्पन्न होती [क्षोः] बोध गम्यता की दिशा द्वारा; व्युत्पन्न होती बोध गम्यता की दिशा द्वारा; दिग्दर्शन द्वारा।

233. **चन्द्रमा** – [च] जीवंतता के लिये [न्द्र] सक्रिय प्रस्तुत संलिप्तता की [मा] उपलब्धता; जीवंत सक्रिय संलिप्त उप्लब्धता; जीवंतता में सक्रिय संलिप्तता।।

234. **चर** - [च] जीवंतता में [र] संलिप्तता; जीवंतता में संलिप्तता; चलने योग्य।

235. **चित्** - [चि] प्रत्यक्ष जीवंतता का [त्] प्रस्तुतीकरण; प्रत्यक्ष जीवंतता का प्रस्तुतीकरण; मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क।

236. **चूल** - [चू] उद्यम (स्वीकार्य व्युत्पन्न सजीवता) की ओर [ल] विस्तारित उपलब्धता; उद्यम की ओर विस्तारित उपलब्धता।

237. **चेत** - [चे] इंगित सजीवता का [त] प्रस्तुतीकरण; इंगित सजीवता का प्रस्तुतीकरण चेतना।

238. **चेतना** - [चे] विशिष्ट सजीवता में [त] अज्ञात भावनाओं का [ना] अधिग्रहणकर्ता; [चे] इंगित सजीवता [त] प्रस्तुत करने का [ना] कार्य; इंगित सजीवता प्रस्तुत करने का कार्य।

239. **चैतन्य** - [चै] सजीवता की दृश्यता [त] प्रदान करने का [न्य] सक्रिय प्रत्यक्ष अस्तित्व; प्रभा (सजीवता की दृश्यता) प्रस्तुत करने का सक्रिय प्रत्यक्ष अस्तित्व।

240. **चोक्ष** - [चो] जीवंतता की दिशा में [क्ष] सचेत जीवंतता; जीवंतता की दिशा में योग्यता; शुद्धता।

241. **चोभयादतः** - [चो] गति कि दिशा में [भ] स्वच्छन्द अंगीकार [या] प्रत्यक्ष सत्ता [द] की प्रस्तुति [तः] का भाव; गति को स्वच्छन्दता से अंगीकार करने केलिये प्रस्तुत; कर्म के लिये प्रस्तुत होना।

242. **च्यवन** - [च्य] स्वास्थ्य (सजीव दिखाई अस्तित्व) के लिये [व] दवा (छुपा अस्तित्व) द्वारा [न] कार्रवाई; स्वास्थ्य के लिये दवा द्वारा कार्रवाई।

243. **छंद** - [छं] चयनित जीवंतता की निरंतरता में [द] प्रस्तुति; गायन के रूप में प्रस्तुति।

244. **छत्र** - [छ] गर्मी (ऊर्जा) की बाधा में [त्र] प्रस्तुत संलिप्तता; गर्मी (ऊर्जा) की बाधा में प्रस्तुत संलिप्तता; ऊर्जा को रोकना।

245. **छन्दां सि** - अवरोधित जीवन्त अर्जन [छ] की होती प्रस्तुति [न्द] का प्रत्यक्ष व्यक्त [सि]; छंट कर प्रस्तुत होता प्रत्यक्ष व्यक्त; विश्लेषित व्यक्त।

246. **छोभ** - [छो] बाधित जीवंतता की दिशा में [भ] अनियंत्रित अधिग्रहण; बाधित जीवंतता की दिशा में अनियंत्रित अधिग्रहण; चित्त में खलबली; परेशान।

247. **जज्ञिरे** - [ज] जीवन्त के [ज्ञि] प्रत्यक्ष ज्ञेय में [रे] इंगित एकाग्र; जीवन्तता प्रकट करने वाला; जीवंतता को जानने की इच्छा।

248. **जटा** - [ज] जीवन्तता में [टा] प्रवृत्त सत्ता; जीवन्तता में प्रवृत्त सत्ता।

249. **जत** - [ज] व्युत्पन्न मात्रा (ताकत) की [त] प्रस्तुति; व्युत्पन्न मात्रा की प्रस्तुति;जिस मात्रा का।

250. **जनः** - [ज] साहस (मनोवैज्ञानिक शक्ति) के [नः] अधिग्रहण की क्षमता; मनोवैज्ञानिक साहस के अधिग्रहण की क्षमता; लोकांतर में मनोवैज्ञानिक स्तर की इकाई।

251. **जनना** - [ज] व्युत्पन्न जीवंतता के [न] अधिग्रहण की [ना] क्रिया; जिंदगी (व्युत्पन्न जीवंतता) के अधिग्रहण की क्रिया; बच्चे का प्रसव।

252. **जना** - [ज] व्युत्पन्न जीवंतता का [ना] अधिग्रहण किया; जिंदगी (व्युत्पन्न जीवंतता) का अधिग्रहण किया; प्रसव।

253. **जन्म** - [ज] व्युत्पन्न जीवंतता की [न्म] अङ्गीकृत उपलब्धता; जीवंतता द्वारा अङ्गीकरण।

254. **जप** - [ज] व्युत्पन्न ताकत का [प] अनुमोदन; पुनरावृत्ति मनोवैज्ञानिकशक्ति बढ़ाती है।

255. **जय** - [ज] ताकत का [य] दृश्य अस्तित्व; ताकत का दृश्य अस्तित्व; विजय; [ज] व्युत्पन्न जीवंतता की [य] दृश्य अस्तित्व; जन्म का दृश्य।

256. **जया** - [ज] ताकत का [या] दृश्य अस्तित्व की माया (इकाई); बल की माया।

257. **जल** - [ज] व्युत्पन्न जीवंतता की [ल] विस्तारित उपलब्धता; व्युत्पन्न जीवंतता की विस्तारित उपलब्धता; पानी जीवंतता में सुधार करता है।

258. **जातः** - [जा] जीवन्त सत्ता का [त] प्रस्तुत उन्मुख भाव; उत्पन्न होना; उद्भूत संस्कार।

259. **जातमग्रतः** - [जा] जीवन्त सत्ता [त] में प्रस्तुत उत्सुक [म] उपलब्धता [ग्र] में स्पष्टतात्मक एकाग्रता [त] का भाव; संस्कार में स्पष्टतात्मक एकाग्रित।

260. **जातवेदाः** - [जा] जीवंतता की [त] प्रस्तुति के लिए [वे] विशिष्ट कल्पना के अस्तित्व की [दा] प्रस्तुतता; वेद सत्ता में जीवंतता उत्पन्न करना; एक सत्य विकसित करने के लिए विशिष्ट तर्कों का उपयोग करना।

261. **जाताः** - [जा] जीवन्त सत्ता [ताः] को प्रस्तुत करने वाला; संस्कार।

262. **जुह्वसि** - [जु] छिपी जीवन्तता का [ह्व] प्रकट होता हुआ [सि] प्रत्यक्ष व्यक्त; आस्था (छिपी जीवन्तता) होता हुआ व्यक्त; भक्ति।

263. **जैन** - [जै] शक्ति की दृश्यता में [न] नकार; उद्देश्य की उपलब्धि के लिए किसी भी भौतिक शक्ति का उपयोग नहीं करना।

264. **ज्ञात** - [ज्ञा] ज्ञेय इकाई का [त] प्रस्तुतिकृत; प्रस्तुतिकृत ज्ञेय की सत्ता।

265. **ज्ञान** - [ज्ञा] ज्ञेय इकाई का [न] अभिग्रहण; ज्ञेय इकाई का अभिग्रहण।

266. **ज्ञानेन्द्रियां** - एक ही अंतर्गमन कर्म के 5 अविभाज्य अङ्ग।

267. **ज्ञाप** - [ज्ञा] ज्ञेय इकाई का [प] अनुमोदन; ज्ञेय इकाई का अनुमोदन।

268. **ज्ञेय** - [ज्ञे] इंगित ज्ञातव्य का [य] प्रत्यक्ष अस्तित्व; जो ज्ञान के लिये उपलब्ध हो।

269. **ज्या** - [ज्] जीवंत [या] प्रत्यक्ष इकाई।

270. **ज्यायाँश्च** - [ज्या] दृढ़ प्रत्यक्ष सत्ता [याँ] में प्रत्यक्ष की उत्सुकता के कारण [श्च] व्युत्पन्न होते संवेग; दृढ़ प्रत्यक्ष द्वारा प्रत्यक्ष होने की इच्छा के कारण व्युत्पन्न होते संवेग; प्रत्यक्ष करने की इच्छा का संवेग।

271. **ज्योतिष** - [ज्यो] जीवन सम्बंधित प्रत्यक्षता की दिशा में [ति] प्रत्यक्ष को प्रस्तुत करने की [ष] इच्छा; प्रत्यक्ष जीवन को जानने की इच्छा; इस परिभाषा के अनुसार इसमें भविष्य का कोई स्थान नहीं है।

272. **ज्वाला** - [ज्वा] ऊर्जावान् छिपे अस्तित्व की [ला] विस्तारित इकाई; अति गर्म हवा का फैलना।

273. **डाइन** - [डा] मौत सत्ता की [इ] दृश्यता का [न] अधिग्रहण; मौत सत्ता की दृश्यता का अधिग्रहण; भय; [डा] भूत में स्थापित सत्ता [इ] का प्रत्यक्षात्मक [न] अधिग्रहण, संस्कारों (सीखे हुए अतीत) में स्थापित भावों [डर] की प्रत्यक्ष करना; दुश्चिंता, बाल्यकाल में भय का अंगीकरण।

274. **तं** - [तं] प्रस्तुत उन्मुख होता हुआ; प्रस्तुत होता हुआ; भाव रिक्तता।

275. **तज** - [त] (बहिर्वाह) प्रस्तुत करने में [ज] जीवंतता; बहिर्वाह प्रस्तुत करने में जीवंतता।

276. **ततो** - [त] प्रस्तुत उन्मुख [तो] भाव की दिशा; यहाँ।

277. **तत्** - [त] प्रस्तुति का [त्] प्रस्तुत; उपलब्ध है।

278. **तत्त्व** - [त] प्रस्तुत का [त्त्व] भाव (प्रस्तुत छिपा अस्तित्व); प्रस्तुत का मूल भाव।

279. **तनूनपात्** - [त] प्रस्तुत उन्मुख [नू] बहिर्वाह अधिग्रहण [न] कृत्य में [पा] अनुमोदक [त्] प्रस्तुत; बहिर्वाह कृत्य के लिए स्वयम अनुमोदक; प्रदर्शन कृत्य में स्वयम ही अनुमोदक।

280. **तन्वानाः** – [त] प्रस्तुत [न्वा] सक्रिय स्वभाव का [नाः]; प्रस्तुत सक्रिय स्वभाव का कर्ता; स्वभावानुसार कर्म।

281. **तपः** - [त] प्रतीति को [पः] स्वीकार करना; प्रकृति को समझना; आत्मसमर्पण के लिए अनुमोदन; अहंकार का आत्मसमर्पण।

282. **तम** - [त] प्रस्तुत (विविधता; उपलब्ध; तीव्रता; प्रतीति) की [म] मात्रा (प्रस्तुत उपलब्धता); प्रस्तुत (विविधता; उपलब्ध; तीव्रता; प्रतीति) की मात्रा; मात्रा में केंद्रित।

283. **तर्क** - [त] (बयान) प्रस्तुत करने में [र्क] चेतना की संलिप्तता; बयान प्रस्तुत करने में चेतना की संलिप्तता।

284. **तल** - [त] (गहराई की) प्रस्तुत दिशा में [ल] उपलब्ध विस्तार; गहराई की प्रस्तुत दिशा में अधिकतम उपलब्ध विस्तार।

285. **तस्मा** - [त] भाव की [स्मा] व्यक्त उपलब्धता।

286. **तस्मात्** - उस प्रस्तुत से।

287. **ताः** - [ता] प्रस्तुत उन्मुख करने [न्] की क्रिया; भाव प्रस्तुति।

288. **ताक्ष्यैः** - [ता] प्रस्तोता द्वारा [क्ष्यैः] सतर्कता पूर्वक मजबूत; इच्छित प्रत्यक्ष अस्तित्व की दृश्यता।

289. **ताम** – [ता] प्रस्तुत सत्ता का [म] गैर अनुमोदन; प्रस्तुत सत्ता का गैर अनुमोदन।

290. **तिस्त्रो देवीः** - [देवीः] देवी (विशिष्ट प्रस्तुति के गैर-इन्द्रियगोचर अस्तित्व को उजागर करना) का [स्त्रो] प्रदर्शन (अभिव्यक्त प्रस्तुत संलिप्तता) की दिशा में [ति] दृश्य प्रस्तुत उन्मुख; अज्ञात आकृतियों को समझने; निष्पादित करने की कोशिश करना।

291. **ती** – [ती] (स्वयं की) प्रस्तुति को प्रकाश में लाना।

292. **तीर** - [ती] बहिर्वाह उजागर प्रस्तुति में [र] संलिप्तता; बहिर्वाह उजागर प्रस्तुति में संलिप्तता।

293. **तीर्थ** - [ती] आत्मसमर्पण (उजागर स्व प्रस्तुति) में [र्थ] संलिप्त स्थापित अस्तित्व; आत्मसमर्पण में संलिप्त स्थापित स्थान; अहंकार विहीन स्थान।

294. **तूल** - [तू] पारदर्शिता (अंतर्गमित अदृश्य प्रस्तुति) की [ल] विस्तारित उपलब्धता; पारदर्शिता की विस्तारित उपलब्धता; आकाश।

295. **तृण** - [तृ] लघु [स्व केंद्रित] प्रस्तुति की [ण] प्रसार योग्यता; जड़ी बूटी; घास; तिनका।

296. **ते** - वे; इंगित भाव के कारण।

297. **तेज** - [ते] इंगित [गुण, गति, द्रव्य] दिशा से प्रस्तुत होती हुई [ज] ताकत।

298. **तेन** - [ते] इंगित भाव का [न] अंगीकरण; भावों का अंगीकरण।

299. **तोबा** - [तो] प्रस्तुत करने की दिशा में [बा] बाध्यता; प्रस्तुत करने की दिशा में बाध्यता; फिर से नहीं करना।

300. **तोष** - [तो] प्रस्तुत दिशा में [ष] संतृप्ति; प्रस्तुत दिशा में संतृप्ति।

301. **त्यजन** - [त्य] त्याग के प्रत्यक्ष अस्तित्व में [ज] जीवंत [न] कार्य; त्याग के प्रत्यक्ष अस्तित्व में दृढ़ता (जीवंत कार्य); त्याग का कर्म।

302. **त्याग** - [त्या] त्याग के प्रत्यक्ष सत्ता की [ग] स्पष्टता; त्याग (संज्ञा)।

303. **त्रपा** - [त्र] विनम्र संलिप्तता में [पा] अनुमोदनता; लज्जा का भाव।

304. **त्रास** - [त्रा] अभ्यर्पित संलिप्त संस्था की [स] अभिव्यक्ति; अभ्यर्पित संलिप्त संस्था की अभिव्यक्ति; भय; आतंक।

305. **त्रिपाद** - [त्रि] प्रत्यक्ष के द्वारा प्रस्तुत (गुण, गति, द्रव्य) को [पा] अनुमोदक की [द] प्रस्तुति; तीनों प्रकार की प्रकृति का अनुमोदित करते हुऐ।

306. **त्वष्टा** - [त्व] प्रमेय छवि के [ष्टा] वांछित अधिभोगी (प्रस्तोता; उत्प्रेरक; स्थिति; सक्रियण)।

307. **त्वा** - [त्वा] भावात्म छिपी सत्ता; प्रस्तुत भाव सत्ता।

308. **त्सुपारः** - प्रस्तुत उन्मुख व्यक्त स्वीकृति के अनुमोदन में रत; पुष्टीकरण में रत।

309. **थंब** - [थ] अवलंब (स्थापित प्रस्तुत अस्तित्व) में [म्ब] में स्थिरता प्रस्तुति; अवलंब में स्थिरता प्रस्तुति।

310. **थम्भन** - [थ] अवलंब (स्थापित अस्तित्व) द्वारा [म्भ] बिना शर्त स्थिरता प्रस्तुति [न] का कार्य; अवलंब द्वारा बिना शर्त स्थिरता प्रस्तुत करने का कार्य।

311. **थर** - [थ] (भौतिक) स्थापित अस्तित्त्व में [र] पतलापन (अधिगृहीत एकाग्रता); भौतिक स्थापित अस्तित्त्व में पतलापन।

312. **थिरा** - [थि] प्रत्यक्षत: अस्तित्व स्थापित करने में [रा] संलिप्त इकाई; प्रत्यक्षत: अस्तित्व स्थापित करने में संलिप्त इकाई; पृथ्वी।

313. **दक्ष** - [द] प्रस्तुत अस्तित्व की [क्ष] सचेत जीवंतता; प्रस्तुत अस्तित्व की सचेत जीवंतता; [द] प्रस्तुति में [क्ष] योग्यता; कुशल।

314. **दक्षिण** - [द] प्रस्तुत की बहिर्वाह [क्षि] सक्रिय चेतना में [ण] निष्पादन क्षमता; निष्पादन क्षमता के लिये योग्यता को प्रत्यक्ष करने के लिये प्रस्तुत दिशा;

315. **दक्षिण** - [दक्ष] दक्षता की [इ] प्रत्यक्षता में [ण] प्रवृत्त होने की आतुरता; योग्यता।

316. **दधाना** - [द] प्रस्तुत [धा] धारित सत्ता [ना] करना; धारणा की प्रस्तुति।

317. **दधिक्राः** - [द] प्रस्तुति में [धि] दृश्य अवधारणा के [क्राः] सचेत संलिप्तक; प्रस्तुति (गुण गति द्रव्य) को स्थापित कर्ता; प्रस्तुति में ज्ञान, क्रिया, भोग स्थापित करने वाला।

318. **दध्यङ्** - [द] प्रस्तुत अस्तित्व में [ध्य] सांबोधिक दृष्टिकोण की ओर [ङ्] अबोधता (साहसिकता); प्रस्तुत किए गए मामले में पूर्वाग्रहों की ओर अबोधता (साहसिकता) द्वारा हठ करना।

319. **दश** - [द] प्रस्तुत अस्तित्व का [श] व्यतीत; प्रस्तुत अस्तित्व का व्यतीत; दशमलव प्रणाली में अधिकतम संख्या।

320. **दशाङ्गुलम्** - [द] प्रस्तुत [शा] जीवन्त अनुभूति द्वारा [ङ्गुल] स्पष्ट होता विस्तार का [म्] होना; विकास होना।

321. **दान** - [दा] इकाई के त्याग करने का [न] कार्य; इकाई के त्याग करने का कार्य।

322. **दिढ़** - [दि] वस्तु [प्रत्यक्ष प्रस्तुत अस्तित्व] में [ढ़] गैर लचीलापन (सक्रियण में वर्जित प्रवाह); वस्तु में गैर लचीलापन; दृढ़ता।

323. **दिधि** - [दि] परिस्थितियों (दृश्य प्रस्तुत अस्तित्व) के प्रति [धि] दृश्यमान धारणा; परिस्थितियों के प्रति दृश्यमान धारणा; धैर्य।

324. **दिन** - [दि] प्रत्याक्ष वस्तु (प्रस्तुत अस्तित्व) को [न] अधिग्रहण की क्षमता; प्रत्याक्ष वस्तु को अधिग्रहण की क्षमता।

325. **दिवि** - [दि] प्रत्यक्ष प्रस्तुति [वि] में छवि; प्रत्यक्ष प्रस्तुत करता है।

326. **दिवेदिवे** - दिन प्रति दिन।

327. **दिव्यः** - [द] दृश्य [ि] प्रस्तुति की [व्] अप्रत्यक्ष [य] दृश्य विद्यता; रूपांतरित विद्यता; लोकांतरित हो दृश्य होने वाली विद्यता।

328. **दिशः** - [दि] प्रत्यक्ष प्रस्तुति [शः] जीवन्त अनुभूति; निश्चयात्मक; जीवंत अनुभूति का प्रत्यक्ष।

329. **दिशा** - [दि] लक्ष्य (दृश्य प्रस्तुत अस्तित्व) के बारे में [शा] विश्वासित अभिव्यक्ति; लक्ष्य के बारे में विश्वासित अभिव्यक्ति।

330. **दिशेभ** - [दि] प्रत्यक्ष प्रस्तुत अस्तित्व में [शे] महत्त्व (इंगित विश्वसनीय अभिव्यक्ति) का [भ] मुक्त अधिग्रहण; प्रस्तुत में महत्त्व का मुक्त अधिग्रहण; दिग्गज।

331. **दीक्षा** - [दी] ज्ञान (प्रस्तुत अस्तित्व) को प्रकाश में लाने के लिए [क्षा] सचेत जीवंत इकाई; ज्ञान को प्रकाश में लाने के लिए सचेत जीवंत इकाई।

332. **दीप** - [दी] रोशनी (उजागर प्रस्तुत अस्तित्व) का [प] अनुमोदन; रोशनी का अनुमोदन।

333. **दीर्घ** - [दी] फैली हुई (उजागर) प्रस्तुत में [र्घ] संलिप्त घिरी स्पष्टता ; घिरा हुआ व फैला हुआ स्थान।

334. **दुन्दुभिः** - [दु] उच्च स्वर ध्वनि (श्रव्य-सक्षम प्रस्तुति) के [न्दु] उत्सर्जन (अन्त: से सक्रिय प्रस्तुति) में [भिः] प्रत्यक्ष अबन्धन; उच्च स्वर का अबन्धित उत्सर्जन।

335. **दुर्मद** - [दु] अंधी (छिपी हुई) प्रस्तुति में [र्म] संलिप्त अस्वीकृत पदार्थ की [द] प्रस्तुति; असामाजिक।

336. **दुर्योधन** - [दु] धोखाधड़ी (अदृश्य प्रस्तुत) की [र्यो] संलिप्त प्रत्यक्ष दिशा में [धन] सामर्थ्य।

337. **दुष्ट** - [दु] अंधी (छिपी हुई)प्रस्तुति में [ष्ट] व्याप्त प्रवृत्ति; अमानवीय प्रस्तुति में व्याप्त प्रवृत्ति।

338. **दृष्टि** - [दृ] वस्तु (स्वयं को आकर्षित प्रस्तुति) की ओर [ष्टि] देखने योग्य वांछित सक्रियण।

339. **देव** - [दे] विशिष्ट विषय (प्रस्तुत अस्तित्व) के [व] गुण (अदृश्य अस्तित्व); विशिष्ट विषय के सूत्र।

340. **देव हू-** 'देव' का असत् भाव।

341. **देवज** - [देव] विषयों में से [ज] उत्पन्न (व्युत्पन्न जीवंतता); विषयों से उत्पन्न; देवताओं से उत्पन्न; नया ज्ञान।

342. **देवता** - [देव] विषय की [ता] प्रस्तुत सत्ता।

343. **देवपल्ल्यः** - [देव] विषय (देव) द्वारा [प] अनुमोदन के लिए [ल्य] व्यापक रूप से सक्रिय दृश्य; अधिग्रहण के लिए उपलब्ध विषय; एक ही विषय को अनेक रूप होना।

344. **देवम्** - [दे] इंगित प्रस्तुति [व] में छिपा सत्; गुण विधयक; विषय।

345. **देवस्य** - विषयों के।

346. **देवहूति** - देव [देव] का [हू] अंत: विलीन स्थूल को [ति] प्रत्यक्ष प्रस्तुत करना; विषय में से स्थूल को नकारना।

347. **देवाँ** - गुणात्मक बोध।

348. **देवाः** - [दे] विशिष्ट प्रस्तुति में [वा] अंतर्दृष्टि (आंतरिक अस्तित्व); विषय की सत्ता; गुणों की स्पष्टता।

349. **देवाऽअयजन्त** - [देवाऽ] देवों के [अ] अस्तित्व [य] में प्रत्यक्ष [ज] जीवन्तता [न्त] का आतुर समर्पण; देव में पितृ का समर्पण।

350. **देवास्तानि** - देव सत्ता [देवा] के व्यक्तात्मक [स्] प्रस्तुत उन्मुखता [ता] की अशनाया [नि]; देव सत्ता (विषय) को प्रस्तुत करने की इच्छा; बोलने की इच्छा।

351. **देवी** - [दे] विशिष्ट प्रस्तुति का [वी] चरित्र (अंत) उजागर; तेज (तीव्रता), अप (समर्पण), अन्न (विविधता) का उजागर; गुण, गति, द्रव्य उजागर; इस प्रकार से 9 देवियां उजागर; आहुती।

352. **देवी उर्जाहुती** - [उ] अंत: [र्ज] संलिप्त ऊर्जा की [आहुती] प्रेरक [देवी] देवी (अनभिज्ञात रूप); तेज (तीव्रता) अप (समर्पण) की प्रेरक देवी; ऊर्जा की प्रेरक देवी।

353. **देवी जोष्ट्री** - [जो] जीवंतता की ओर [ष्ट्री] वांछनीय सक्रिय सम्बद्धता को उजागर करने वाली [देवी] 'देवी'; तेज।

354. **देवेभिरागमत्** - [देवे] विशिष्ट देवों [भि] द्वारा प्रत्यक्ष स्वच्छन्द अंगीकरण [रा] संलिप्तता [गमत्] स्पष्ट होने का भाव; सम्बन्धित देव स्वभावानुसार स्वच्छन्द रूप से असत् के अंगीकरण में संलिप्त हो जाते हैं।

355. **देवो** – [देव] की [ओ] दिशा में; विषय की दिशा में।

356. **देह**- [दे] विशिष्ट प्रस्तुति के लिए [ह] भौतिक काया; विशिष्ट प्रस्तुति के लिए काया।

357. **दैत्य** - [दै] मात्रा (प्रस्तुत अस्तित्व की दृश्यता) का [त्य] प्रस्तुत प्रत्यक्ष अस्तित्व; मात्रा का प्रस्तुत प्रत्यक्ष अस्तित्व; राक्षस।

358. **दैव्या होतारा** - [हो] भौतिक (रूपान्तरण) की ओर [ता] प्रस्तोता की [रा] संलिप्तता में [दैव्या] देवी की सत्ता; सूक्ष्म रूप (तेज अप अन्न) की सत्ता का स्थूल में रूपान्तरण

359. **दोष** - [दो] प्रस्तुत करने की दिशा में [ष] भौतिक इच्छा; प्रस्तुत करने की दिशा में (अपूर्ण) भौतिक उद्देश्य (इच्छा)।

360. **द्यौः** - प्रस्तुत प्रस्तुति की स्वीकार्यता; स्वीकार्यता।

361. **द्रविणोदाः** - [द्र] बहिर्वाह संलिप्तता में [वि] प्रत्यक्ष कल्प का [णो] निष्पादन की दिशा में [दा] प्रवर्तित सत्ता; कल्पना के बहिर्वाहता की आदत; यहाँ कल्पना को धन, ज्ञान, स्वास्थ्य, साहस के रूप में भी माना जा सकता है।

362. **द्रव्य** - [द्र] प्रस्तुत भागीदारी का [व्य] अप्रत्यक्ष दृश्य अस्तित्व; मात्रा।

363. **द्रुघणः** - [द्रु] स्वीकार्य प्रस्तुत संलिप्तता के लिए [घ] घने अस्तित्व में [णः] उपलब्ध अन्तरिक्ष; घनी सत्ता में व्याप्त क्रियान्वयन क्षमता।

364. **द्वारः** - [द्वा] प्रस्तुत खुले स्थान (अदृश्य संस्था) में [र] संलिप्तता।

365. **द्वीप** - [द्वी] प्रस्तुत छिपे अस्तित्व को प्रकाश में लाने का [प] अनुमोदन; समुद्र में एक छिपा हुआ स्थान।

366. **द्वैत** - [द्वै] प्रस्तुत छिपे अस्तित्व की दृश्यता की [त] प्रस्तुति; माया तो दिखाई देती है, परंतु ब्रह्म छिपा रहता है। जो दोनों को मानते हैं वे द्वैतवादी माने जाते हैं।

367. **धनानाम्** - धन के लिये।

368. **धनु** - [ध] स्थापित तीर (विद्यमान) का [नु] अंतर्वाह कृत्य; स्थापित तीर का अंतर्वाह कृत्य; तीर स्थापित कर घनुष की डोरी खींचना। [ध] दृढ़ता (अवधारणा) के खिलाफ [नुः] अंदर अधिग्रहण को स्वीकार; इच्छाओं के विरुद्ध चीजों को स्वीकार करना।

369. **धरा** - [ध] धारण (स्थापित विद्यमान) में [रा] संलिप्तता की इकाई; धारण में संलिप्तता की इकाई।

370. **धर्म** - [ध] धारित की हुई [र्म] प्रस्तुत उपलब्धता में संलिप्तता; अधिकृत पद (धारित अस्तित्व) के अनुसार कर्म (संलिप्त प्रस्तुत उपलब्धता) ; अधिकृत पदनाम के अनुसार कर्म; कर्तव्य।

371. **धर्माणि** - [धर्म] धर्म [आ] सत्ता [णि] प्रत्यक्ष क्रियांविति; पद स्वभाव के अनुसार क्रिया; स्वभावानुसार बाह्यमुखी क्रियान्वयन।

372. **धविधवि** - [ध] प्रस्तुत-धारित (व्यवस्थित) का [वि] प्रत्यक्ष छिपा सत् पुनः; बार बार प्रत्यक्ष होना।

373. **धातमम्** - [धा] धारणा की सत्ता में [त] प्रस्तुत उन्मुख [म] होना; धारित छवि को स्मृति में प्रस्तुति।

374. **धाता**-[धा] अवधारित सत्ता का [ता] प्रदाता; अवधारित ज्ञान क्रिया अर्थ का प्रदाता।

375. **धाता** - [धा] अवधारित सत्ता का [ता] प्रदाता (प्रस्तुत सत्ता); निर्माण में या प्रशासन में अवधारणा की प्रयुक्ति।

376. **धाम** - [धा] धार्मिक (अवधारित) सत्ता की [म] प्रस्तुत उपलब्धता; धार्मिक इकाई की उपलब्धता प्रस्तुत।

377. **धावा** - [धा] सूत्र (अवधारणा) प्रस्तुतकर्ता की [वा] कल्प सत्ता; पहचान संबंधी उत्पत्तिमूलक संकेतबद्ध सूत्र।

378. **धावापृथिवी** - 'पृथिवी' को 'धावा' द्वारा अधिग्रहित किया जाता है जो इकाई के कोड के अनुसार है; और ये कोड इकाई के 'अव्यय ब्रह्म' द्वारा प्रदान किए जाते हैं; 'धावा' और 'पृथिवी' का संयोजन ही इकाई बनाता है।

379. **धियो** - [धि] दृश्य धारित छवि (नाम-रूपात्मक) में [यो] पुष्टिकरण की दिशा; धारित छवि की पुष्टि।

380. **धीमहि** - [धी] उजागर धारित छवि का [म] उपलब्ध रूप से [हि] प्रत्यक्ष भौतिक; जाने गया प्रतीकीकरण।

381. **धुमान्** - [धु] अंतर्गमित धारणात्मक प्रस्तुति की [मा] उपलब्धता के लिये [न्] अंगीकार उन्मुख सत्ता; बोध कर्ता; स्वीकार कर्ता।

382. **धृत** - [धृ] चिकनाई (स्व आकर्षण के धारित गुण) की [त] प्रस्तुति की ओर; मनमानेपन की प्रस्तुति की ओर।

383. **धेनुः** - [धे] पृथ्वी-तत्त्व (इंगित स्थापित अस्तित्व) से [नु] स्वीकार्य अधिग्रहण; दूध, गेट, पानी, तिल, सभी पृथ्वी तत्त्वों से स्वीकार्य का कारण बनते हैं; दूध यहाँ संकेत है जो सभी आवश्यक वस्तुओं का पर्याय है।

384. **धैर्य** - [धै] संयम (प्रस्तुति में स्थापित धारणा) में [र्य] संलिप्त दृश्य अस्तित्व; संयम में संलिप्त दृश्य अस्तित्व।

385. **ध्यान** - [ध्या] एकाग्रता (स्थापित दिखाई इकाई) का [न] अभिग्रहण; एकाग्रता का अभिग्रहण।

386. **ध्रुव** - [ध्रु] स्वीकार्य संलिप्त अपरिवर्तनीयता (धारणा) का [व] गुण (अस्तित्व में छिपा हुआ); भौतिक अपरिवर्तनीयता (ध्रुव तारा); मानसिक अपरिवर्तनीयता (विष्णु भक्त); स्थिर।

387. **ध्वनि** - [ध्व] स्थापित भाव (छुपे अस्तित्व) के लिए [नि] श्रव्य (दृश्य) कृत्य; स्थापित भाव के लिए श्रव्य कृत्य।

388. **नंदी** - [न] अधिग्रहण क्षमता द्वारा [न्दी] उजागर होती हुई अंगीकृत उन्मुख प्रस्तुति; शिव को अंगीकार करने के लिये प्रस्तुत।

389. **नः** - अंगीकरण करने की योग्यता; अंगीकरण करने की उत्सुकता के द्वारा; की क्रिया में; शून्यात्मक।

390. **नकार** - [न] निषेध के लिए [का] सचेत कर्म में [र] संलिप्तता; निषेध के लिए सचेत कर्म में संलिप्तता।

391. **नक्षत्र** - [न] शून्य [क्ष] योग्य [त्र] उत्सर्जन में संलिप्त।

392. **नधः** - [न] शून्यता की [ध] अवधारणा; 'अधिग्रहण की उत्सुकता' की अवधारणा; जरूरतमंद, आशान्वित।

393. **नबी** - [न] अधिग्रहण के लिए [बी] उपदेश (बाध्य अभिव्यक्ति) उजागर; अधिग्रहण के लिए उपदेश उजागर; पैगम्बर।

394. **नभ** - [न] रिक्तता का [भ] मुक्त रूप से प्राप्य अस्तित्व; रिक्तता का मुक्त रूप से प्राप्य अस्तित्व।

395. **नम** - [न] अहंकार रहित (रिक्तता) की [म] प्रस्तुत उपलब्धता; अहंकार रहित की प्रस्तुत उपलब्धता; पानी को 'अहंकार रहित' के रूप में लिया जाता है।

396. **नर** - [न] अधिग्रहण में [र] संलिप्तता; अधिग्रहण में संलिप्तता; पुरुष तर्क, सूत्र, और विश्वास की मदद से महिला से विविधता, प्रतीति, और तीव्रता प्राप्त करता है।

397. **नाक** - अंगीकृत उत्सुकता [ना] का चेतन [क]; स्वीकृत करने की उन्मुखता।

398. **नाग** - [ना] अधिग्रहण कर्म में [ग] स्पष्टता; अधिग्रहण कर्म में स्पष्टता; नाग किसी भी जानवर को निगलता है।

399. **नाथ** - [ना] अधिग्रहण के लिए सक्षम इकाई का [थ] स्थापित अस्तित्व; अधिग्रहण के लिए सक्षम इकाई का स्थापित अस्तित्व; मालिक।

400. **नाभ्याः** - [ना] अंगीकरण उत्सुक सत्ता [भ्याः] स्वच्छन्द अंगीकृत-सम्बन्धित प्रत्यक्ष सत्ता; स्वच्छन्द अंगीकरण उत्सुक।

401. **नाम** - [ना] पहचान की संस्था की [म] प्रस्तुत उपलब्धता; पहचान की संस्था की प्रस्तुत उपलब्धता।

402. **नाम-रूप** - जो भी बोध के लिये ग्रहण हो रहा है, उसमें नाम (पहचान) व रूप (दृश्य) का संयोग है।

403. **नाराशंसः** - [नारा] पुरुष (अधिग्रहण इकाई में संलिप्तता) के लिए [शं] निरंतर जीवंतता अनुप्रयोग की [स] अभिव्यक्ति; पुरुष ज्ञान (देव) व रक्षा (पितृ) से सोम का प्रवाह है।

404. **नासा** - [ना] अंगीकृत-उन्मुखता की [सा] व्यक्तता।

405. **नास्तिक** - [ना] अस्तित्व में नकार [स्ति] होने (दिख व्यक्त प्रस्तुत) में [क] चेतना।

406. **निगम** - [नि] अधिग्रहण के लिए प्रत्यक्ष उत्सुकता के लिए [ग] स्पष्ट बोध की [म] प्रस्तुत उपलब्धता; अधिग्रहण के लिए बोध की प्रस्तुत उपलब्धता; जिज्ञासा के लिए ज्ञान की उपलब्धता; वेद।

407. **निदो** - [नि] प्रत्यक्ष रिक्तता की [दो] प्रस्तुत दिशा में; स्पंदन।

408. **निधि** - [नि] प्रत्यक्ष अधिग्रहण योग्य के लिए [धि] प्रत्यक्ष स्थापित प्रतीति; अधिग्रहण के लिये स्थापित स्थान; खजाना।

409. **निरन्यत** – [नि] प्रत्यक्ष अंगीकरण में [र] संलिप्त [न्य] शून्यात्मक प्रत्यक्ष का [त] भाव; रिक्तता का भाव।

410. **निरुक्तम्** - [नि:] प्रत्यक्ष अंगीकरण योग्य में संलिप्त [उक्तम्] जो कहा गया है; जो कहा गया है, उसे अंगीकृत करना।

411. **निरो**ध - [नि] प्रत्यक्ष निषेध की [रो] संलिप्त दिशा में [ध] स्थापित विद्यमान; प्रत्यक्ष निषेध की संलिप्त दिशा में स्थापित विद्यमान।

412. **निर्गुण** - [नि] दृश्य नकारात्मकता में [र्] संलिप्त [गुण] गुण (भीतरी शामिल स्पष्टता में निष्पादन क्षमता); गुण विहीनता।

413. **नीति** - [नी] शासन (अधिग्रहण को उजागर) के लिए [ति] संहिता (दृश्य प्रस्तुत); शासन के लिए संहिता।

414. **नी**र - [नी] गैर-अहंकार (रिक्तता) को उजागर करने में [र] संलिप्तता; गैर-अहंकार को उजागर करने में संलिप्तता।

415. **नूत** - [नू] अन्तर्विलीन रिक्तता का [त] भाव; नयी उपलब्धि का भाव।

416. **नृमादनम्** - [नृ] अंगीकृत उत्सुकता द्वारा [मा] पदार्थ [द] प्रस्तुत [न] क्रिया का [म्] होना; पदार्थ को अंगीकृत करने की क्रिया; प्रसन्नता का कारण।

417. **नैरुक्त** - [नै:] अधिग्रहण की दृश्यता में संलिप्त [उक्त] कहा गया; जो कहा गया उसमें अधिग्रहण की दृश्यता की संलिप्तता; जो कहा गया उसे सुनना।

418. **नैरुत** - [नै:] अधिग्रहण की दृश्यता में संलिप्त [उत] वह भाव; अन्तर्मुखी स्वीकृति किया जाता है, वह भाव।

419. **नो** - [नो] अंगीकरण उत्सुक की दिशा में।

420. **न्याय** - [न्या] सत्य (प्रत्यक्ष सत्ता के पहचान) की [य] अभिपुष्टिता; प्रत्यक्ष इकाई के पहचान की अभिपुष्टि; प्रत्यक्ष प्रमाण।

421. **पंथ** - [प] अनुमोदन वास्ते [न्थ] सक्रिय स्थापित अस्तित्व; अनुगमन (अनुमोदन) वास्ते सक्रिय स्थापित अस्तित्व।

422. **पक्ष**-[प] अनुमोदन की दिशा में [क्ष] जीवंत चेतना; अनुमोदित दिशा में जीवंत चेतना।

423. **पञ्चप्रस्थ** - [पञ्च] पाँच प्रकार के [प्र] अनुमोदनीय संलिप्तताओं की [स्थ] व्यक्त स्थापना।

424. **पतयन्** - [प] अनुमोदन में [त] भावत्म [य] प्रत्यक्ष [न्] करना; भावुक होना।

425. **पथ**-[प] अनुमोदन के साथ [थ] रास्ता (प्रस्तुत स्थापित); अनुमोदन के साथ रास्ता।

426. **पथ्या** - [प] अनुमोदन की [थ्या] स्थापित प्रत्यक्ष सत्ता; पथ का अनुमोदन; अनुमोदन व्यक्तित्व में खुशी और कल्याण पैदा करता है।

427. **पद** - [प] अनुमोदन के अनुसार [द] प्रस्तुत अस्तित्व; अनुमोदन के अनुसार पद (प्रस्तुत अस्तित्व)।

428. **पद्भ्याम्** – [प] अनुमोदन के [द्] प्रस्तुति की [भ्] स्वीकृत [या] प्रत्यक्षता; बोध की प्रत्यक्षता।

429. **पदार्थ** - [पद] गुणो (अनुमोदन के अनुसार प्रस्तुत) में [अर्थ] संलिप्त स्थापित प्रस्तुति; गुणो में संलिप्त स्थापित प्रस्तुति।

430. **पनच** - [प] स्वीकृति की [न] क्रिया में [च] तनाव (जीवंतता); धनुष के तार में तनाव; धनुष की डोरी।

431. **परात्पर** - [प] अनुमोदन की [रा] संलग्न इकाई द्वारा [त्प] प्रस्तुत स्वीकृति में [र] संलिप्तता; अस्तित्व बनाने के लिए असत द्वारा कोड का अधिग्रहण; ये कोड परात्पर से प्राप्त किए गए हैं; परा: + पर; जो 'पर' के भी 'पर' हो।

432. **परिधय** – [प] अनुमोदित [रि] प्रत्यक्ष संलिप्तता [ध] में धारणा का [य] प्रत्यक्ष अस्तित्व; परिधि का प्रत्यक्ष।

433. **परिभूरसि** - [प] अनुमोदन [रि] की प्रत्यक्ष संलिप्तता में [भू] बाह् विलीन स्वच्छन्द अंगीकरण [र] की संलिप्त [सि] प्रत्यक्ष व्यक्तता; अनुमोदन संलिप्तता से बाह् विलीन अंगीकरण में व्यक्त हो जाती है।

434. **परेहि** - [प] होते हुऐ अनुमोदन की [रे] इंगित एकाग्र [हि] प्रत्यक्ष प्रकट; अवलोकन।

435. **पर्जन्यः** - [प] अनुमोदन द्वारा [र्ज] संलिप्त जीवंतता की [न्य] अधिगृहीत प्रत्यक्षता; [1] बादल - पानी (अनुमोदन) द्वारा; [2] प्रजापति - शक्ति (अनुमोदन) द्वारा; [3] गंधर्व - सरसता (अनुमोदन) द्वारा; [4] ऋषि - तर्क (अनुमोदन) द्वारा संलिप्त जीवंतता की अधिगृहीत प्रत्यक्षता; [5] गति - सक्रिय (अनुमोदन) द्वारा संलिप्त जीवंतता की अधिगृहीत प्रत्यक्षता।

436. **पर्वत** - [प] अनुमोदन में [र्व] संकेन्द्रित संचय की [त] प्रस्तुति।

437. **पशुम्** - [प] अनुमोदन [शु] अन्तःस्थित जीवन्त अनुभूति [म्] होना; पितृ प्राण; बल।

438. **पशूः** - [प] अनुमोदन द्वारा [शूं] बहिर्गमित जीवंतता का होना; पशु के समान इच्छा; बहिर्गमित जीवंतता का होना।

439. **पाञ्चाल**- [पा] अनुमोदित सत्ता द्वारा [ञ्चा] होता हुआ व्युत्पन्न [ल] विस्तार।

440. **पाठन** - [पा] ज्ञान (स्वीकार्य इकाई) के [ठ] बसाने (रटाने) की [न] क्रिया; ज्ञान के बसाने की क्रिया; ज्ञान को याद।

441. **पाण्डव** - [पा] अनुमोदन द्वारा [ण्ड] संवादमूलक प्रवृत्ति का [व] चरित्र [छिपा हुआ अस्तित्व]।

442. **पात्** - [पा] अनुमोदन कर्ता की [त्] स्व प्रस्तुति; अंगीकरण करने के लिये प्रस्तुत; स्वीकृत्यात्मक योग्यता

443. **पाद** - [पा] (गति) स्वीकार्य इकाई का [द] प्रस्तुत अस्तित्व; गति स्वीकार्य इकाई का प्रस्तुत अस्तित्व; अनुमोदक की प्रस्तुति।

444. **पादाः** - [पा] सशर्त अनुमोदक की [दाः] प्रस्तुत सत्ता; अनुमोदन सत्ता की उपस्थिति।

445. **पादोस्य** - [पा] अनुमोदक [दोस्य] की प्रस्तुत दिशा का; अनुमोदक की आवश्यकतानुसार; अनुमोदन का तरीका; अनुमोदक की दिशा; प्रस्तुति का अनुमोदन।

446. **पार्वती** – [पा] स्वीकार्य इकाई द्वारा [र्व] संकेन्द्रित संचय की [ति] द्रष्टिगोचर प्रस्तुति; इकाई संगृहीत इशारा उत्सर्जन कर रही है; प्रकृति द्वारा प्रदर्शन।

447. **पितर** - [पि] प्रत्यक्ष अनुमोदन का[त] प्रस्तुत-उन्मुख [र] एकाग्र।

448. **पितरः** - [पि] प्रत्यक्ष सुरक्षा / सराहना को [त] प्रस्तुत करने में [र] संलिप्तता।

449. **पितुः** - [पि] प्रत्यक्ष संरक्षण की [तु] स्वीकार्य रूप प्रस्तुति।

450. **पितृ** - [पि] प्रोत्साहन (प्रत्यक्ष अनुमोदन/संरक्षण) की [तृ] आकर्षक (केंद्रीकृत) प्रस्तुति।

451. **पितृ हू** - अन्तर्विलीन होता 'पितृ' का असत् भाव।

452. **पिव** - [पि] प्रत्यक्ष अनुमोदन का [व] छिपा सत्; प्रत्यक्ष अधिग्रहण में स्मृत।

453. **पीत्वा** - [पी] निरन्तर अन्तर्गमित अनुमोदन के [त्वा] भावात्म की छिपी सत्ता; निरन्तर अन्तर्गमित करने वाली।

454. **पुजारी** - [पु] अंतर्वाह अनुमोदन में [जा] जीवंतता की [री] संलिप्तता उजागर; पूजा अंत: में जीवंतता उजागर करना है।

455. **पुरञ्जन** - अन्तर्मुखी अनुमोदन [पु] में एकाग्र [र] होती हुई जीवन्तता [ञ्ज] को अंगीकृत करने को उत्सुक [न] अर्थात् निरन्तर जीवन्तता को प्राप्त करते रहने में उत्सुक; आत्मा।

456. **पुराण** - [पु] अंतर्गमित अनुमोदन के द्वारा [रा] प्रज्ञता (एकात्मक इकाई) के [ण] प्रवाह करने की उत्सुकता; अंत: में प्रज्ञता प्रवाह करने की उत्सुकता।

457. **पुरुरवाः** - [पुरु] गाँववासियों (आंतरिक अधिग्रहण में शामिल होने की स्वीकृति) के साथ [र] संलिप्तता को [वा] चित्रित करने के लिए इकाई।

458. **पुरुषः** - [पु] स्वीकार्य अनुमोदन में [रु] अन्तर्वाह संलिप्तता की [ष] इच्छा; स्त्री संबंधी उपलब्धता प्राप्त करने की इच्छा; [पु] अन्तर्गमित अंगीकृत उन्मुख [रु] अन्तःसंलिप्तता [षः] की व्याप्त इच्छा; अंत: अंगीकरण के लिये व्याप्त इच्छा; पुरुष द्वारा; पुरुषऽ - पुरुष अस्तित्व।

459. **पुरोहितम्** - [पु] अन्तर्मुखी अनुमोदन में [रो] के सूक्ष्म दिशा से [हि] प्रत्यक्ष स्थूल [त] का भाव; सूक्ष्म की दिशा में अन्तर्मुखी अनुमोदन करना; स्थूल को सूक्ष्म में देखना।

460. **पुस्तक** - [पु] अंतर्वाह अनुमोदन के लिए [स्त] व्यक्त प्रस्तुति में [क] चेतना; अंतर्वाह अनुमोदन के साथ ज्ञान (व्यक्त प्रस्तुति) में चेतना।

461. **पूजा** - [पू] आंतरिक स्वीकार्य संरक्षण में [जा] जीवंतता का कर्म; आंतरिक स्वीकार्य संरक्षण में जीवंतता का कर्म।

462. **पूर्ण** - [पू] अनुमोदन को स्वीकार करने में [र्ण] संलिप्तअंतरिक्ष की परिपूर्णता।

463. **पूर्णिमा** - [पू] अनुमोदन को स्वीकार करने में [र्णि] अंतरिक्ष की परिपूर्णता की [मा] प्रस्तुत उपलब्धता।

464. **पूर्व** - [पू] उद्देश्य (भीतरी स्वीकार्य अनुमोदन) के [र्व] छिपे हुए अस्तित्व में संलिप्तता; उद्देश्य के छिपे हुए अस्तित्व में संलिप्तता; उद्देश्य की दिशा।

465. **पूषा** - [षा] इच्छा की इकाई का [पू] अन्त: स्वीकृत अनुमोदन; निरन्तर इच्छा का उदय होना; सोम में निरंतरता का कारण।

466. **पृथिवी** - [पृ] स्वयं केंद्रित अनुमोदन द्वारा [थि] प्रत्यक्ष स्थापित उन्मुख में [वी] उजागर छवि; स्वयं उत्पन्न स्थापित पदार्थ; यहाँ स्वयं का अर्थ अव्यय ब्रह्म है।

467. **पृथ्वी** - [पृ] आत्म केंद्रित अनुमोदन के साथ [थ्वी] स्थापित छिपे विद्यमान उजागर; अधिगृहीत किया गुणों का उजागर; गुणों की उपलब्धता के उजागर।

468. **पृषदाज्यम्** - अनुमोदन के द्वारा [पृ] व्याप्त इच्छा [ष] की प्रस्तुति [दा] का जीवन्तात्मक प्रत्यक्ष होना [ज्यम्]; अनुमोदन के द्वारा व्याप्त प्रस्तुति का जीवित होना।

469. **पोथी** - [पो] तथ्यों (अनुमोदन की दिशा में) के [थी] लेखन [स्थापित प्रस्तुत] को उजागर।

470. **पोषमेव**-[पो] अनुमोदन की दिशा में [षम्] इच्छा होना [एव] ही; समृद्धि की इच्छा।

471. **प्रकृति** - [प्र] स्वीकार्य संलिप्तता में [कृ] संकेन्द्रित चेतना द्वारा [ति] प्रत्यक्ष प्रस्तुति; 'चरित्र (अनुमोदित संलिप्तता) की ओर चेतना' पर आधारित प्रस्तुति; स्वभाव।

472. **प्रचोदयात्** - [प्र] अनुमोदित संलिप्तता [चो] प्राप्त की ओर [द] प्रस्तुत [या] प्रतिज्ञान को [त्] प्रस्तुत; बोध अनुभूति।

473. **प्रजापतिः** - [प्र] स्वीकार्य संलिप्तता के साथ [जा] जीवंत संस्थाओं के [प] संरक्षण की [ति] प्रत्यक्ष प्रस्तुति; जीवंत संस्थाओं को संरक्षण प्रदान करने वाला; देव, पितर, ऋषि, गन्दर्भ आदि सभी प्रजा कहे जाते हैं।

474. **प्रज्ञा** - [प्र] अनुमोदनात्मक संलिप्तता में [ज्ञा] ज्ञेय दृश्य; ज्ञेय चीजों को समझने।

475. **प्रत्यक्ष** - [प्र] स्वीकार्य संलिप्तता में [त्य] प्रस्तुत प्रतिज्ञान के प्रति [क्ष] सचेत कृत्य।

476. **प्रथमान्यासन्** - [प्र] अनुमोदनात्मक संलिप्तता का [थ] स्थापित [मा] पदार्थ में [न्या] रिक्त प्रत्यक्ष सत्ता [स] की व्यक्त [न्] क्रिया ; 'रिक्त प्रत्यक्ष सत्ता' अर्थात् उसके बाद का लोक, प्रथम के बाद के लोक में क्रिया होना।

477. **प्रमाण** - [प्र] स्वीकार्य संलिप्तता की [मा] प्रस्तुत उपलब्ध मात्रा की [ण] स्थान उपलब्धता; स्वीकार्यता के लिये स्थान।

478. **प्रलय** - [प्र] अनुमोदनात्मक संलिप्तता [ल] छितराव का [य] प्रत्यक्ष।

479. **प्राण** - [प्रा] अनुमोदनात्मक संलिप्तता में [ण] प्रवृत्त की इच्छा; स्पन्दित चेष्टा।

480. **प्राणमयकोश** - यह अव्यय ब्रह्म का वह भाग है जो 'स्पंदनों' को स्वीकार करने, प्रदान करने और संगृहीत करने के लिए ज़िम्मेदार है। यहाँ स्पंदन अव्यक्त रूप में रहते हैं।

481. **प्रावो** - [प्रा] अनुमोदनात्मक एकाग्र सत्ता में [वो] छुपाने की दिशा; वाहक।

482. **प्रियव्रत** - [प्रिय] प्रिय [व्र] छवि में संलिप्त [त] भाव; प्रिय में संलिप्तता।

483. **प्रौक्षन्** - [प्रौ] अनुमोदित संलिप्तता की स्वीकार्यता में [क्ष] योग्यता [न्] का कार्य; अनुमोदित संलिप्तता की स्वीकार्यता में में दक्षता।

484. **बर्हिः** - [ब] अधिग्रहित हुई [र्हि] बहिर्वाह भौतिक स्थानन में संलिप्तता।

485. **बर्हिषि** - [ब] तर्कों [र्हि] अनुरुप [षि] दृश्य इच्छा; बर्हिव्याप्तता। तर्कों के अनुरुप दृश्य व्याप्तता।

486. **बल** - [ब] विश्वास का [ल] विस्तार; विश्वास का विस्तार।

487. **बहुधा** - [ब] पहचान में अनेकता ([ु] अन्त: [ह] रूपांतरण) की [धा] स्थापित प्रस्तुति; अनेक बार।

488. **बहूदन**- [बहू] अनेक प्रकार की [द] प्रस्तुति को [न] अंगीकरण की उत्सुकता; विभिन्न प्रकार के भोजन का संग्रह।

489. **बाका** - [बा] धारणा (विश्वास इकाई) का [का] स्पष्टीकरण कर्म; धारणा का स्पष्टीकरण कर्म; बोलना।

490. **बायाँ** - [बा] विश्वास / तर्क की [याँ] निरंतर प्रत्यक्ष इकाई; विश्वास / तर्क की निरंतर प्रत्यक्ष इकाई; हमारे शरीर के बाईं ओर संवेदनशीलता को दर्शाता है।

491. **बाहू** – [बा] अनुशासन की सत्ता [हू] का स्थूल में विलीनीकरण; अनुशासित क्रिया का कर्त्ता।

492. **बिन्दुसर** - [बिंदु] शून्य में [स] व्यक्त [र] संलिप्तता; शून्य का आलम्बन।

493. **बीज** - [बी] उजागर ओत्पत्तिक कोड (बंधित सूत्र) में [ज] जीवंतता; उजागर ओत्पत्तिक कोड में जीवंतता।

494. **बौद्ध** - [बौ] तर्क (विश्वास)सूत्र की स्वीकार्यता के लिए [द्ध] विनम्र धारणा।

495. **ब्रह्म** - [ब्र] फार्मूलरी संलिप्तता से [ह्म] भौतिक रूप से प्रस्तुत उपलब्धता; फार्मूलरी (कोडेक) तार्किक (विश्वसनीय) संलिप्तता से भौतिक रूप से प्रस्तुत उपलब्धता; सीमित ओत्पत्तिक कोड के अन्तर्गत विकसित।

496. **ब्रह्मणस्पतिः** - [ब्रह्मण] दार्शनिक (ब्रह्म को जानने की क्षमता) द्वारा [स्प] अभिव्यंजक अनुमोदन की [ति] प्रत्यक्ष प्रस्तुति; ब्रह्म को स्पष्ट करने वाला।

497. **ब्रह्मा** - [ब्रह्म] ब्रह्म की [आ] सत्ता।

498. **ब्रह्मा माया** - [ब्रह्मा] सूत्रबद्ध सत्ता की [मा] उपलब्ध [या] प्रत्यक्षता; यहाँ सूत्रबद्ध सत्ता अव्यय ब्रह्म की है।

499. **ब्राह्मण** - [ब्राह्म] ब्रह्म से सम्बंधित [ण] क्रियान्विति।

500. **ब्राह्मणोऽस्य**-[ब्राह्म] ब्रह्म से सम्बंधित [णो] प्रवृत्त उत्सुकता [स्य] का; जिज्ञासा का।

501. **ब्रुवन्तु** - [ब्रु] अन्त: स्थित बन्धित संलिप्तता [व] के छिपे सत् का [न्तु] रिक्ततात्मक समर्पण; बन्धित भावना में रिक्तबोध।

502. **भक्त** - [भ] बिना शर्त स्वीकृति के [क्त] प्रति सचेत प्रस्तुत; अनुगामी; पूर्ण समर्पित अस्तित्व।

503. **भग** - [भ] (अस्तित्व) के मुक्त अधिग्रहण की [ग] स्पष्टता; परमात्मा; योनि।

504. **भगवद्गीता** - [भगवत्] परमात्मा से युक्त [गी] उजागर स्पष्ट [ता] प्रस्तुति।

505. **भजन** - [भ] विश्वास (बिना शर्त अधिगृहीत अस्तित्व) में [ज] शक्ति के लिए [न] कृत्य; विश्वास में शक्ति के लिए कृत्य।

506. **भर** - [भ] स्वतन्त्र अंगीकृत में [र] एकाग्र; संगृहीत।

507. **भरत** - [भ] मुक्त अधिग्रहण में [र] संलिप्तता की [त] प्रस्तुत; सहज (मुक्त) अधिग्रहण में संलिप्तता की प्रस्तुत; अपरंपरागत ढंग से अयोध्या के राज्य का अधिग्रहण।

508. **भर्गो** - [भ] मुक्त अधिग्रहण में [र्गो] शामिल स्पष्टता की ओर; सहज।

509. **भवः** - [भ] स्वतन्त्र अंगीकरण का [वः] छिपा सत्; अस्तित्व स्वीकृति; है।

510. **भाट** - [भा] बिना शर्त सराहना (अनुमोदन) के कर्म की ओर [ट] प्रवृत्ति; बिना शर्त सराहना के कर्म की ओर प्रवृत्ति; बिना किसी कारण के प्रशंसा।

511. **भारत** - [भा] मुक्त रूप से स्वीकार करने में [र] संलिप्तता की [त] प्रस्तुति; सब को मुक्त रूप से स्वीकार।

512. **भाव्यम्** - [भा] अङ्गीकृत संकेत [व्य] अस्पष्ट प्रत्यक्षता [म्] का होना; भाव का होना; का भाव है; भाव को।

513. **भिःईडयो** - [भिः] प्रत्यक्ष स्वच्छन्द अंगीकरण [ई] द्वारा बाह्यप्रत्यक्ष [ड] हुवा हुआ [यो] प्रत्यक्ष सत् की दिशा में; जिस अंगीकरण द्वारा जो बाह्यप्रत्यक्ष हुआ, उस प्रत्यक्ष सत् में जिस।

514. **भिःऋषि** - [भिः] प्रत्यक्ष स्वच्छन्द अंगीकरण [ऋषि] ऋषि।

515. **भीम** - [भी] उजागर साहस (बिना शर्त स्वीकृति) की [म] प्रस्तुत उपलब्धता; उजागर साहस की प्रस्तुत उपलब्धता।

516. **भीरु** - [भी] उजागर मुक्त अधिग्रहण के बारे में [रु] निराशावाद (अंतर्मुखी संलिप्तता); कुछ भी स्वीकार करने के बारे में भयभीत।

517. **भीष्म** - [भी] उजागर प्रतिज्ञा (बिना शर्त स्वीकृति) की [ष्म] इच्छित (व्याप्त) प्रस्तुत उपलब्धता; उजागर प्रतिज्ञा की विशाल प्रस्तुत उपलब्धता।

518. **भुवः** - [भु] जीवन (स्वीकार्य अधिग्रहण) का [वः] छिपा अस्तित्व।

519. **भुवन** - [भु] मुक्त रूप से आंतरिक अधिग्रहण के लिए [व] छिपे अस्तित्व में [न] खालीपन; कुछ भी अधिग्रहण करने की क्षमता।

520. **भूः** - [भूः] अंतर्गमित स्वीकृति में स्वच्छन्द अंगीकरण।

521. **भूत** - [भू] (अतीत में) आंतरिक छिपे अवास्तविक (बिना शर्त) अधिग्रहण का [त] प्रस्तुतीकरण; अतीत की स्मृति से दृश्य प्रस्तुतीकरण; घोष्ट।

522. **भूतानि** - [भू] पूर्व अङ्गीकृत की अंतर्गमित [त] प्रस्तुति [अनि] के लिये; अवधारणा; पूर्वकाल की स्मृतियां ही मनुष्य का अस्तित्व है; सभी मनुष्यों के लिये

523. **भूमिं** - [भू] अन्तःस्थित स्वच्छन्द अंगीकरण [मि] के लिये प्रत्यक्ष उपलब्धता; भूमि; मनोवैज्ञानिक भूमि को स्मृति पटल कहते हैं।

524. **भूर्भुवः स्वः** - सभी तीन चरणों में: शारीरिक, जैविक, और मनोवैज्ञानिक।

525. **भृगवः** - [भृ] स्वयं केंद्रित सहजता में [ग] ज्ञान (स्पष्टता) का [व] तेजस्; शिव का परिष्कृत ज्ञान।

526. **भृगु** - [भृ] दृढ़ता (स्व केंद्रित स्वच्छंद अंगीकृत अस्तित्व) की [गु] अंतर्गमित स्पष्टता; अपने विचारों में दृढ़; गुरुत्वाकर्षण (स्व केंद्रित स्वच्छंद अंगीकृत) से नीचे की तरफ आती हुई स्पष्टता; झरना।

527. **भृत** - [भृ] केंद्रीकृत बिना शर्त अधिगृहीत अस्तित्व (मानव) का [त] आत्मसमर्पण (प्रस्तुत); केंद्रीकृत बिना शर्त अधिगृहीत मानव का आत्मसमर्पण; दास।

528. **भैरव** - [भै] अप्रतिबंधित अधिग्रहण की दृश्यता में [र] संलिप्तता की [व] सशक्तता; अप्रतिबंधित अधिग्रहण की दृश्यता में सशक्त संलिप्तता; शिव।

529. **भोग** - [भो] मुक्त अधिग्रहण की दिशा में [ग] स्पष्टता; मुक्त अधिग्रहण की दिशा में स्पष्टता।

530. **मंगल** - [म] प्रस्तुत उपलब्धता में [ङ्ग] जीवंत स्पष्टता का [ल] विस्तार; प्रस्तुत उपलब्धता में जीवंत स्पष्टता का विस्तार; इकाई का विकास।

531. **मंत्र** - [म] प्रस्तुत उपलब्धता में [न्त्र] सूत्र प्रस्तुत संलिप्तता; सूत्र प्रस्तुति में संलिप्तता; प्रस्तुत कोड (पहचान) सूत्र का उत्सर्जन (प्रस्तुत संलिप्तता)

532. **मण्डूकाः** - [म] प्रस्तुत उपलब्धता के [ण्डू] दूरस्थ (विशाल) कब्जे को अंदर स्वीकार करने की दिशा में [का] सचेत इकाई; दूरस्थ इकाई को सचेतन द्वारा ग्रहण करना।

533. **मति** - [म] संगृहीत याद (प्रस्तुत उपलब्धता) की [ति] स्मरण (प्रत्यक्ष) प्रस्तुति; संगृहीत याद की स्मरण प्रस्तुति; मस्तिष्क की क्षमता।

534. **मद** - [म] संगृहीत यादों (प्रस्तुत उपलब्धता) में [द] प्रस्तुत अस्तित्व (को महसूस करना); संगृहीत यादों के अस्तित्व को महसूस करना; अहंकार को संतुष्ट करना; मादकता है।

535. **मन** - [म] उपलब्धता में [न] स्वीकृत उत्सुकता

536. **मन सो** - [मन] उपलब्धता की प्राप्ति के लिये उत्सुकता की [सो] व्यक्त दिशा; उकसाव की व्यक्त दिशा।

537. **मनुः** - [म] प्रस्तुत उपलब्धता से [नु] स्वीकार्य अधिग्रहण।

538. **मनोमयकोश** - यह अव्यय ब्रह्म का वो भाग है जो 'प्रेरणा' को स्वीकार करने, प्रदान करने और संगृहीत करने के लिए ज़िम्मेदार है। यहाँ प्रेरणाएं अव्यक्त रूप में रहती हैं।

539. **मन्दयत्सखम्** - [म] पदार्थ की [न्द] रिक्तात्मक प्रस्तुति में [य] प्रत्यक्ष सत् का [त्स] भावात्मक व्यक्त [ख] चेतना के लिये स्थान उपलब्ध [म्] होना; सहनशीलता।

540. **मन्युः** - [म] प्रस्तुत उपलब्धता से [न्यु] स्वीकार्य अधिगृहीत प्रत्यक्ष अस्तित्व; स्वीकार्य मनःस्थिति।

541. **मरूतः** - [म] उपलब्धता में [रू] अन्त: स्थित संलिप्तता की [त] प्रस्तुति; अन्त: से उत्पन्न क्रिया में संलिप्तता।

542. **महः** - प्रस्तुत उपलब्धता के लिए जगह; (मनोवैज्ञानिक) जीवन के लिए जगह।

543. **महिमातो** - [महिमा] प्रभाव को [तो] प्रस्तुत करने के लिए; प्रभाव की प्रस्तुति करने के लिये।

544. **महिमान** - [म] पदार्थ में [हि] प्रत्यक्ष असत् को [मान] उपलब्धता [ना] का कर्म; पदार्थ में से असत् को स्वीकार करना।

545. **मा** – [मा] उपलब्ध सत्ता; माया।

546. **मातरिश्वान** - [मा] पदार्थ की [त] प्रस्तुति मे [ि] प्रकट [र] संलिप्तता द्वारा [श्] विश्वसनीय [वा] अहसास का [न] कृत्य; सन्तोषप्रद रूप में।

547. **मातृ** - [मा] प्रस्तुत उपलब्ध इकाई की [तृ] केंद्रीकृत प्रस्तुति; प्रस्तुत उपलब्ध इकाई की केंद्रीकृत प्रस्तुति।

548. **मात्रा** - [मा] प्रस्तुत उपलब्ध सत्ता की [त्रा] प्रस्तुत संलिप्त सत्ता।

549. **मान** - [मा] प्रस्तुत उपलब्धता का [न] अंगीकरण।

550. **माया** - [मा] पदार्थ (प्रस्तुत उपलब्ध इकाई) की [या] दृश्य इकाई; पदार्थ की दृश्य इकाई; संगृहीत उपलब्धता की अभिपुष्टि सत्ता।

551. **मारुत** - [मा] प्रस्तुत इकाई में [रु] स्वीकार संलिप्तता के [त] प्रस्तुत; प्रस्तुत (गुण, गति, द्रव्य) करने में संलिप्तता।

552. **मित्रं** - [ि] प्रकट [म] रूप (गुण, गति, द्रव्य) की प्रस्तुत उपलब्धता में [त्] प्रस्तुत उन्मुख [र] सन्लिप्तता;1. गुण; आदित्य - प्रकट गुण की प्रस्तुत उपलब्धता में प्रस्तुत उन्मुख सन्लिप्तता । 2. गति; मरुत - प्रकट गति की प्रस्तुत उपलब्धता में प्रस्तुत उन्मुख सन्लिप्तता । 3. द्रव्य; मित्र - प्रकट द्रव्य की प्रस्तुत उपलब्धता में प्रस्तुत उन्मुख सन्लिप्तता; उपलब्धता में सन्लिप्तता ।

553. **मुक्ति** - [मु] प्रस्तुत उपलब्धता के लिए [क्ति] प्रत्यक्षत: सचेत प्रस्तुति।

554. **मुख** - [मु] अन्तर्गमित पदार्थ [ख] की चेतनात्मक स्थान उपलब्धता; संकलन स्थान उपलब्धता; स्मृति पटल; समझ।

555. **मुनि** - [मु] अन्तःस्थित पदार्थ [नि] को प्रत्यक्ष अंगीकृत करने की उत्सुकता, जो अन्तः में स्थित है, उसे ही स्वीकृत करने का प्रयास अर्थात् विचार मंथन करने वाला।

556. **मुरली** - [मु] स्वीकार्य प्रस्तुत उपलब्धता की [र] संलिप्तता में [ली] उजागर विस्तार; ध्वनि (स्वीकार्य प्रस्तुत उपलब्धता) की संलिप्तता में उजागर विस्तार; [मु] भावना [भीतरी प्रस्तुत उपलब्धता] में [र] संलिप्तता का [ली] बहिर्वाह विस्तार।

557. **मृत्युः** - [मृ] स्वयं केंद्रित अस्वीकृत अधिग्रहण के [त्यु] स्वीकार्य रूप का प्रस्तुत दृश्य; स्वयं के गैर अनुमोदन की स्वीकृति; मृत्यु की स्वीकृति।

558. **मैं** - [मैं] विनम्र उपलब्धता की दृश्यता में निरंतरता।

559. **मोदक** - [मो] प्रस्तुत उपलब्धता की ओर [द] भोग (प्रस्तुत अस्तित्व) का [क] वैशिष्ट्य; विशिष्ट प्रस्तुत उपलब्धता की प्रस्तुति।

560. **मोह** - [मो] वस्तु (प्रस्तुत उपलब्धता) की ओर [ह] लगाव (भौतिक संवेदन); वस्तु की ओर लगाव।

561. **य** – [य] प्रत्यक्ष सत्; प्रत्यक्ष।

562. **यं** – [यं] प्रत्यक्ष होता हुआ।

563. **यंत** - [य] रास्ते (दृश्य अस्तित्व) के लिए [न्त] सक्रिय प्रस्तुति; रास्ते के लिए सक्रिय प्रस्तुति।

564. **यंत्र** - [य] प्रत्यक्ष अस्तित्व में [न्त्र] सक्रिय रूप से प्रस्तुत संलिप्तता; प्रत्यक्ष अस्तित्व में सक्रिय रूप से प्रस्तुत संलिप्तता।

565. **यकता** - [य] विशिष्ट (दृश्य) अस्तित्व की [क] चेतना में [ता] रूप सत्ता; विशिष्ट अस्तित्व की चेतना में रूप सत्ता।

566. **यक्ष** - [य] सत्य (प्रत्यक्ष अस्तित्व) में [क्ष] सचेत जीवंतता; सत्य में सचेत जीवंतता; समस्त का पर्यवेक्षक।

567. **यच्च** - [य] प्रत्यक्ष सत् [च्च] निरन्तर जीवन्त अर्जित होना; छवि को निरन्तर अर्जित होना।

568. **यजुः** – [य] प्रत्यक्ष सत् की [जुः] अन्तर्गमित जीवन्तता; जीवन्तता की स्वीकृति।

569. **यज्ञं** - [य] प्रत्यक्ष [ज्ञं] का ज्ञेय होना; यज्ञ।

570. **यज्ञमध्यरं** - [यज्ञ] प्राकट्य [म] होने की [ध्] धारणात्मक [य] प्रत्यक्ष [रं] होती हुआ संलिप्तता; प्राकट्य की संरचना।

571. **यज्ञश्रियम्** - [य] प्रत्यक्ष होते [ज्ञ] ज्ञान में [श्रि] दृश्य (रस) जीवन्त (बल) संलिप्तता का [य] प्रत्यक्ष [म्] होना; ज्ञान में समृद्धि।

572. **यथा** - [य] प्रत्यक्ष अस्तित्व की [था] प्रस्तुत स्थापना; प्रत्यक्ष अस्तित्व की प्रस्तुत स्थापना।

573. **यद्यज्ञं** - [य] प्रत्यक्ष सत् [द्य] प्रस्तुत धारित होता हुआ [ज्ञं] प्राकट्य; स्थापित होता प्राकट्य।

574. **यम** - [य] सत्य (प्रत्यक्ष अस्तित्व) की [म] प्रस्तुत उपलब्धता; सत्य की प्रस्तुत उपलब्धता; जाँच - परिणाम; प्रत्यक्ष प्रमाण।

575. **यमन** - [य] सत्य (प्रत्यक्ष अस्तित्व) में [म] प्रस्तुत उपलब्धता का [न] अधिग्रहण जाँच - परिणाम का अधिग्रहण।

576. **यमी** - [यम] यम की [ई] बहिर्वाहता; प्रयोज्यता

577. **यमुना** – [य] नदी [प्रत्यक्ष अस्तित्व] में [मु] अंत:प्रवाह पानी (प्रस्तुत उपलब्धता) का [ना] अर्जन; नदी में अंत:प्रवाह पानी का अर्जन; मस्तिष्क में ज्ञान का प्रवाह।

578. **यश** - [य] प्रत्यक्ष अस्तित्व में [श] जीवंत अनुभूति; प्रत्यक्ष अस्तित्व में जीवंत अनुभूति; गर्व महसूस करना।

579. **यशसं** - [य] प्रत्यक्षता में [श] अनुभूति का [सं] व्यक्त; प्रत्यक्षता में अनुभूति का व्यक्त।

580. **यस्ते** - [य] प्रत्यक्ष सत् को [स्ते] इंगित व्यक्त पेश करना; विशिष्ट सत् का पेश होना।

581. **याचक** - [या] पदार्थ (प्रत्यक्ष इकाई) की [च] प्राप्त उपलब्धि में [क] चेतना; पदार्थ की उपलब्धि में चेतना।

582. **याचना** - [या] पदार्थ (प्रत्यक्ष इकाई) की [च] प्राप्त उपलब्धि के लिये [ना] कार्रवाई; पदार्थ की उपलब्धि के लिये कार्रवाई।

583. **यातु** - [या] प्रत्यक्ष इकाई की [तु] आने वाली प्रस्तुति; आने वाली प्रत्यक्ष इकाई।

584. **यादु** - [या] प्रत्यक्ष इकाई में [दु] गैर कठोरता (अंतर्मुखी प्रस्तुत / आत्मसमर्पित अस्तित्व); प्रत्यक्ष इकाई में गैर कठोरता; तरल।

585. **यासीत्किं** - प्रत्यक्ष सत्ता [या] का व्यक्त होता हुआ [सी] प्रत्यक्ष निरन्तर भावात्म स्पष्टोन्मुख [त्किं]; स्पष्टीकरण।

586. **योग** – [यो] दृश्य अस्तित्व की दिशा में [ग] सकारात्मकता (स्पष्टता); दृश्य संख्या की दिशा में सकारात्मकता; अस्तित्व के प्रति उजागर स्पष्टता; दृष्टि में वास्तविकता।

587. **योगी** - [यो] दिखाई अस्तित्व के प्रति [गी] उजागर स्पष्टता; मोह से दूर वास्तविकता की ओर दृष्टि।

588. **रत** - [र] संलिप्तता में [त] प्रस्तुति; संलिप्तता में प्रस्तुति।

589. **रत्न** - [र] अंगीकृत एकाग्र [त्] प्रस्तुत [न] करना; सम्मोहित होकर।

590. **रथः** - [र] गुण [गति] द्रव्य में संलिप्तता के लिये [थ] स्थापित; निर्मित अस्तित्व की प्रस्तुति; गुण / गति / द्रव्य का स्थापित रूप।

591. **रब** - [र] संलिप्तता में [ब] सशर्त [सूत्र, तर्क और विश्वास] संरक्षण; संलिप्तता में सशर्त संरक्षण।

592. **रम** - [र] संलिप्तता की [म] उपलब्धता प्रस्तुत; संलिप्त हो जाना।

593. **रयिर्मश्नवत्** - [रयि] ऊर्जा धन [र्म] द्वारा उपलब्ध [श्नवत्] जीवन्त क्रिया युक्त; जीवन्त क्रिया युक्तता।

594. **रवि** - [र] संलिप्तता के कारण [वि] छिपे हुए का प्रत्यक्ष होना; रवि के कारण छिपा हुआ प्रत्यक्ष हो जाता है।

595. **रस** - [र] अधिगृहीत एकाग्रता की [स] अभिव्यक्ति; एकाग्र हो कर स्पष्टता का दर्शन करना।

596. **राका** - [रा] संलिप्तताओं के द्वारा [का] चेतना की इकाई; दो संलिप्तताएं हैं: [1] अङ्गिरसः (प्रत्यक्षत: जीवंत स्पष्टता) और 'स्मृति', और [2] अङ्गिरसः और 'श्रद्धा'; अङ्गिरसः के साथ 'स्मृति' और 'श्रद्धा' ही चेतना की पूर्णता (पूर्णिमा) है।

597. **राक्षस** - [रा] संलिप्त इकाई द्वारा [क्ष] सचेत जीवंतता की [स] अभिव्यक्ति; संलिप्त इकाई द्वारा सचेत जीवंतता की अभिव्यक्ति; सुरक्षा और प्रतिबन्ध के लिए सचेत जीवंतता; साधारणतया राक्षस शब्द 'प्रतिबंध' के लिये जाना जाता है, क्यों कि यह नये ज्ञान को प्रतिबंधित कर देता है।

598. **राजन्य** – [रा] एकीकृत [ज] बल [न्य] अधिगृहीत प्रत्यक्षता; बलयुक्तता।

599. **रात्रिः** - [रा] अंधेरे [प्रकाश का गैर उत्सर्जन] की [त्रि] दृश्य प्रस्तुत संलिप्तता; (नोट- यहाँ [र] को [ल] के विपरीत के रूप में लिया गया है)।

600. **राधा** - [रा] एकात्म सत्ता के लिये [धा] धारित सत्ता; एकात्म सत्ता ब्रह्म की है, जो माया को धारण करता है। कृष्ण के संदर्भ में राधा को महामाया कहा गया है।

601. **राम** - [रा] अधिगृहीत एकाग्रता की [म] प्रस्तुत उपलब्धता; अधिगृहीत एकाग्रता की प्रस्तुत उपलब्धता; अधिग्रहण के लिए सतत अंत:प्रवाह; अहंकार की शून्यता; अहंकार की शुन्यता।

602. **रायो** - [रा] अंगीकृत एकाग्रता में [यो] प्रत्यक्ष के लिये; प्रत्यक्ष को अंगीकृत करने के लिये।

603. **रावण** - [रा] संलिप्तता में [व] अंधापन (अदृश्य अस्तित्व) का [ण] क्रियान्वयन; शक्ति के अहंकार के कारण अंधापन।

604. **राष्ट्र** - [रा] केंद्रित इकाई में [ष्ट्र] विशाल सक्रिय संलिप्तता।

605. **रास** - [रा] इकाईओं में संलिप्तता की [स] अभिव्यक्ति; इकाईओं में संलिप्तता की अभिव्यक्ति; यह 'संलिप्तता' ब्रह्म और माया के बीच स्थित है, और एक ही ब्रह्म अलग अलग इकाइयां विकसित करने के लिए अलग अलग माया के साथ शामिल है; इसे नाम और रूप का द्वैत भी कहा जाता है।

606. **राहु** - [रा] अधिगृहीत एकाग्रता के साथ [हु] छुपी काया; अंतरिक्ष मे राहु छिपे हुए ग्रह हैं, ऐसा माना जाता है।

607. **रिग** - [रि] प्रत्यक्ष संलिप्तता में [ग] स्पष्टता; प्रत्यक्ष संलिप्तता में स्पष्टता; ऋग्वेद।

608. **रिप** - [रि] प्रत्यक्ष संलिप्तता [प] को अधिग्रहण करना; जीवन (प्रत्यक्ष संलिप्तता) को अधिग्रहण करना; पृथ्वी।

609. **रुक्ष** - [रु] अप्रसन्नता (अंतर्मुखी संलिप्तता) में [क्ष] सचेत जीवंतता; अप्रसन्नता में सचेत जीवंतता; रूखा।

610. **रुद्रः** - [रु] उद्यम (स्वीकार संलिप्तता) में [द्र] प्रस्तुत संलिप्तता; उद्यम में संलिप्तता।

611. **रुद्राः** - [रुद्र] उद्यम में संलिप्त [आ] इकाई।

612. **रूप** - [रू] अंत: स्वीकृति की संलिप्तता को [प] अनुमोदन; निरंतर अंत:प्रवाह की भागीदारी में अनुमोदन; दिखावट।

613. **रेवतो** - [रे] इंगित एकाग्र के [व] छिपा सत् में [तो] भावना की दिशा; एकाग्रित कर स्मृत होने का भाव।

614. **रो** - [रो] विस्तार प्राप्त करने के लिए अंतरिक्ष की अनुपलब्धता की ओर; दर्द। (नोट- यहाँ [र] को [ल] के विपरीत के रूप में लिया गया है); [र] संलिप्तता [ओ] की ओर।

615. **रोदसी** - [रो] संलिप्तता की दिशा में [द] प्रस्तुति की [सी] अभिव्यक्ति उजागर; [1] रुद्र (संलिप्तता की दिशा में प्रस्तुति) की पत्नी (उजागर अभिव्यक्ति); [2] जैविक गतिविधि (संलिप्तता की प्रस्तुति) में उजागर अभिव्यक्ति; [3] दर्द की प्रस्तुति की अभिव्यक्ति उजागर; रोना।

616. **रोदसी त्रिलोकी** - तीन लोक: - भू:, भुव:, तथा स्व:।

617. **रौद्र** - [रौ] घनीभूत (अधिगृहीत सघनता) की स्वीकार्यता में [द्र] प्रस्तुत संलिप्तता; घनीभूत (छवि) की स्वीकार्यता में प्रस्तुत संलिप्तता।

618. **लक्ष्य** - [ल] दूरी (विस्तार)पर [क्ष्य] लक्ष्य (सचेत जीवंत दिखाई अस्तित्व); दूरी पर लक्ष्य।

619. **लक्ष्मी** - [ल] विस्तार के लिए [क्ष्मी] सचेत जीवंत उपलब्धता का उजागर; विस्तार के लिए सचेत जीवंत उपलब्धता का उजागर; लक्ष्मी में चेतना व जीवंतता, दोनों का समावेश होने से अनेक प्रकार की लक्ष्मी बतायी गयी हैं।

620. **लघु** - [ल] विस्तार की [घु] स्वीकृत सीमा (कवर); विस्तार की स्वीकृत सीमा।

621. **लङ्क** - [ल] विस्तारित उपलब्धता में [ङ्क] जीवंत चेतना; विस्तारित उपलब्धता प्राप्त करना।

622. **लाभ** - [ला] विस्तारित इकाई का [भ] मुक्त अधिग्रहण; विस्तारित इकाई का मुक्त अधिग्रहण।

623. **लिंग** - [लि] ज़ाहिर बढ़ाव में [ङ्ग] जीवंत स्पष्टता; ज़ाहिर बढ़ाव में जीवंत स्पष्टता।

624. **लोक** - [लो] (एक ही स्तर पर) उपलब्ध विस्तार की दिशा में [क] चेतना; चेतना के स्तर।

625. **लोकाँ** – [लो] फैलती हुई [काँ] चेतनता ; फैलती हुई चेतनता; लोक सत्ता में।

626. **लोभ** - [लो] संचय (छिपे हुए इंगित विस्तार) में [भ] अप्रतिबंधित अधिग्रहण।

627. **वंदना** - [व] अदृश्य अस्तित्व के लिए [न्द] आत्मसमर्पण (सक्रिय प्रस्तुत अस्तित्व) का [ना] कार्य; अदृश्य अस्तित्व के लिए आत्मसमर्पण का कार्य।

628. **वंश** - [व] ओत्पत्तिक कोड (अदृश्य अस्तित्व) की [न्श] सक्रिय जीवंत अनुभूतियां; ओत्पत्तिक कोड की सक्रिय जीवंत अनुभूतियां; वंशज।

629. **वक्त** - [व] अदृश्य अस्तित्व द्वारा [क्त] सचेत प्रस्तुति; वक्त अदृश्य होता है, परंतु वह सचेत प्रस्तुति देता है।

630. **वक्षति** - (व) छिपे सत् में (क्ष) सचेत जीवंतता का (ति) प्रत्यक्ष भाव; अनुभूति में सचेत जीवंतता की प्रत्यक्षता; सजीवता।

631. **वज्र** - [व] वजन (बल अस्तित्व) में [ज्र] जीवंत संलिप्तता; वजन में जीवंत संलिप्तता।

632. **वदन्ति** - [व] ओज द्वारा [द] प्रस्तुति का [ि] गोचर [न्] क्रियात्मक [त] आभास; बाह्यमुखी क्रिया; प्रस्तुति की शक्ति में बहिर्वाह सक्रिय प्रवृत्त।

633. **वध** - [व] छिपा अस्तित्व में [ध] स्थापित अस्तित्व; अस्तित्व को छिपाने अर्थात् समाप्ति में स्थापित करना; अस्तित्व समाप्त करना।

634. **वन** - [व] अस्तित्व को छुपाने का [न] कार्य; वन में अस्तित्व आसानी से छिप जाता है।

635. **वनस्पतिः** - [वन] वन (अपरिभाषित अस्तित्व के अधिग्रहण) से [स्प] ज्ञात अस्तित्व (स्पष्ट स्वीकृत अस्तित्व) की [ति] दृश्य प्रस्तुति।

636. **वराह** - सत् में छिपी [व] एकात्म सत्ता [रा] का प्रतीक (स्थूल); अव्यय ब्रह्म।

637. **वरुण** - [व] अदृश्य अस्तित्व; विश्वास की [रु] अंतः एकाग्रता; अंतर्वाह सन्लिप्तता; स्वीकार्य एकाग्रता के लिए [ण] अंतरिक्ष की पूर्ण उपलब्धता; पूर्ण क्षमता। 1. समुद्र; - पानी (अदृश्य अस्तित्व) को एकत्रित करने (अंतर्वाह एकाग्रता) के लिए जगह (अंतरिक्ष) की पूरी उपलब्धता।2. आकाश - शून्य (अदृश्य अस्तित्व) में अंतर्वाह सन्लिप्तता के लिए अंतरिक्ष की पूरी उपलब्धता (आकाश - जहाँ तक सत् के लिये अवकाश उपलब्ध हो)। 3. आदित्य; - अदृश्यता (अंधेरा; रात; आस्था; अदृश्य अस्तित्व) में अंतः एकाग्रता की पूर्ण क्षमता (अंधेरा मिटाने के लिये)। 4. ऋषि - छिपी (अज्ञान; आस्था) दिशा में अंतः एकाग्रता की पूर्ण क्षमता (अज्ञान मिटाने के लिये)। 5. असुर – मात्रा को एकत्रित करने (अंतर्वाह एकाग्रता) की पूर्ण क्षमता; एकत्रित (स्मृत) में एकाग्रता।

638. **वरेण्यं** - [व] कल्पना की [रे] विशिष्ट संलिप्तताओं द्वारा [ण्यं] स्थानिक पुष्टि; कल्पना की विशिष्ट संलिप्तताओं द्वारा स्थानिक पुष्टि; अध्ययन।

639. **वर्ण** - [व] चरित्र (छुपे अस्तित्व) के अनुसार [र्ण] सक्रियण इच्छा में संलिप्त; चरित्र के अनुसार सक्रियण इच्छा में संलिप्त।

640. **वलय** - [व] छिपे अस्तित्व की [ल] विस्तारित उपलब्धता का [य] दृश्य अस्तित्व; छिपे अस्तित्व की विस्तारित उपलब्धता का दृश्य अस्तित्व; घेरा।

641. **वसन्तो** - छिपा सत् [व] व्यक्त [स] अंगीकृत उत्सुक [न्] भाव की दिशा [तो]; छिपी व्यक्तता के प्रति उत्सुकता; आकर्षण।

642. **वसवः** - [व] अंदर छिपी [स] अभिव्यक्ति का [व] अनुभव।

643. **वसु** - [व] छिपे अस्तित्व की [सु] अंदरूनी अभिव्यक्ति; स्मृति।

644. **वाक्** - [वा] विचारों (अनुभूत / अप्रत्यक्ष / कल्प) के द्वारा [क्] सचेतन।

645. **वाचस्पतिः** - [वा] विचारों के द्वारा [च] जीवंतता से [स्प] व्यक्त अनुमोदन की [ति] प्रत्यक्ष प्रस्तुति; जीवंतता के साथ अनुभूत विचार व्यक्त करना।

646. **वाच्** - [वा] आंतरिक इकाई द्वारा [च्] सजीवता का कार्य; आंतरिक इकाई द्वारा सजीवता का उजागर कार्य।

647. **वाजपेय** - [वा] छिपी सत्ता [ज] में जीवंत [पे] इंगित अनुमोदन [य] का प्रत्यक्ष, छिपी सत्ता की जीवंतता को बढाना, अर्थात् अभ्यास करना। अभ्यास करने से दक्षता को बढाया जा सकता है।

648. **वाजिनः** - [वा] विचारों (अनुभूत / अप्रत्यक्ष / कल्प) के द्वारा [जि] दृश्यमान जीवंतता (शक्ति) का [न] कार्य।

649. **वाजिनम्** - [वा] अस्पष्टता की [जि] प्रत्यक्ष जीवन्त [न] क्रिया का [म्] होना; जानने की क्रिया।

650. **वाजेषु** - [वा] अस्पष्टता की [जे] इंगित जीवन्तता में [षु] छिपी इच्छा; जिज्ञासा।

651. **वातः** - [वा] अदृश्य] अनुभूत इकाई [त] प्रस्तुत करना; कोई भी अदृश्य इकाई; वायु।

652. **वायव्यान्** - [वायु] वायु की [या] प्रत्यक्ष सत्ता की [न्] क्रिया; प्रवाह।

653. **वायुः** - [वा] अदृश्य इकाई का [यु] अनुभव (स्वीकार्य दृश्य अस्तित्व); प्रवाह का अदृश्य अनुभव।

654. **वास्तोष्पतिः** - [वा] कल्पना [स्तो] व्यक्त करने के लिए [ष्प] वांछित अनुमोदन की [ति] प्रत्यक्ष प्रस्तुति; कल्पनाओं को व्यक्त करने की क्षमता; इंद्र में कल्पनाओं को प्रस्तुत करने की क्षमता है; वास्तु कला।

655. **विग्रम** - [वि] प्रत्यक्ष आन्तरिक सत् [ग्र] स्पष्ट के द्वारा [म] होना; ध्यान से।

656. **विग्रह** - [वि] कल्पना (अदृश्य अस्तित्व की दृश्यता) के लिए [ग्र] छवि (स्पष्ट संलिप्तता) का [ह] भौतिक अस्तित्व; कल्पना के लिए छवि का भौतिक अस्तित्व; प्रतिमा।

657. **विचार** - [वि] कल्पना (छिपे अस्तित्व की दृश्यता) द्वारा [चा] चयन करने में [र] संलिप्तता; कल्पना द्वारा चयन करने में संलिप्तता।

658. **विज्ञान** - [वि] कल्पना (अदृश्य अस्तित्व की दृश्यता) की [ज्ञा] विश्लेषित इकाई (स्पष्ट प्रत्यक्ष इकाई) का [न] अधिग्रहण; कल्पना की विश्लेषित इकाई का अधिग्रहण।

659. **विज्ञानमयकोश** - यह अव्यय ब्रह्म का वो भाग है जो 'प्रज्ञा' को स्वीकार करने, प्रदान करने और संगृहीत करने के लिए ज़िम्मेदार है। यहाँ प्रज्ञा अव्यक्त रूप में रहती है।

660. **वितान** - [वि] आकाश (अदृश्य अस्तित्व की दृश्यता) में [ता] प्रतीति का [न] अधिग्रहण; आकाश में प्रतीति का अधिग्रहण; फैलाव।

661. **विद्या** - [वि] ज्ञान (छिपे अस्तित्व की दृश्यता) की [द्या] प्रस्तुत सकारात्मक इकाई; ज्ञान की प्रस्तुत सकारात्मक इकाई; ज्ञान; अनुबोध (जाहिरा छिपे अस्तित्व) की प्रस्तुत सकारात्मक इकाई।

662. **विधाता** - [वि] गोचर भावनाएं (गुण / गति / द्रव्य) की [धा] स्थापना का [ता] प्रदाता।

663. **विपण** - [वि] प्रत्यक्ष छिपे सत् [प] के अनुमोदन [ण] की आतुरता; अर्थात् बोलने को उत्सुक।

664. **विपश्चितम्** - [वि] प्रत्यक्ष आन्तरिक सत् के [प] अनुमोदन की [श्चि] प्रत्यक्ष जीवन्त अनुभूति के [त] भाव का [म्] होना; पहचानने का भाव होना।

665. **विपाट्-छुतुद्री** – 1. विपाट् - [वि] कल्पनाओं के [पा] अनुमोदन द्वारा [ट्] सक्रिय; स्वच्छन्द / अनिश्चित सक्रियता। 2. छुतुद्री - [छु] स्वीकार्य गैर-अनुशासित जीवंतता की [तु] आन्तरिक प्रस्तुति की [द्री] उजागर प्रस्तुत संलिप्तता; स्वच्छन्द जीवंतता में संलिप्तता; शक्तिशाली प्रवाह की तरह कुछ।

666. **विप्र** – [वि] कल्पना (गुण; गति; द्रव्य के अदृश्य अस्तित्व की दृश्यता) में [प्र] स्वीकार्य संलिप्तता; कल्पना में स्वीकार्य संलिप्तता; सोचना; बौद्धिक।

667. विप्रा - कल्पना में स्वीकार्य संलिप्त कर्ता।

668. **विभु** - [वि] प्रत्यक्ष बल के साथ [भु] अप्रतिबंधित अधिग्रहण को स्वीकार; प्रत्यक्ष बल के साथ स्वच्छंद अधिग्रहण को स्वीकार; बलशाली स्वच्छंद प्रशासक।

669. **विभ्रजित** - [वि] छवि में [भ्र] स्वच्छंद संलिप्तता में [जि] (चमक) प्रत्यक्ष जीवंतता [त] की प्रस्तुति; छवि में चमक की प्रस्तुति।

670. **विराजः** - [वि] प्रत्यक्ष अस्पष्टता [रा] संलिप्त सत्ता में [ज] जीवन्तता; अस्पष्टता/ संकेत में जीवन्तता।

671. **विराट्** - [वि] प्रत्यक्ष अस्पष्टता; कल्पना [रा] संलिप्त सत्ता का [ट्] प्रवृत्त उत्सुक; अस्पष्टता / संकेत / व्यक्ताव्यक्त में में संलिप्त प्रवृत्त उत्सुक।

672. **विवेक** - [वि] कल्पना (प्रत्यक्षतः छिपे अस्तित्व) के [वे] इंगित आंतरिक अस्तित्व की ओर [क] चेतना; कल्पना की गूढ़ता में चेतना।

673. **विश्वकर्मा** - [वि] दृश्यमान कल्पना के रूप में [श्व] भौतिक रूप से मजबूत छवि का [कर्मा] निर्माण ([क] चेतना के साथ [र्मा] पदार्थों में संलिप्तता)।

674. **विश्वतः** - सभी दिशाओं में।

675. **विश्वा** – [वि] प्रत्यक्ष रूप से छिपी संस्था; कल्पना [श्वा] जीवंत छिपी सत्ता; शौर्य; प्रसन्नता; प्रत्यक्ष कल्पनातीत जीवंतता।

676. **विश्वानरः** - [विश्व] दुनिया के [न] अधिग्रहण में [र] संलिप्तता।

677. **विश्वेदेवाः** – [विश्वे] ब्रह्मांड का विशिष्ट [देवा] विषय।

678. **विष** - [वि] प्रत्यक्ष अंधकार की [ष] व्याप्ति।

679. **विष्णुः** - [वि] कल्पना (दृश्यमान अनुभव) के लिए [ष्णु] अभिलषित/व्याप्त अन्तर्वाह अवकाश (आकाश); विविध रूप के लिए उपलब्ध स्थान; ज्ञान, तर्क, स्पष्टता, आकृति, प्रकाश के लिए उपलब्ध खालीपन।

680. **विष्णुमाया** - तार्किक संलिप्तता की सक्रिय प्रस्तुति।

681. **विष्वङ्** - [वि] छिपे सत् की प्रत्यक्ष में; कल्पना [ष्] इच्छात्मक [व] छिपे सत् [ङ्] की जिज्ञासा; कल्पना में जिज्ञासा रूपी इच्छा।

682. **वीरभद्र** - [वी] उजागर बल में [र] संलिप्त [भ] स्वच्छंद अंगीकरण की [द्र] प्रस्तुत संलिप्तता। शिव का अंश जो प्रजापती दक्ष के यज्ञ को ध्वंस कर देता है।

683. **वीरवत्तमम्** - वीरवत् भाव होना।

684. **वृत्राणाम्** - [वृ] अस्पष्ट एकाग्र [त्रा] प्राकृत सत्ता के [णाम्] प्रवृत्त के लिये स्थान; प्रवृत्ति के फैलाव के लिये।

685. **वृषभः** - [वृ] आत्म केंद्रित भावना में [ष] जोश का [भ] स्वच्छन्द अधिग्रहण।

686. **वृषाकपायी** - [वृ] आत्म केंद्रित कल्पना में [षा] इच्छा द्वारा [क] चेतना के [पा] समर्थक द्वारा [यी] रूप का प्रकटन; कल्पना में इच्छा व चेतना के समर्थक द्वारा विविध रूपों का प्रगटन; [1] विविधता (लक्ष्मी) का प्रकटन, [2] तीव्रता (गौरी) का प्रकटन, [3] अग्नि (इच्छा, स्वाहा) का प्रकटन, और [4] सक्रियण (शचि) का प्रकटन ।

687. **वृषाकपिः** - [वृ] आत्म केंद्रित कल्पना में [षा] इच्छा द्वारा [क] चेतना की [पि] प्रत्यक्ष स्वीकृति; विविध स्वीकृतिया: [1] विष्णु - विविधता स्वीकृति; [2] शिव - तीव्रता स्वीकृति; [3] इन्द्र - सक्रियण स्वीकृति; [4] अग्नि - इच्छा स्वीकृति। चारों ही चेतना के विविध स्वरूप हैं।

688. **वृहस्पतिः** - [वृ] आत्म केंद्रित कल्पना के [ह] भौतिक अस्तित्व के [स्प] स्पष्ट अधिग्रहण की [ति] प्रत्यक्ष प्रस्तुति; जो कल्पनाशील एकाग्रता के साथ भौतिक अस्तित्व बताता है; जो भौतिक इकाई की व्याख्या करता है।

689. **वृहस्पतिसव** - [वृ] स्वकेंद्रित स्मृति [ह] के असत् भाव को [स्प] व्यक्तात्मक अनुमोदन के [ति] प्रत्यक्ष भाव [सव] से व्यक्त करना; सीखे हुए को असत् भाव से व्यक्त करना; सत् को असत् में व्यक्त करने का प्रयत्न।

690. **वेद** - [वे] विशिष्ट विषय (छुपा अस्तित्व) का [द] प्रस्तुत अस्तित्व; विशिष्ट ब्रह्म विद्या का प्रस्तुत अस्तित्व।

691. **वेदांत** - वेद का अंतिम रहस्य।

692. **वेध** - [वे] लक्ष्य (इंगित छिपा अस्तित्व) की दिशा में [ध] स्थापित प्रस्तुति; लक्ष्य की दिशा में स्थापित प्रस्तुति; को लक्षित करना।

693. **वेनः** - [वे] संकेतित कल्पना [न] प्राप्त करने की उत्सुकता; कल्पना में जो भी हो, पाने की इच्छा।

694. **वैश्यः** - [वै] छिपे सत् का प्रत्यक्षता [श्] की जीवन्त अनुभूत्यात्मक [य] प्रत्यक्ष; भोगने के लिये।

695. **वैश्वानरः** - [वै] भावना की दृश्यता में [श्वा] जीवित कल्पना का [नर] अधिग्रहणकर्ता; मर्दानगी जो भावना में जीवंतता महसूस करती है; मर्दानगी जो ब्रह्मांड को महसूस करती है; प्रकट विश्व सत्ता का अधिग्रहणकर्ता; ब्रह्मांड के पुरुष।

696. **वैष्णव** - [वै] छवि की दृश्यता में [ष्ण] इच्छात्मक क्रिया का [व] स्मृति में होना। छवि की दृश्यता में जिज्ञासा का होना।

697. **वोचेयुः** - [वो] उस दिशा से [चे] इंगित (आती हुई) ऊर्जा की [युः] छुपी दृश्यता; कल्पित दिशा में इङ्गित व्यक्त का मर्म।

698. **व्यकल्पयन्** - [व्य] बीतते [कल्प] समय [यन्] की प्रत्यक्ष क्रिया; काल।

699. **व्यक्त** - [व्य] छिपे सकारात्मक अस्तित्व की [क्त] सचेत प्रस्तुति।

700. **व्यक्रामत्** - [व्] छिपे सत् में [क्रा] चेतन संलिप्तता [म] के होने [त्] की प्रस्तुति; बुद्धि।

701. **व्यदधुः** - [व्य] छिपावात्मक प्रत्यक्ष [द] प्रस्तुत [धुः] अन्तःस्थित धारण; विश्वास।

702. **शंकर** - [श] साहस (मनोवैज्ञानिक शक्ति के अनुप्रयोग) की [ङ्क] जीवंत चेतना में [र] संलिप्तता; साहस की जीवंत चेतना में संलिप्तता; पितृ प्राण की जीवंत चेतना में संलिप्त; विश्वसनीय अभिव्यक्ति में जीवंत चेतना द्वारा संलिप्तता; शंकर ने पुराणों की सभी कहानियों को एक विश्वसनीय ज्ञान के रूप में पार्वती को सुनाया। शारीरिक (मनोवैज्ञानिक) बौद्धिक शक्ति के अनुप्रयोग में जीवंत चेतना में संलिप्तता; शंकर किसी भी अस्तित्व की 'ताकत' के रूप में परिभाषित किये जाते हैं।

703. **शंख** - [श] शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग में [ङ्ख] जीवंत अस्पष्ट चेतना; शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग में अस्पष्ट ध्वनि।

704. **शकुनि** - [श] जीवंतता (विश्वास) के साथ [कु] अंधेपन (छिपी हुई चेतना) का [नि] दृश्य कृत्य; विश्वास के साथ असत्य देखना।

705. **शक्ति** - [श] शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग की [क्ति] प्रत्यक्षत सजग प्रस्तुति; शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग की सजग प्रस्तुति।

706. **शतक्रतो** - [शत] जीवन्तता (जीवन्त अनुभूति के भाव) में [क्रतो] ज्ञान (चेतन द्वारा भाव की दिशा); जीवन्तता ज्ञान से।

707. **शतरूपा** - [श] जीवन्त अनुभूति [त] प्रस्तुत-उन्मुख [रूप] रूपा (रूप की सत्ता)।

708. **शत्** - [श] व्यतीत समय का [त्] उपलब्ध प्रस्तुत; एक मानव की कुल उम्र 100 साल मानी जाती है, और इसलिए शत का अर्थ 100 अपनाया गया है।

709. **शब्द** - [श] विज्ञ अनुभव के साथ [ब्द] अनुबद्ध प्रस्तुत अस्तित्व; विज्ञ अनुभव के साथ अनुबद्ध प्रस्तुत अस्तित्व; भाषाएँ अनुभव से बनी हैं। [श] विश्वसनीय अभिव्यक्ति के लिए [ब्द] अनुबद्ध प्रस्तुति।

710. **शर** - [श] शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग में [र] संलिप्तता; शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग में संलिप्तता; तीर।

711. **शरत्** - जीवन्त [श] अनुभूति में [रत्] रत; प्रणय; अनुभूति में रत।

712. **शरीर** - [श] जीवंत शक्ति में [री] उजागर संलिप्तता में [र] संलिप्तता; जीवंत अनुभव में संलिप्तता को उजागर करने में संलिप्तता। जीवन को उजागर करने में संलिप्त।

713. **शर्मणि** - [श] जीवन्त अनुभूति [र्म] द्वारा समपर्ण [णि] के लिये प्रत्यक्ष स्थान; सुरक्षा।

714. **शल्य** - [श] शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग द्वारा [ल्य] विघटित (विस्तारित) दृश्य अस्तित्व; शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग द्वारा विघटित (विस्तारित) दृश्य अस्तित्व।

715. **शस्त्र** - [श] शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग के द्वारा [स्त्र] अभिव्यक्त प्रस्तुत संलिप्तता; शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग के द्वारा संचालित करना।

716. **शाक्त** - जीवंत इकाई में सचेत प्रस्तुति; विश्वास में प्रस्तुति; शिव में समर्पण।

717. **शास्त्र** - [शा] विश्वसनीय व्यक्त संस्था द्वारा [स्त्र] व्यक्त (अर्थपूर्ण) प्रस्तुत संलिप्तता; विश्वसनीय इकाई द्वारा निर्मित साहित्य।

718. **शिक्षा** - [शि] प्रत्यक्ष विश्वसनीयता में [क्षा] जीवंत चेतन सत्ता। जिसको हम मानते हैं, उसे चेतन सत्ता में जीवंत करना।

719. **शिव** - [शि] प्रकट क्रिया शक्ति (विश्वसनीय अभिव्यक्ति; जीवंत अनुभूति) का [व] अदृश्य अस्तित्व।

720. **शिवमाया** - शिव एवं पार्वती के संयोग से उत्पन्न ऊर्जा, बल, पितृ प्राण, शक्ति, कठोरता, स्थिरता, आस्था, विश्वास।

721. **शिष्य** - [शि] जाहिरा विश्वसनीय अभिव्यक्ति का [ष्य] निषेचित प्रतिज्ञान।

722. **शीर्षा** - [शी] बाह्यप्रत्यक्ष होती अनुभूतियों [र्षा] के द्वारा सूत्रात्मक सत्ता; विज्ञानात्मक गृहीता।

723. **शीर्ष्णो** - [शी] बाह्यप्रत्यक्ष अनुभूति [र्ष्णो] के लिये व्याप्तात्मक स्थान उपलब्धता; मस्तिष्क।

724. **शील** - [शी] सीखे हुए को उजागर में [ल] उपलब्ध भावना; सीखे हुए को उजागर में उपलब्ध भावना; आचरण।

725. **शुक** - [शु] स्वीकार्य जीवंत अनुभव के प्रति [क] चेतना; जो भी अनुभव किया है उस में चेतना। शुकदेव - जो भी अनुभव किया है उसे व्यावहारिक रूप मे स्वीकार करने का विषय।

726. **शुक्र** - [शु] शुक्राणु (अंत:प्रवाह जीवंत अनुभाव) के प्रति [क्र] सचेत संलिप्तता; बीज; संस्कारों में सचेत संलिप्तता।

727. **शुक्ल** – [शु] उज्ज्वलता (स्वीकार्य जीवंत अनुभूति) की ओर [क्ल] सचेत विस्तार; जीवंतता (चन्द्र से अंधकार) में चेतना (सूर्य से चमक) का विस्तार; उज्ज्वलता की ओर होता हुआ सचेत विस्तार।

728. **शुचि** - [शु] अनुभूति (स्वीकार्य जीवंत अनुभूति) में [चि] प्रत्यक्ष ऊर्जा; अनुभूति में प्रत्यक्ष ऊर्जा; सौहार्द।

729. **शुनासीरो** - [शु] आंतरिक अभिव्यक्त बल के [ना] शून्यपन की [सी] अभिव्यक्ति को उजागर करने में [रो] संलिप्तता की ओर; आंतरिक कमजोरी को उजागर में संलिप्त।

730. **शुभ** - [शु] आनंदमय (स्वीकार्य जीवंत अनुभूति) का [भ] मुक्त अधिग्रहण; आनंदमय का मुक्त अधिग्रहण; अंत:प्रवाहित जीवंत अनुभव का मुक्त अधिग्रहण।

731. **शुष्क** - [शु] जीवंतता (स्वीकार्य जीवंत अनुभूति) के लिए [ष्क] अभिलषित चेतना; जीवंतता के लिए आवश्यक चेतना; प्यास।

732. **शूद्र** - [शू] श्रम (अंदरूनी शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग) में [द्र] प्रस्तुत संलिप्तता।

733. **शूद्रोऽअजायत** - [शू] विलीन होती जीवन्त [द्रो] के द्वारा प्रस्तुत दिशा में [ऽजायत] उत्पन्न होना; शौर्यविहीनता का उत्पन्न होना।

734. **शून्य** - [शू] जीवंत अनुभूति को स्वीकार में [न्य] खाली प्रत्यक्ष अस्तित्व;जीवंत अनुभूति को स्वीकार में खाली प्रत्यक्ष अस्तित्व।

735. **शूर** - [शू] आंतरिक शक्ति के अनुप्रयोग में [र] संलिप्तता; मनोवैज्ञानिक शक्ति के अनुप्रयोग में संलिप्तता।

736. **शूल** - [शू] भेद्य (स्वीकार्य) शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग की [ल] विस्तारित उपलब्धता; भेद्य शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग में विस्तार।

737. **शेष** - [शे] इंगित जीवंत अभिव्यक्ति की [ष] व्याप्ति; इंगित जीवंत अभिव्यक्ति की व्याप्ति; समापन। "इंगित जीवंत अभिव्यक्ति की व्याप्ति" का अर्थ 'काल' भी है।

738. **शैव** - जीवंत अनुभव की दृश्यता में छिपा हुआ अस्तित्व; जीवंतता पर विश्वास।

739. **शैव** - [शै] जीवंत अनुभव की दृश्यता का [व] अदृश्य अस्तित्व; जीवंत अनुभव की दृश्यता को मानने वाले; जीवंतता पर विश्वास।

740. **श्वित्र** - [श्वि] प्रत्यक्ष अनुभूत जीवन्तता की [त्र] प्रकृति; असत का स्वभाविक रूप।

741. **श्विदारत** - [श्वि] दृश्य व्युत्पन्न अनुभव के [दा] प्रस्तुतकर्ता में [रत] रत; प्रभा प्रस्तुति में रत।

742. **श्याम** - [श्या] अंधेरे (जीवंत) प्रकट इकाई की [म] प्रस्तुत उपलब्धता; अंधेरे प्रकट इकाई की प्रस्तुत उपलब्धता; अंधेरापन। कृष्ण अंधेरे में पैदा हुए थे।

743. **श्येनः** - [श्ये] जीवंत दृश्य अस्तित्व को इंगित करने का [न] कार्य; जीवित अस्तित्व को देखने की क्षमता; गरुड़।

744. **श्रद्धा** - [श्र] विश्वसनीय संलिप्तता में [द्धा] प्रस्तुत अवधारणा।

745. **श्रद्धा** - [श्र] भक्ति (सजीव अनुभव योग्य संलिप्तता) की [द्धा] स्थापित विनम्रता; भक्ति की स्थापित विनम्रता।

746. **श्रवस्तमः** - [श्र] अनुभूत संलिप्तता [व] में छिपे सत् [स्त] का व्यक्तात्मक भाव का [मः] होना; व आन्तरिक स्वभाव।

747. **श्री** - [श्री] जीवंत व्यक्त संलिप्तता को उजागर; जीवंत व्यक्त संलिप्तता (गुण, गति, और द्रव्य) की प्रदर्शित भाव ; सभी प्रकार की प्रतीतियाँ।

748. **श्रीद** - [श्री] का [द] प्रस्तुत अस्तित्व; विभिन्न प्रभावों को प्रस्तुत करना।

749. **श्रीधा** - [श्री] उजागर विश्वसनीय संलिप्तता को [धा] धारण करने वाली सत्ता ; माया को स्मृति में रखना; कुबेर।

750. **श्रुतधर** - [श्रुत] सुनने को [ध] धारण करने में [र] एकाग्र।

751. **श्रृङ्ग** - [श्रृ] पैना (एकाग्रित एकाग्र जीवंत संलिप्तता) की [ङ्ग] जीवंत स्पष्टता; सूक्ष्म में जीवंतता। सुंदरता की जीवंत स्पष्टता।

752. **श्रेय** - [श्रे] विश्वसनीयता (इंगित जीवंत व्यक्त संलिप्तता) का [य] दृश्य अस्तित्व; विश्वसनीयता, आत्मविश्वास, निर्भरता, भरोसा, भरोसेमंदता।

753. **श्रोत्रात्** - [श्रो] अनुभूति संलिप्तता की दिशा [त्रा] में प्रकृति द्वारा [त्] प्रस्तुत है; भिज्ञता।

754. **श्रोत्रान्** - [श्रो] जीवंत संलिप्त दिशा में [त्रा] प्रस्तुत संलिप्तता [न्] का कृत्य ; सुनने का प्रत्यक्ष होना।

755. **षंजन** - [ष] जुनून की [ञ्ज] सचेत जीवंतता का [न] कार्य; जुनून में सचेत जीवंतता का कार्य।

756. **षंड** - [ष] जुनून का [ण्ड] स्थानिक प्रवाह; जुनून का स्थानिक प्रवाह; साँड़।

757. **षडानन** - [षडा] छ की सत्ता मे [न] क्रियात्मक [न] पहचान; कार्तिकेय।

758. **षिंग** - [षि] प्रत्यक्ष जुनून की [ङ्ग] सजीव स्पष्टता; कामुक जुनून की सजीव स्पष्टता।

759. **स** - [स] अभिव्यक्ति।

760. **संयति** - [संयत] संयत, शांत, गंभीर, धीर [इ] का प्रत्यक्ष।

761. **संयति त्रिलोकि** - महः, जनः, सत्यम् की त्रिलोकी।

762. **संहार** - [सं] निरंतर अभिव्यक्ति में [हा] विनाश में [र] संलिप्तता; निरंतर विनाश में संलिप्तता की अभिव्यक्ति।

763. **सकुनिः** - [स] अभिव्यक्ति में [कु] अंधी चेतना का [नि] दृश्य कार्य।

764. **सखा** - [स] अभिव्यक्ति में [खा] 'बिना सवाल की चेतना' की इकाई; ऐसी अभिव्यक्ति जहाँ आपस में कोइ प्रश्न न हो; मित्र।

765. **सखिम्य** - [स] व्यक्त [खि] स्वीकृति (प्रत्यक्ष स्थान उपलब्धता) का [म्य] होता हुआ प्रत्यक्ष; प्रियता का प्रत्यक्ष।

766. **सचन्त** - व्यक्त [स] जीवन्त संकलन [च] का क्रियात्मक भाव [न्त]; ''जो बोलना है'' व्युत्पन्न व्यक्त का क्रियात्मक भाव।

767. **सजीव** - [स] अभिव्यक्ति में [जी] जीवंतता को प्रकाश में लाने का [व] आंतरिक अस्तित्व; आंतरिक जीवंत प्रकाश की अभिव्यक्ति।

768. **सत्** - [स] अभिव्यक्ति का [त्] आभास; आभासी व्यक्त इकाई; छवि; सत्।

769. **सत्ता** - [स] अभिव्यक्ति की [त्ता] स्थापित आभासी इकाई।

770. **सत्य** - [स] अभिव्यक्ति में [त्य] प्रस्तुत अभिपुष्टि] प्रतिज्ञान; प्रत्यक्ष की अभिव्यक्ति।

771. **सत्या** - सत्य द्वारा; सत्य किया जाता है।

772. **सधना** – [स] अभिव्यक्ति में [ध] स्थापित अस्तित्व का [ना] कर्म।

773. **सनातन** - [स] (अतीत की) अभिव्यक्ति से [ना] अधिगृहीत का [त] प्रस्तुत [न] कार्य; परंपरा (अतीत की अभिव्यक्ति से अधिग्रहित) का प्रस्तुत कार्य।

774. **सप्तऋषयः** - [सप्त] सात प्रकार के [ऋ] आत्म एकाग्रता की ओर [ष] इच्छा की [य] दृश्यताएं।

775. **समाधि** - [स] अभिव्यक्ति में [मा] मृत शरीर (अस्वीकृत विद्यमान] का [धि] ज़ाहिर स्थापित विद्यमान; अभिव्यक्ति में मृत शरीर का ज़ाहिर स्थापित विद्यमान।

776. **समिधः** - [स] व्यक्त [मि] प्रत्यक्ष असत् पदार्थ [धः] के धारण के द्वारा; असत् को धारण।

777. **समुद्रः** - [स] अभिव्यक्ति में [मु] स्वीकार्य पदार्थों के लिए [द्र] प्रस्तुत संलिप्तता; पदार्थों का संग्रह।

778. **सम्भृतं** – [स] व्यक्त में [म्भृ] उपलब्ध एकाग्रित स्वीकार्यता [तं] की निरंतर प्रस्तुति; प्रतिष्ठित।

779. **सरण्यूः** – [स] अभिव्यक्ति में [र] संलिप्तता के साथ [ण्यू] स्वीकार्य त्वरित दृश्य अस्तित्व; स्वीकार्य में त्वरित प्रवाह/रूप की अभिव्यक्ति/स्वीकृति।

780. **सरमा**- [स] अभिव्यक्ति में [र] संलिप्तता की [मा] विनम्र इकाई; स्त्रियोचित अभिव्यक्ति।

781. **सरस्वती** - [स] अभिव्यक्ति में [र] संलिप्तता द्वारा [स्व] भाव (व्यक्त कल्पना) की [ती] प्रस्तुति को उजागर करना।

782. **सरस्वान्;** - [स] अभिव्यक्ति में [र] संलिप्तता के साथ [स्वा] छवि को व्यक्त करने में [न्] सक्रिय; छवि को समझाते हुए।

783. **सर्व** - [स] व्यक्त होने के [र्व] द्वारा छिपा सत्; व्यक्त होता हुआ वो; अभिव्यक्ति का आंतरिक दुनिया में होना।

784. **सर्वत** – [स] व्यक्त [र्व] द्वारा अंत:करण में [त] प्रस्तुत उन्मुख; अभिव्यक्ति की आंतरिक दुनिया में प्रस्तुती।

785. **सर्वहुतः**- [सर्व] अभिव्यक्ति का आंतरिक दुनिया [हु] स्वीकृत स्थूल (असत्) [तः] का प्रस्तुत उन्मुख व्यक्त; अंत:करण में स्वीकृत स्थूल की प्रस्तुति।

786. **सवना** - [स] व्यक्त के [व] छिपे सत् का [ना] कर्म; अतार्किक।

787. **सविता** - [स] अभिव्यक्ति में [वि] दृश्यमान छवि के [ता] प्रस्तोता; दृश्यता सूर्य से आ रही है; रूप।

788. सवितुः - [सः] अभिव्यक्ति का [वि] छवि का [तुः] अंत: प्रस्तुत; महसूस।

789. **सह** - [स] भौतिक अभिव्यक्ति [ह] भौतिक विद्यमान उपलब्धत; अभिव्यक्त भौतिक उपलब्धतता

790. **स्र** - [स्र] अभिव्यक्त संलिप्तता; अभिव्यक्त संलिप्तता।

791. **सातये** - [सा] व्यक्तता की [त] प्रस्तुति में [ये] विशिष्ट प्रत्यक्ष; व्यक्तता की प्रस्तुति में विशिष्ट प्रत्यक्ष।

792. **साधना** - [सा] व्यक्त इकाई [ध] स्थापित करने का [ना] कर्म; किसी भी गुण गति द्रव्य को सावधानी पूर्वक स्थापित करना।

793. **साध्याः** - [सा] व्यक्तता [ध्] की धारणात्मक [याः] प्रत्यक्ष सत्ता; संभव; उद्देश्य।

794. **साध्याः** – [सा] व्यक्त इकाई में [ध्या] स्थापित दृश्यता; 1। 'धर्म' एक स्थापित संज्ञा है, 2। 'दक्षता' एक स्थापित संज्ञा है, 3। 'साधा हुआ' एक स्थापित संज्ञा है।

795. **साध्याः** -प्रत्यक्ष धारणा।

796. **साम** - [सा] अभिप्राय (भौतिक रूप से व्यक्त इकाई) की [म] प्रस्तुत उपलब्धता; अभिप्राय की प्रस्तुत उपलब्धता।

797. **सामवेद** - [साम] अभिप्राय की प्रस्तुत उपलब्धता [वे] इंगित रहस्य [द] कि प्रस्तुति।

798. **सामानि** - [सा] व्यक्त सत्ता की [मा] उपलब्धता [नि] के लिये / अशनाया; प्रतीति की उपलब्धता के लिये; मात्रात्मक उन्मुखता।

799. **साशनानशने** - [सा] व्यक्तता [श] की जीवन्त अनुभूति [न] अंगीकृत उत्सुकता [अ] अभाव [न] अंगीकृत उत्सुक [श] के जीवन्त अनुभूति [ने] की इंगित क्रिया; जो अधिग्रहण करता है फिर भी अधिग्रहण नहीं करता।

800. **सिद्ध** - [सि] प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का [द्ध] प्रस्तुत स्थापित अस्तित्व; अभिव्यक्ति में विशिष्ट क्षमता स्थापित कर लेना।

801. **सिनीवाली** – [सि] प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में [नी] सक्रियता (उजागर कार्य) की [वाली] अप्रत्यक्ष उपस्थिति (अप्रत्यक्ष अस्तित्व में उजागर उपस्थिति); 'सक्रियता' को 'दुर्गा' कहा जा सकता है।

802. **सीता** - [सी] उजागर विविध अभिव्यक्ति की [ता] उपलब्ध प्रस्तुति; उपलब्ध प्रकृति।

803. **सुग्रीव** - [सु] स्वीकार्य अभिव्यक्ति को [ग्री] समझने (स्पष्ट संलिप्तता उजागर) का [व] चरित्र (अदृश्य अस्तित्व); सुनने के भाव की आदत।

804. **सुदुधाय्** - [सु] स्वीकृति योग्य व्यक्त [दु] की अन्तः प्रस्तुति [धा] का प्रस्तुत-धारित [य्] प्रत्यक्ष; व्यक्त प्रस्तुति का व्यवस्थित होना।

805. **सुनीति** - नाम से ही स्पष्ट है।

806. **सुपर्णः** – [सु] सौंदर्य (स्वीकार्य अभिव्यक्ति) के [प] अनुमोदन के लिए [र्ण] अंतरिक्ष में संलिप्तता; पक्षी, पेड़, किरण, सूर्य (अंतरिक्ष में संलिप्तता) का बेटा (स्वीकार्य अभिव्यक्ति), अंतरिक्ष को कवर करने वाला एक बड़ा पहाड़, विष्णु (स्वीकार्य अभिव्यक्ति का अनुमोदन) के लिये वाहन (अंतरिक्ष), सौंदर्य (स्वीकार्य अभिव्यक्ति) युक्त पत्ती (ऑक्सीजन अभिग्रहण के लिए अंतरिक्ष में संलिप्तता)।

807. **सुपर्णों** – [ु] अन्तर्वाह [स] अभिव्यक्ति [प] अधिग्रहण [र्] सन्लिप्तता के लिए [ण] आकाश (जिज्ञासा; उत्तेजना; लालसा) [ो] की दिशा; सौंदर्य (स्वीकार्य अभिव्यक्ति) के अनुमोदन के लिए अंतरिक्ष में संलिप्तता; अन्तर्वाह अधिग्रहण की योग्यता।

808. **सुभगाँ** - [सु] स्वीकृत [भ] स्वच्छंद अंगीकृत [गाँ] स्पष्टता की निरन्तरता; आकर्षक।

809. **सुमतीनम्** - बुद्धिमत्ता प्रकट होती है।

810. **सुर** – [सु] आंतरिक अभिव्यक्ति में [र] संलिप्तता; आंतरिक अभिव्यक्तिओं (ज्ञान, क्रिया, भोग) में संलिप्तता; एक इकाई के गुण।

811. **सुरुचि**- नाम से ही स्पष्ट है।

812. **सुरूपकृलुम्** - [सु] अन्तर्गमित व्यक्त होता [रूप] रूप [कृ] चेतन के द्वारा [लु] भावात्मक अन्तः स्वीकृत [म्] होना; मोहक।

813. **सुवन्तः** – [सु] स्वीकृत व्यक्त के [वन्तः] अदृश्य का अन्त; सुंदर स्पष्टता; सौंदर्य।

814. **सूकर** - [सू] अंतर्विलीन व्यक्त (स्थूल) में [क] चेतन को [र] अंगीकृत एकाग्र ; स्थूल को विलीन कर चेतन में एकाग्रित होना।

815. **सूक्ष्म** - [सू] अंतर्विलीन व्यक्त (स्थूल) में [क्ष्] सचेत जीवंतता को [म] उपलब्ध करना। स्थूल का त्याग कर पदार्थ के गुणों को देखना।

816. **सूतक** – [सू] अंतर्विलीन व्यक्त (स्थूल) में [त] प्रस्तुतीकरण में [क] एहतियात (चेतना); व्यक्त देह को अंतर्विलीन मे प्रस्तुत करने में सावधानियां; जन्म - मृत्यु के पश्चात् अशोच।

817. **सूत्र** - [सू] आंतरिक स्वीकृत अभिव्यक्ति में [त्र] प्रस्तुत संलिप्तता; स्वीकृति के लिए मार्गदर्शी सिद्धांत।

818. **सूर्य** – [सू] अवलोकन (स्वीकार्य अंतर्वाह अभिव्यक्ति) के लिए [र्य] प्रकाश (दृश्य अस्तित्व) में संलिप्त; अवलोकन के लिए प्रकाश में संलिप्त; सूरज अवलोकन के लिए रोशनी प्रदान करता है।

819. **सूर्या** – [सृ] स्वीकार्य अभिव्यक्ति को [र्या] दिखाने में संलिप्तता।

820. **सूर्यो** - [सृ] अन्तर्गमित होती हुई व्यक्तता [र्यो] के द्वारा प्रत्यक्ष की दिशा; प्रकाश; देव प्राण; चेतनता।

821. **सृष्टि** – [सृ] सूत्रवत् अभिव्यक्ति की [ष्टि] प्रत्यक्षत: व्याप्त प्रवृत्ति; विज्ञान या भगवान् (सूत्रवत् अभिव्यक्ति) की प्रत्यक्षत: व्याप्त प्रवृत्ति।

822. **सोम** – [सो] अभिव्यक्ति की दिशा में [म] भावनात्मक (प्रस्तुत) उपलब्धता; अभिव्यक्ति की दिशा में भावनात्मक उपलब्धता; चंद्रमा भावना का प्रतीक है; [सो] उत्सर्जन (अभिव्यक्ति) के प्रयोजन के लिए [म] प्रस्तुत की गई उपलब्धता; अंतरिक्ष में उत्सर्जन के उद्देश्य के लिए समय आवश्यक है। 'दिशा' की उपलब्धता के लिये सत्ता के विभिन्न भागों में चेतन के घूर्णन से समय की संरचना होती है। कुल 12 दिशाएं हैं, जिन्हें आदित्य कहा जाता है, प्रत्येक दिशा में अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न प्रकार की उपलब्धियां होती हैं। द्रष्टा को अग्नि द्वारा जो भी उपलब्धि हो रही है।

823. **सोमपाः** - सोम के अनुमोदन द्वारा।

824. **सोमस्य** - [सो] व्यक्त की दिशा में [म] होने [स्य] का; सोम का।

825. **सौरभ** - [सौ] व्यक्त की स्वीकार्यता [र] में संलिप्त [भ] स्वच्छंद अंगीकरण; खुशबु।

826. **स्तृतम्** - [स्] व्यक्त [तृ] स्वस्वीकृत [त] भाव; व्यक्त स्वस्वीकृत भाव।

827. **स्तोम्** – [स्तो] व्याख्या योग्य दिशात्मक प्रस्तुत की [म] विनम्र उपलब्धता; व्याख्या के साथ में विनम्र प्रस्तुति।

828. **स्त्रिः** – [स्त्रिः] प्रत्यक्ष व्यक्त प्रस्तुति में संलिप्त। प्रकृति द्वारा प्रस्तुति तीन प्रकार (गुण, गति, द्रव्य) की होती है और प्रत्येक प्रस्तुति के तीन आयाम (तेज, अप्, अन्न) होते हैं, तथा तीन लोकों (भू, भुवः, स्वः) के द्वारा व्यक्त होते हैं।

829. **स्थूल** – [स्] व्यक्त [थू] घनता (आंतरिक स्थापित अस्तित्व) की [ल] विस्तारित उपलब्धता; व्यक्त घन पदार्थ की विस्तारित उपलब्धता; माया की मात्रा, असत् रूप।

830. **स्पंदन** - [स्] व्यक्तात्मक [प] अनुमोदन में [न्द] शून्य प्रस्तुति [न] में अंगीकरण; अंगीकरण व शून्य प्रस्तुति के मध्य व्यक्तात्मक अनुमोदन से उत्पन्न प्रकंपन।

831. **स्पृत्वा** - [स्] व्यक्त [पृ] केन्द्रित अनुमोदन के [त्] प्रस्तुत में [वा] छिपी सत्ता; सहमति में छिपा भाव।

832. **स्मृति** - [स्] व्यक्त योग्य [मृ] स्व केंद्रित संग्रह (स्मृति) [ति] की प्रत्यक्ष प्रस्तुति; स्मृति की दृश्य प्रस्तुत।

833. **स्याय** - [स्या] व्यक्तात्मक प्रत्यक्ष सत्ता का [य] प्रत्यक्ष होना।

834. **स्वः** - [स्] व्यक्त [वः] आंतरिक अस्तित्व।

835. **स्वस्तिः** - [स्व] व्यक्त भावना की [स्ति] प्रत्यक्षत: अभिव्यंजनीय प्रस्तुति।

836. **ह** – [ह] असत्; भौतिक।

837. **हत्** – [ह] मौत का [त] प्रस्तुतीकरण; प्रस्तुत मौत।

838. **हरि** – [ह] भौतिक अस्तित्व में [रि] प्रत्यक्ष संलिप्तता; जो प्रत्येक भौतिक अस्तित्व में संलिप्त है; परमेश्वर।

839. **हवन** – [ह] लोक रूपांतरण में [व] ज्वलनशीलता (छुपा अस्तित्व) का [न] कार्य; सुक्ष्म दर्शन के लिये संकेत रूप में स्थूल लकड़ी को जलाया जाता है।

840. **हवि** - असत् में छिपा प्रत्यक्ष सत्; असत् की ऊर्जा का प्रत्यक्ष; स्थूल आकृति में छिपा प्रत्यक्ष सत्; स्थूल आकृति के गुणसूत्रों (स्वभाव) का प्रत्यक्ष।

841. **हवि** - [ह] असत् द्वारा [वि] रहस्य (छुपा अस्तित्व) को प्रत्यक्ष; असत् द्वारा सूक्ष्म के रहस्य को प्रत्यक्ष करना।

842. **हविर्धाने** – [ह] भौतिक अस्तित्व की [वि] दृश्य भावना की [र्धा] अवधारणा में संलिप्त [ने] साङ्केतित कृत्य; भौतिक अस्तित्व का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व; भौतिक अस्तित्व प्रतीकों के रूप में बलिदान किया जाता है।

843. **हविषा**- असत् [ह] में छिपे प्रत्यक्ष [वि] की इच्छा [षा]; कामुकता; जिज्ञासा; प्राप्तेच्छा।

844. **हस्तघ्नः** – [ह] भौतिक अस्तित्व के [स्त] व्यक्तिक प्रस्तुति का [घ्न] सांबोधिक कार्य।

845. **हास** – [हा] भौतिक उपलब्ध इकाई में [स] अभिव्यक्ति; भौतिक उपलब्ध इकाई की अभिव्यक्ति।

846. **हिरण्याक्ष** - [हि] प्रत्यक्ष असत् में [र] संलिप्तता द्वारा [ण्या] स्थानिक अभिपुष्टि में [क्ष] जीवंत चेतना; हिरण्याक्ष 'असत् में संलिप्तता' द्वारा ही पृथिवी (स्थानिक अभिपुष्टि) में जीवंत चेतना चाह रहा है, जो कि असम्भव है।

847. **हूर** – [हू] सुंदरता (अंदर स्वीकार्य भौतिक उपलब्धता) में [र] संलिप्त; सुंदरता में संलिप्त।

848. **होतारम्** - [हो] स्थूल की दिशा में [ता] प्रस्तुत कर रहे [र] का अंगीकरण; स्थूल का अंगीकरण।

849. **होली** – [हो] भौतिक अस्तित्व के जलने (मृत्यु) की दिशा में [ली] उजागर विस्तारित उपलब्धता; स्थूल को जला कर सूक्ष्म प्राप्त करने की इच्छा है।

850. **हौआ** – [हौ] मौत की स्वीकार्यता की [आ] इकाई; कल्पित भयानक जीव।

851. **ह्रषि** – [ह्र] भौतिक आकर्षण के साथ [षि] प्रत्यक्ष चाहना; भौतिक आकर्षण के साथ प्रत्यक्ष चाहना; आनंद।

852. **ह्रास** – [ह्रा] प्राणघातक संलिप्तता की [स] अभिव्यक्ति; प्राणघातक संलिप्तता की अभिव्यक्ति।

853. **यत्** - [य] प्रत्यक्ष इकाई की [त्] प्रस्तुति उत्सुकता; जो कि

854. **भूतं** – [भू] अंत: में अङ्गीकृत किया हुआ [तं] भाव; अवधारणा

855. **पुनः** - [पु] स्वीकृत्यात्मक अनुमोदन [नः] शून्यता के कारण; शून्यता के कारण अनुमोदन पुन: पुन: हो रहा है।

856. **पश्चात** – [प] अनुमोदन [श्चा] जीवंत छिपी हुई [त] प्रस्तुति; अभी नहीं बाद में।

857. **यज्ञात्** - [य] प्रत्यक्ष सत् [ज्ञा] में प्राकट्यता [त्] में प्रस्तुत उन्मुख; यज्ञ में; व्यक्त होने की प्रक्रिया; मनन।

858. **च** – [च] निरंतर जीवन व्युत्पन्नता; और

859. **ये** – [ये] इंगित प्रत्यक्ष।

860. **अश** – [अ] अभाव में [श] जीवंत अनुभूति; जीवंत अनुभूति का अभाव।

861. **तदस्य** – [त] प्रत्यक्ष [द] प्रस्तुति [स्य] का।

862. **समवर्त्तत** - [स] व्यक्त [म] उपलब्धता [व] अदृश्य [र्त्त] द्वारा प्रवर्तित [त] प्रस्तुति; समान रूप से प्रयुक्त करना।

863. **तथा** – [त] प्रस्तुत पर [था] स्थापित प्रस्तुत; पुन: प्रस्तुत।

864. **एण** – [ए] इंगित [ण] प्रवृतिता।

865. **ग्रीष्मऽइध्मः** – [ग्री] बाह्य प्रत्यक्ष स्पष्ट संलिप्तता [ष्म] व्याप्त होने का [इ] प्रत्यक्ष का [ध्मः] धारित होना; प्रकाश की व्याप्ति का धारित होना।

866. **सप्त** – [स] व्यक्तता में [प्त] अनुमोदित प्रस्तुति; प्रत्येक की प्रस्तुति सात लोकों के अंतर्गत व्यक्त होती है अत: 'सप्त' को सात कहना अनुचित नहीं है।

867. **अजयन्त** – [अ] अस्तित्व [ज] जीवंत [य] प्रत्यक्ष अस्तित्व [न्त] सक्रिय होना; अस्तित्व में जीवंतता का सक्रिय होना।

868. **यत्र** – [य] प्रत्यक्ष अस्तित्व की [त्र] प्रस्तुत संलिप्तता; यहाँ।

869. **पूर्वे**-[पू] अंत: अनुमोदन [र्वे] द्वारा विलीन अस्तित्व; अब विलीन हो चुका; पूर्वमें था।

870. **सन्ति**- [स] व्यक्त [न्ति] सक्रिय प्रत्यक्ष प्रस्तुति।

871. **यज्ञेन** – [य] प्रत्यक्ष अस्तित में [ज्ञे] इंगित प्राकट्य [न] की क्रिया; प्रत्यक्ष अस्तित को प्रकट करने की क्रिया -871

10.0 वेद मंत्रों का आशय

10.1 यजुर्वेद - अथैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः (पुरुष-सूक्तम्)

प्रस्तावना

पुरुष-सूक्त की विवेचना से पूर्व 'पुरुष' शब्द को परिभाषित करना आवश्यक है, क्यों कि व्यावहारिक अर्थों में पुरुष शब्द रूढ़ता को प्राप्त है। 'वेद' दर्शन का विषय है तथा इसमें प्रयुक्त शब्द के अर्थ किसी स्थूलत्व का निरूपण नहीं करता. यह एक ही ब्रह्म के किसी विशेष घटक को प्रकाशित करता है। अर्थात् पुरुष भी ब्रह्म का एक घटक है, जिसे कर्ता भाव कहा जाता है, जिसका निरूपण पुरुष सूक्त करता है.

प्रत्येक इकाई तीन प्रकार की क्रियाओं से बनती है इनमें प्रथम है – अन्तर्गमन करने वाली क्रिया जो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संचालित होती है, जैसे चक्षु इन्द्रिय द्वारा रूप का ग्रहण करना। द्वितीय है बहिर्गमन क्रिया जो कर्मेन्द्रियों द्वारा संचालित होती है, जैसे पांव से चलना, बोलना आदि। तृतीय है स्वगमन क्रिया जो मन द्वारा संचालित होती है, जैसे विचार करना। कोई भी इकाई हो, उसकी सूत्रात्मकता अर्थात् सत् उसका स्वरूप (ब्रह्म) है। उसमें परिमितता असत् (माया) से आती है, अर्थात् गुण, गति, द्रव्य तीनों की उपलब्धता प्रकृति से आती है तथा उस इकाई के संचालन में स्वीकृति पुरुष की होती है। यह इकाई भौतिक, वानस्पतिक, मनोवैज्ञानिक या बौद्धिक कोई भी हो सकती है परन्तु वेदों में मूलतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि ही मिलती है।

व्यवहाररूप में पुरुष इकाई का वह भाव है जो प्रत्येक (1) वैविध्यता को विश्लेषित कर विविधता को स्पष्ट करता है, इस प्रकार 'रस' का प्रवाह करता है। (2) असंयत स्पन्दनों को लयबद्ध कर शक्ति को जीवन्त करता है, इस प्रकार 'बल' का प्रवाह करता है (3) इस 'रस' व 'बल' से उदित छवि को इकाई की सत्ता की स्मृति में संगृहीत कर देती है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।1।।

शब्दार्थ - [**सह**[789]] अभिव्यक्त भौतिक उपलब्धतता**,** [**स्र**[790]] अभिव्यक्त संलिप्तता, [**पुरुषः**[458]] पुरुष द्वारा, [**शीर्षा**[722]] विज्ञानात्मक योग्यता, [**अक्ष**[3]] आलम्बात्मक योग्यता, [**पात्**[442]] स्वीकृत्यात्मक योग्यता, [**स**[759]] व्यक्त भाव, [**भूमिं**[523]] स्मृति पटल को, [**सर्वत**[784]] अभिव्यक्ति की

आंतरिक दुनिया में प्रस्तुति, [**स्पृत्वा**[831]] सहमति में छिपा भाव, [**अति**[18]] मात्रात्मक प्रस्तुति, [**अतिष्ठत्**[21]] स्थिर होता भाव; स्थिरता, [**दशाङ्गुलम्**[320]] विकास होना

भावार्थ–पुरुष उपलब्ध छवि (अभिव्यक्त भौतिक उपलब्धतता में संलिप्तता) को विज्ञानात्मक योग्यता, आलम्बात्मक योग्यता, स्वीकृत्यात्मक योग्यता द्वारा व्यक्त कर स्मृति पटल पर छिपी सहमति के कारण छवि के मात्रात्मक बोध को स्थापित करता हुआ सत्ता का विकास करता है।

अर्थात् – पुरुष प्रकृति की छवि का निरंतर दर्शन करता रहता है। यह दर्शन तीन प्रकार से होता है। (1) विज्ञानात्मक योग्यता से पुरुष प्रकृति की विविधता को स्पष्ट करता है। (2) आलम्बनात्मक योग्यता से पुरुष प्रकृति के स्पंदनों से सक्रियता व्युत्पन्न कर देती है। (3) नामात्मक से पुरुष प्रकृति के रूप को स्वीकार करता है। उपर्युक्त तीनों के समन्वय से प्रकृति की छवि प्रकट होती है। स्मृति पटल की सम्पूर्ण आंतरिक दुनियां में एक सहमति (आप्) का भाव होता है। जिसके कारण उस छवि का मात्रात्मक भाव स्मृति में स्थापित होता हुआ उसे और विकसित करता है। इस प्रकार पुरुष प्रकृति से नये बोध की प्राप्ति करती है तथा अपने अक्षर का विकास करता है। यह बोध ज्ञानात्मक भी हो सकता है, कर्मात्मक भी हो सकता है। सक्रिय रूप से स्पष्टता की स्वीकृत करने से ज्ञान उत्पन्न होता है, तथा स्पष्ट दिशा में सक्रियता को स्वीकृत करने से कर्म उत्पन्न होते हैं।

अभिप्राय- पुरुष का समस्त विकास इस बात पर निर्भर करता है कि उसे प्रकृति का कितना साङ्गोपाङ्ग ज्ञान है तथा वह उस ज्ञान को कितनी स्पष्टता (गुण) तीव्रता (गति) तथा मात्रा (द्रव्य) से प्राप्त तथा क्रियांवित कर सकता है।

पुरुषऽएवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्त्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।2।।

शब्दार्थ- [पुरुषऽ[458]] पुरुष अस्तित्व, [एवेद[145]] इस विशिष्ट ज्ञेय की प्रस्तुति, [सर्वं[783]] अभिव्यक्ति का आंतरिक दुनिया में होना, [यत्[853]] जो कि, [भूतं[854]] अवधारणा, [यच्च[567]] ज्ञेय को निरन्तर अर्जित करना, [भाव्यम्[512]] भाव का होना; भाव को, [उत[115]] वह, [अमृत्वस्य[48]] अव्यय, [ईशानो[112]] बाह्य प्रत्यक्ष संकेतों की अनुभूति द्वारा अंगीकरण की दिशा, [यत्[853]] जो कि, [अन्नेन[39]] अन्न का अङ्गीकरण, [अतिरोहति[20]] विकास का कारण।

भावार्थ – पुरुष का अस्तित्व एक विशिष्ट ज्ञेय को मन:पटल (अभिव्यक्ति की आंतरिक दुनिया) में प्रस्तुत करता है, जो कि इस अवधारणा को निरंतर अर्जित करने का भाव है। इस भाव

को निरंतर बाह्य प्रत्यक्ष संकेतों के साथ अन्न के रूप में अङ्गीकरण कर अपना विकास करता है। (अंतर्गमन)

अर्थात् – पुरुष के मन:पटल पर दो दिशाओं से प्रस्तुति होती है। प्रथम है, उसकी आंतरिक दुनियां, जहां अनेक स्मृतियां हैं, तथा द्वितीय है बाहर से प्रत्यक्ष संकेत। दोनों के मिलने से बनने वाला भाव स्मृति में अङ्गीकृत होता हुआ पुरुष के अक्षर का विकास करता है।

अभिप्राय- पुरुष जो भी कुछ नया देखता है वह हमारे पूर्व धारित ज्ञान तथा नये प्रत्यक्ष के आधार पर होता है। (अंतर्गमन)

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।3।।

शब्दार्थ - [एतावानस्य[143]] इसलिए; इस तरह से; इस (बोध) के, [महिमातो[543]] प्रभाव की प्रस्तुति करने के लिये, [ज्यायाँश्च[270]] दृढ़ प्रत्यक्ष द्वारा प्रत्यक्ष होने की इच्छा के कारण व्युत्पन्न होते संवेग / प्रत्यक्ष करने की इच्छा का संवेग , [पूरुषः[458]] पुरुषः, [पादोस्य[445]] अनुमोदक प्रस्तुति की दिशा का, [विश्वा[675]] कल्पित प्रत्यक्ष में कल्पनातीत शौर्य / विश्वास , [भूतानि[522]] अवधारणा; पूर्वाग्रह; मनुष्यों के लिये, [त्रिपादस्य[305]] तीनों (गुण, गति, द्रव्य) के अनुमोदन की व्यक्त प्रस्तुति, [अमृतं[47]] निरन्तर; अव्यय, [दिवि[305]] प्रत्यक्ष प्रस्तुत करता है।

भावार्थ – इसी तरह से यह पुरुष संकेत प्रस्तुति के लिये प्रत्यक्ष करने की इच्छा का संवेग का वहन करता है। यह अनुमोदन की प्रस्तुति तीनों प्रकार के व्यक्त, 1. प्रस्तुति का अनुमोदन, 2. प्रत्यक्ष में कल्पनातीत शौर्य / विश्वास, तथा 3. अवधारणा को निरंतर प्रत्यक्ष प्रस्तुत करता है।

अर्थात् – जिस प्रकार पुरुष अंतर्गमन क्रिया करता है, उसी प्रकार बहिर्गमन क्रिया करता है। बाह्य प्रस्तुत करने की इच्छा के कारण संवेग उत्पन्न होता है जिसके तीन आधार होते हैं। यह आधार हैं अनुमोदन, शौर्य, तथा अवधारणा। अनुमोदन से जो प्रत्यक्ष किया जा रहा है उसकी मात्रा परिभाषित होती है। शौर्य पितृ प्राण है जो क्रिया में साहस प्रदान करता है। अवधारणा प्रत्यक्ष होने वाले संकेत का स्वरूप है। इस प्रकार प्रत्यक्ष होता हुआ कर्म 1. द्रव्य (अनुमोदन मात्रा), 2. गति (साहस), तथा 3. गुण (अवधारणा) से युक्त होता है।

अभिप्राय- जब पुरुष आंतरिक संवेग के कारण संकेत का बहिर्गमन करता है तो वह अनुमोदन की मात्रा, साहस तथा अवधारणा के संयोजन से युक्त होता है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशनेऽअभि।।4।।

शब्दार्थ - [त्रिपाद[305]] बोध के तीनों (गुण, गति, द्रव्य) प्रकारों के अनुमोदित होते हुए, [ऊर्ध्वः[129]] अदृश्य होती हुई धारणात्मक छवि; बहिर्गमित होती अवधारणाएं, [उदैत्[119]] अव्यक्त का व्यक्त होना, [पुरुषः[458]] पुरुष, [पादः[443]] अनुमोदनता की प्रस्तुति द्वारा, [अस्य[69]] यह; इसका, [इह[110]] यहाँ, [अभवत्[43]] हुआ है; स्व स्वभाव का प्रदर्शन; मन:पटल पर उपस्थित, [पुनः[855]] पुन:, [ततो[276]] यहाँ, [विष्वङ्[681]] कल्पना में जिज्ञासा रूपी इच्छा; छिपी हुई जिज्ञासा, [व्यक्रामत्[700]] बुद्धि, [साशनानशने[799]] जो अधिग्रहण करता है फिर भी अधिग्रहण नहीं करता; व्यक्ताव्यक्त, [अभि[45]] सत् का बिना शर्त स्वीकृत; अभिलषित।

भावार्थ – बोध के तीनों (गुण, गति, द्रव्य) प्रकारों के अनुमोदन अंतर्गमन में अव्यक्त से व्यक्त उपस्थित हो जाती हैं। तब कल्पना को जिज्ञासा तथा बुद्धि से व्यक्ताव्यक्त सत् के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है।

अर्थात् – इस प्रकार बोध से व्युत्पन्न (गुणात्मक, गत्यात्मक, तथा द्रव्यात्मक) छवि, चाहे अंतर्गमित हो या बहिर्गमित अव्यक्त से व्यक्त प्रतीकों के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यहां पुरुष जिज्ञासा के कारण, तथा बुद्धि के उपयोग से उन व्यक्ताव्यक्त प्रतीकों में से उपयुक्त का चयन करता है तथा सत्य मान स्वीकार कर लेता है।

अभिप्राय- प्रत्येक संकेत व्यक्ताव्यक्त प्रतीकों के रूप में पुरुष के मन:पटल पर उपस्थित होता है, जिसमें से बुद्धि उपयुक्त का चयन कर छवि के रूप में स्वीकर कर लेती है। इसको जानना कहा जाता है। (स्वगमन)

ततो विराडजायत विराजोऽअधि पूरुषः।
स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः।।5।।

शब्दार्थ - [ततो[276]] यहाँ, [विराट्[671]] व्यक्ताव्यक्त में संलिप्त प्रवृत्त, [अजायत[14]] उत्पन्न होने का प्रत्यक्ष भाव, [विराजः[670]] व्यक्ताव्यक्त में संलिप्त जीवन्तता, [अधि[29]] स्थापित, [पुरुषः[458]] पुरुष:, [स[759]] व्यक्त, [जातः[258]] उत्पन्न होना; उद्भूत संस्कार, [अति[18]] गहराई से; मात्रात्मक प्रस्तुति, [अरिच्यत[51]] अंगीकृत कर संकलन करने, [पश्चात्[56]] बाद में, [भूमिम्[523]] स्थान उपलब्धता; स्मृति पटल, [अथो[26]] स्थापित का अस्तित्वगत होना; वजूद की स्थापित दिशा में।

भावार्थ – यहां व्यक्ताव्यक्त (प्रतीक) में संलिप्त उत्पन्न प्रवृत्तता तथा प्रतीक में संलिप्त जीवन्तता स्थापित करते हुए पुरुष व्यक्त को उत्पन्न कर देता है। उस व्यक्त बोध को गहराई से संकलन करने के पश्चात् स्मृति पटल में स्थापित कर दिया जाता है।

अर्थात् – यह उपयुक्त का चयन प्रतीक में संलिप्तता तथा प्रतीक में जीवंतता से होता है, जिससे एक व्यक्त छवि बनती है, जो कि अपने वजूद के साथ स्मृति पटल में स्थापित हो जाती है।

अभिप्राय-हमारे स्मृतिपटल पर जो भी छवि बनती है वह जीवंतता के साथ सलग्न है.

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।।6।।

शब्दार्थ - [तस्मात्[286]] उस प्रस्तुत से, [यज्ञात्[857]] यज्ञ प्रक्रिया में; मनन, [सर्वहुतः[785]] अंत:करण में अंतर्गमित स्थूल की प्रस्तुति, [सम्भृतं[778]] प्रतिष्ठित, [पृषदाज्यम्[468]] अनुमोदन के द्वारा व्याप्त प्रस्तुति का जीवंत होना, [पशूं:[438]] बहिर्गमित जीवंतता का होना, [ता:[287]] भाव प्रस्तुति, [चक्र[231]] एक ही स्थान पर चेतन को जीवन्त करना, [वायव्यान्[652]] वायु की प्रत्यक्ष सत्ता की क्रिया; प्रवाह, [आरण्या [86]] अव्यवस्थित, [ग्राम्याः[226]] व्यवस्थित, [च[858]] और, [ये[859]] इंगित प्रत्यक्ष

भावार्थ – उस प्रस्तुत यज्ञ प्रक्रिया में अंत:करण में स्थूल संकेत को अंतर्गमित कर प्रतिष्ठापित किया जाता है। उस व्याप्त प्रस्तुति के अनुमोदन के द्वारा अंत:करण जीवंत हो उठता है। तदुपरांत बहिर्गमन जीवंतता की भाव प्रस्तुति होती है। एक ही स्थान पर दोनों के प्रभाव से चेतन चक्र प्रवाहित होता है जिससे अव्यवस्थित और व्यवस्थित संकेत इंगित प्रत्यक्ष हो जाता है।

अर्थात् – यज्ञ प्रक्रिया में जैसे ही अंत:करण पर स्थूल संकेत की आहुति प्रतिष्ठित की जाती है, पूरा अंत:करण जीवंत हो उठता है। भाव रूपी जीवंतता बहिर्गमित होती है और एक चक्र (देव प्राण तथा पितृ प्राण) प्रवाहित होने लगता है। इस बहिर्गमन चक्र में बल रहित व्यवस्थित भाव (देव भाव) तथा बलयुक्त अव्यवस्थित भावों (पितृ भाव) की पुनरावृत्ति होती है। तथा यह दोनों मिल कर बोध रूप में बाह्य प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

अभिप्राय- संकेत रूप में जिसे हम यज्ञभूमि कहते हैं वह हमारा अंत:करण है। इस अंत:करण पर अव्यक्त संकेत आते हैं, जिससे अंत:करण जीवित हो जाता है। फलस्वरूप इंद्रिया बाहर की तरफ संकेत उत्सर्जन करती हैं। यह उत्सर्जन देव प्राण तथा पितृ प्राण के रूप में आवृत्ति मय होता है। देवप्राण तथा पितृप्राण क्रम से एक के बाद एक मिल कर युक्तिसंगत समुच्चय बनाते हैं जिसे हम व्यक्त उत्सर्जन कहते हैं। (उत्सर्जन प्रक्रिया)

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।7।।

शब्दार्थ - [तस्मात्[286]] उस प्रस्तुत से, [यज्ञात्[857]] यज्ञ में; व्यक्त होने की प्रक्रिया; मनन, [सर्वहुतः[785]] अंत:करण में स्वीकृत स्थूल की प्रस्तुति, [ऋचः[134]] संकुचन का व्युत्पन्न उन्मुख; सूत्रात्मक उन्मुखता; नाम, [सामानि[798]] प्रतीति की उपलब्धता के लिये; मात्रात्मक उन्मुखता; रूप, [जज्ञिरे[247]] जीवन्तता प्रकट करने वाला; जीवंतता को जानने की इच्छा, छन्दां [सि[245]] छंट कर

प्रस्तुत होता प्रत्यक्ष व्यक्त; विश्लेषित व्यक्त, [जज्ञिरे[247]] जीवन्तता प्रकट करने वाला; जीवंतता को जानने की इच्छा, [तस्मात्[286]] उस प्रस्तुत से, [यजुः[568]] प्रत्यक्ष जीवन्तता की स्वीकृति, [तस्मात्[286]] उस प्रस्तुत से, [अजायत[14]] उत्पन्न होने का प्रत्यक्ष भाव।

भावार्थ - उस यज्ञ प्रक्रिया के अंत: करण में स्थूल की स्वीकृति से सूत्रात्मक उन्मुखता (नाम) तथा प्रतीति उन्मुखता (रूप) का जीवन प्रकट होता है। उस प्रकट बोध से विश्लेषित व्यक्त (रस) तथा व्युत्पन्न जीवन्तता (बल) से जीवन का प्रत्यक्ष भाव उत्पन्न होता है।

अर्थात् – यज्ञ प्रक्रिया (मनन प्रक्रिया) में अंत:करण **अर्थात्** मन:पटल पर स्थूल या असत् के अनेक प्रतीक उपस्थित होते हैं जो कि सूत्रात्मक उन्मुखता (नाम) तथा प्रतीतात्मक उन्मुखता (रूप) के रूप में होते हैं। दोनों की अंत:प्रक्रिया से जीवन का बोध उत्पन्न होता है। यह विश्लेषित व्यक्त (रस) तथा जीवन्तित व्यक्त (बल) के प्रकट होते हुए बोध में प्रत्यक्ष हो जाते हैं। यज्ञ प्रक्रिया में दोनों दिशाओं से अव्यक्त संकेत असत् रूप में प्राप्त होते हैं। मन:पटल पर जो भी संकेत आते हैं वे नाम-रूपात्मक होते हैं। यह अंत:प्रक्रिया के पूर्व की स्थिति है तथा यह अंत:प्रक्रिया का भविष्य कहलाती है। वर्तमान काल में अंत:प्रक्रिया होती है तथा जीवन का बोध उत्पन्न होता है। यह वर्तमान क्षणिक होता है। लेकिन वर्तमान में नाम-रूप तथा रस- बल दोनों उपस्थित रहते हैं। वर्तमान के बाद यह बोध हमें भूत काल में दिखाई देता है। लेकिन भूत काल में इसका स्वरूप हमें रस-बल के रूप में दिखाई देता है।

अभिप्राय– पुरुष जो भी संकेत प्राप्त करता है वह नाम (पहचान) रूपात्मक (प्रतीति) होते हैं। बोध उत्पन्न होने के बाद यह बोध हमें रस (स्पष्टता) तथा बल (जीवंतता) के रूप में दिखाई देता है।

तस्मादश्वाऽअजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः।।8।।

शब्दार्थ - [तस्मात्[286]] उस प्रस्तुत से, [अश्वा[63]] अस्तित्व में बल / आश्रय, [अजायन्त[15]] अस्तित्व में जन्म होना, [य[561]] प्रत्यक्ष, [के[179]] के, [चोभयादतः[241]] गति को स्वच्छन्दता से अंगीकार करने के लिये प्रस्तुत, [गावो[211]] स्पष्टता छिपाने की दिशा, [ह[836]] स्थूल, [जज्ञिरे[247]] जीवन्तता / बल प्रकट करने वाला; जीवंतता को जानने की इच्छा, [तस्मात्[286]] उस प्रस्तुत से, [तस्मात्[286]] उस प्रस्तुत से, [जाताः[261]] संस्कार, [अजायवः[16]] छिपी जीवन सत्ता।

भावार्थ – उस प्रस्तुति के कारण अस्तित्व में जो बल की अनुभूति का जन्म होता है, वह गति को स्वच्छन्दता से अंगीकार करने के लिये प्रस्तुत रहता है। यह स्पष्टता (देव प्राण; प्रज्ञा) को

छिपाने वाला तथा स्थूल में बल प्रकट करने वाला है। तथा यह संस्कार भी जीवन सत्ता में छिप जाता है।

अर्थात् – उपर्युक्त प्रस्तुति में दो तरह के भाव हैं। एह समझ (देव प्राण) होता है दूसरा साहस (पितृ प्राण) होता है। साहस से अस्तित्व में बल उदय होता है। यह 1. जीवंतता को स्वच्छन्दता से अंङ्गीकार करता है, 2. प्रज्ञा (देव प्राण) से विहीन है, तथा 3. स्थूल में गति (जीवंतता) प्रदान करने वाला है। यह संस्कार साहस के रूप में हमारी जीवन सत्ता में छिपा रहता है।

अभिप्राय- पुरुष का एक गुण 'साहस' है जो जीवंतता को अंङ्गीकार करता है, प्रज्ञा विहीन है, तथा स्थूल में बल का संचार करता है। (पितृ प्राण का उदय)

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये।।9।।

शब्दार्थ - [तं[274]] प्रस्तुत होता हुआ, [यज्ञं[569]] यज्ञ को, [बर्हिषि[485]] तर्कों के अनुरुप दृश्य व्याप्तता, [प्रौक्षन्[483]] अनुमोदित संलिप्तता की स्वीकार्यता में दक्षता, [पुरुषं[458]] पुरुष का होना, [जातमग्रतः[259]] संस्कार में स्पष्टतात्मक संलिप्तता, [तेन[298]] भावों का अंगीकरण, [देवाऽअयजन्त[349]] देव प्राण का उत्पन्न होना, [साध्याः[793]] संभव / उद्देश्य, [ऋषि[139]] क्षमता; व्याप्त एकाग्रता, [च[858]] और, [अश[860]] जीवन्त अनुभूति का अभाव, [ये[859]] इंगित प्रत्यक्ष; ये।

भावार्थ – पुरुष देव प्राण (संस्कार में स्पष्टतात्मक संलिप्तता) के कारण विश्लेषण (तर्कों के अनुरुप दृश्य व्याप्तता) यज्ञ के ज्ञेय (अनुमोदित संलिप्तता) की स्वीकार्यता में दक्ष होता है। भावों के अंङ्गीकरण से देव प्राण का उत्पन्न होता है, जो कि उद्देश्य की तरफ व्याप्त एकाग्रता, जीवन्त अनुभूति के अभाव का इंगित प्रत्यक्ष है।

अर्थात् – उपर्युक्त प्रस्तुति में दो तरह के भाव हैं। एह समझ (देव प्राण) होता है दूसरा साहस (पितृ प्राण) होता है। समझ से अस्तित्व में विश्लेषण का उदय होता है। यह 1. ज्ञेय (अनुमोदित संलिप्तता) की स्वीकार्यता में दक्ष होता है, 2. जीवंत अनुभूति से विहीन है, तथा 3. ज्ञान के विषय में यह भाव स्थूल में से भावों का अंङ्गीकार करने वाला है। कर्म के विषय में यह भाव उद्देश्य की तरफ व्याप्त एकाग्रता का इंगित प्रत्यक्ष है।

अभिप्राय- पुरुष का एक गुण 'समझ' है जो विश्लेषण को अंङ्गीकार करता है, जीवन्त विहीन है, तथा स्थूल से भावों को अंङ्गीकृत करता है। (देव प्राण)

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादाऽउच्येते।।10।।

शब्दार्थ - [यत्[853]] जो, [पुरुषम्[458]] पुरुष, [व्यदधुः[701]] विश्वास, [कतिधा[152]] तर्क, [व्यकल्पयन्[698]] काल, [मुखं[554]] चेतन केलिये स्थान उपलब्धता; प्रज्ञा, [किमस्[164]] विश्लेषण, [यासीत्किं[585]] स्पष्टीकरण, [बाहू[491]] बहिर्गमन के संस्कार, [किमूरू[165]] ज्ञेय का अन्तर्गमन, [पादाः[444]] अनुमोदन सत्ता की उपस्थिति, [उच्येते[114]] अंदर से बाहर प्रस्तुतिकरण; कहना।

भावार्थ – इस पुरुष को विश्वास, तर्क, काल, प्रज्ञा, विश्लेषण, स्पष्टीकरण, बहिर्गमन के संस्कार, ज्ञान का अन्तर्गमन, तथा अनुमोदक सत्ता की उपस्थिति है ऐसा कहा जाता है।

अर्थात् – यह पुरुष कर्त्ता भाव के सभी गुणों से युक्त है। पुरुष को कर्ता ही कहा जाता है। बिना कर्ता के क्रिया सम्भव ही नहीं है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत।।11।।

शब्दार्थ - [ब्राह्मणोऽस्य[500]] जिज्ञासा, [मुखम्[554]] चेतनात्मक अन्तर्गमित योग्यता (समझ), [आसीत्[92]] है, [बाहू[491]] अनुशासित क्रिया का कर्त्ता, [राजन्य[598]] बलयुक्तता, [कृतः[174]] क्रिया भाव है, [ऊरू[128]] अन्तगर्मित को एकत्रित, [तदस्य[861]] इस का, [यत्[853]] का, [वैश्यः[694]] भोगने के लिये, [पदभ्यां[428]] बिना शर्त अनुमोदित भाव; उत्तरदायित्व विहीनता की प्रत्यक्ष सत्ता; दास भाव, [शूद्रोऽअजायत[733]] शौर्यविहीनता का उत्पन्न होना।

भावार्थ - इस पुरुष में ''ब्रह्म जिज्ञासा (ब्राह्म)'' के लिये चेतनात्मक अन्तर्गमित योग्यता (समझ) है। ''अनुशासित क्रिया'' (क्षात्र) के लिये ''बलयुक्तता (बाहू) का क्रिया भाव है''। भोगने के लिये (वैश्य) एकत्रित करने का स्थान (ऊरू) है। "उत्तरदायित्व विहीनता" के लिये ''शौर्य विहीनता (समर्पण) का उत्पन्न होना (शूद्र) है। यहां ब्राह्म, क्षात्र, तथा बाहू क्रमशः गुण गति तथा द्रव्य के कारक हैं।

अर्थात् – पुरुष में जिज्ञासा (ज्ञान) के लिये अंतर्गमित चेतना, शौर्य (क्रिया) के लिये बहिर्गमित बल, संकलन (भोग) के लिये स्मृति पटल तथा सबको स्वीकृत करने के लिये समर्पण का भाव है।

अभिप्राय- पुरुष चारों प्रकार के यज्ञों (ज्ञान / क्रिया / भोग / क्रियान्विति यज्ञ) में दक्ष है।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।।12।।

शब्दार्थ - [चन्द्रमा[233]] व्युत्पन्न सक्रिय संलिप्त उप्लब्धता; जीवंतता में सक्रिय संलिप्तता; पितृ प्राण, मन [सो[636]] उकसाव की व्यक्त दिशा; उकसाव के द्वारा, [जातः[258]] उत्पन्न होना,

[चक्षोः232] व्युत्पन्न होती बोध गम्यता की दिशा द्वारा; दिग्दर्शन के द्वारा, [सूर्यो820] चेतनता; देव प्राण, [अजायत14] उत्पन्न होने का प्रत्यक्ष भाव, [श्रोत्रात्753] भिज्ञता, [वायुः653] प्रवाह का अदृश्य अनुभव, [च858] और, [प्राण479] स्पन्दित चेष्टा, [च858] और, [मुख554] संकलन स्थान उपलब्धता; स्मृति पटल; समझ, [अग्नि7] जिज्ञासा, लालसा, उत्तेजना, [अजायत14] उत्पन्न होने का प्रत्यक्ष भाव।

भावार्थ – उकसाव के द्वारा जीवंतता (व्युत्पन्न सक्रिय संलिप्त उप्लब्धता) उत्पन्न होती है। दिग्दर्शन के द्वारा चेतनता उत्पन्न होती है। तथा 'अग्नि' (जिज्ञासा, लालसा, उत्तेजना) के द्वारा भिज्ञता, प्रवाह का अदृश्य अनुभव, स्पन्दित चेष्टा, संकलन आदि पैदा होते हैं।

अर्थात् – पितृ प्राण (जीवंतता) से सक्रियता उत्पन्न होती है। देव प्राण (चेतनता) से दर्शन उत्पन्न होता है। दोनों एक दूसरे के विपरीत होने के बाद भी एक दूसरे के पूरक हैं। अतः इन दोनों में जो अंतःप्रक्रिया होती है, उसका कारण 'अग्नि' है। यह अग्नि जो कि जिज्ञासा, लालसा, तथा उत्तेजना का समुच्चय है, प्रवाह का अदृश्य अनुभव, स्पन्दित चेष्टा, संकलन आदि के लिये उत्तरदायी है। **अर्थात्** अग्नि कारण है तथा सभी प्रक्रियाएं पितृ प्राण तथा देव प्राण के मध्य व्यापार का प्रतिफल है।

अभिप्राय- पुरुष में जो कर्ता भाव है, उसका कारण है जीवन्तता तथा चेतनता की निरंतर अंतःप्रक्रिया । दोनों एक दूसरे के विपरीत होते हुए भी एक दूसरे के पूरक हैं। इसमें कारण भाव अग्नि है जो प्रत्येक अंतःप्रक्रिया को उद्दीप्त करता है।

नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँऽअकल्पयन्।।13।।

शब्दार्थ - [नाभ्याः400] स्वच्छन्द अंगीकरण उत्सुक, [आसीत्92] हुआ; था; है, [अन्तरिक्षं35] अंतःप्रक्रिया के लिये स्थान, [शीर्ष्णो723] मस्तिष्क, [द्यौः360] प्रस्तुत की स्वीकार्यता, [समवर्त्तत862] मान रूप से प्रयुक्त करना, [पद्भ्यां428] बोध की प्रत्यक्ष होना, [भूमिः523] स्मृति का प्रत्यक्ष होना, [दिशः328] जीवंत अनुभूति का प्रत्यक्ष होना, [श्रोत्रान् [754] सुनने का प्रत्यक्ष होना, [तथा863] तथा, [लोकाँ625] फैलती हुई चेतनता; लोक सत्ता में, [अकल्पयन्2] कल्पना का कृत्य।

भावार्थ - जिस प्रकार नभ (स्वच्छन्द अंगीकरण रिक्तता), अन्तरिक्ष (अंतःप्रक्रिया के लिये स्थान), तथा मस्तिष्क (अनुभूति के लिये स्थान) में प्रस्तुत की स्वीकार्यता समान रूप से प्रयुक्त होती है, उसी प्रकार बोध की प्रत्यक्ष होना, स्मृति का प्रत्यक्ष होना, जीवंत अनुभूति का प्रत्यक्ष होना तथा सुनने का प्रत्यक्ष होना इस फैलती हुई चेतना में ही कल्पित किये जाते हैं।

अर्थात् – अनेक शब्द होते हैं, जिनके अर्थ तो अलग अलग होते हैं परंतु उनकी स्वीकार्यता समान रूप से प्रयुक्त होती है। संदर्भ बदलने से शब्द भी बदल जाते हैं। आकाश में जब 'भोग्य'

प्रवेश करता है तो आकाश को 'नभ' कहा जाता है, जब 'क्रेय' प्रवेश करता है तो 'अंतरिक्ष' कहा जाता है, और जब 'ज्ञेय' प्रवेश करता है तो 'मस्तिष्क' कहा जाता है। सभी शब्दों के तात्त्विक अर्थ समान ही हैं, तथा आत्मसत्ता के एक ही विषय को दर्शाते हैं। जब चेतना फैलाव ले विभिन्न छवियों को प्रत्यक्ष करती है। किसी भी संज्ञा का प्रत्यक्ष होना तात्त्विक रूप से समान ही है।

अभिप्राय- हम प्रत्येक स्थान पर प्रतीकात्मक शब्दों का उपयोग करते हैं तथा शब्दों के अर्थ स्थूल में न लेकर प्रतीकात्मक ही लें।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्य ग्रीष्मऽइध्मः शरद्धविः।।14।।

शब्दार्थ - [यत्[853]] इस, [पुरुष[458]] पुरुष, [एण[864]] इंगित प्रवृत्तिता, [हविषा[843]] कामुकता; जिज्ञासा; प्राप्तेच्छा, [देवा[348]] विषय की सत्ता; गुणों की स्पष्टता, [यज्ञम्[569]] प्रत्यक्ष का ज्ञेय होना; प्राकट्य, [अतन्वत[17]] अंतर्मुखिता, [वसन्तो[641]] छिपी व्यक्तता के प्रति उत्सुकता; आकर्षण, [अस्य[69]] यह; इसका, [आसीत्[92]] हुआ; था; है, [आज्यम्[76]] सत्ता में जीवन्त का प्रकट होना, [ग्रीष्मऽइध्मः[865]] प्रकाश की व्याप्ति का धारित होना, [शरत्[711]] प्रणय; अनुभूति में रत, [हवि[840]] स्थूल आकृति के गुणसूत्रों (स्वभाव) का प्रत्यक्ष।

भावार्थ - इस पुरुष की विशेष प्रवृत्ति जिज्ञासा द्वारा गुणों की स्पष्टता को प्रकट कर अंत: में स्वीकार करना है। छिपे व्यक्तता के प्रति उत्सुक आकर्षण के कारण सत्ता में दृढ़ता होती है। एक चेतनात्मक वृहत् प्रकाश के धारित होते ही प्रणय की अनुभूति होती है जिससे छिपी व्यक्तता प्रत्यक्ष हो जाती है।

अर्थात् - बाह्य उपलब्ध संकेत अव्यवस्थित, पहचान रहित, अस्पष्ट विषमता तथा अनालम्बित स्पंदन से बने होते हैं। जब पुरुष उस विषमता में तर्क (व्यक्तता के प्रति उत्सुक आकर्षण) करता है, तो तर्क में स्थित विश्वास विश्लेषण में दृढ़ता प्रदान करता है। जैसे ही तर्क द्वारा विश्लेषित आकृति को विश्वास रूपी दृढ़ता प्राप्त होती है, यह दृढ़ता विश्लेषित आकृति में स्थित स्पंदनों को आलम्ब प्रदान कर देती है। यहाँ तक प्रत्येक संकेत व्यक्ताव्यक्त हैं। विषमता का विश्लेषण तथा स्पंदनों के आलम्बित होते ही एक प्रकाश कौंधता है। और यह जो अब तक व्यक्ताव्यक्त था, व्यक्त हो जाता है। उपर्युक्त विवरण भौतिक, प्राणिक, मनोवैज्ञानिक, तथा बौद्धिक, सभी बोधों को स्पष्ट करता है। यह पुरुष की प्रणय प्रक्रिया को भी स्पष्ट करता है।

अभिप्राय- 'चेतनता' के लिये या 'जीवंतता' के लिये, दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता होती है। जैविक सृष्टि में इसे प्रणय प्रक्रिया कहा जाता है।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वानाऽअबध्नन् पुरुषं पशुम्।।15।।

शब्दार्थ - [सप्त[866]] सात, [अस्य[69]] अस्तित्व का व्यक्तात्मक प्रत्यक्ष सत्; यह; इसके, [आसन[91]] मंच; लोक; पटल, [परिधय[432]] परिधि का प्रत्यक्ष; संदर्भगत, [स्त्रिः[828]] प्रत्यक्ष व्यक्त प्रस्तुति, [सप्त[866]] सात, [समिधः[776]] असत् को धारण, [कृताः[175]] एकाग्रित चेतना करने वाला, [देवा[349]] देव सत्ता; विषय की सत्ता; गुणों की स्पष्टता, [यद्यज्ञं[573]] स्थापित/धारित होता प्राकट्य, [तन्वानाः[280]] प्रस्तुत सक्रिय स्वभाव का कर्ता; स्वभावानुसार कर्म, [अबध्नन्[42]] बंधन का न होना; स्वतंत्रता, [पुरुषं[458]] पुरुष को, [पशुम्[437]] पितृ प्राण, मनोवैज्ञानिक बल।

भावार्थ – सात इसके लोक हैं। इसकी सीमाओं की प्रत्यक्ष व्यक्त की प्रस्तुति सात प्रकार की असत् चेतनाओं में एकाग्रित हैं। मनोवैज्ञानिक बल के द्वारा यह पुरुष गुणों की स्पष्टता को अपनी धारणा, स्वभावानुरूप कर्म और स्वतंत्रता से करता है।

अर्थात् - प्रत्येक पुरुष सात लोकों के अंतर्गत है। प्रत्येक लोक में संदर्भगत असत् के रूप में संदर्भगत चेतना एकत्रित रहती है। किसी भी संकेत का प्रत्यक्ष सातों लोकों (मस्तिष्क से लेकर इन्द्रियों तक) में सात प्रकार का होता हुआ विस्तार करता है। सम्पूर्ण प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक बल (पितृ प्राण) अपने ज्ञेय तथा क्रेय के स्वभावनुसार संकेत की स्पष्टता (देव प्राण) को व्यक्त करने की स्ववंत्रता प्रदान करता है।

अभिप्राय- पुरुष जो भी कर्म करता है अपने सात लोकों के अन्तर्गत ही करता है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।16।।

शब्दार्थ - [यज्ञेन[871]] प्रत्यक्ष अस्तित्व को प्रकट करने की क्रिया, [यज्ञम्[569]] प्राकट्य होना; जानना, [अजयन्त[867]] अस्तित्व में जीवंतता का सक्रिय होना, [देवास्तानि[350]] देव सत्ता (विषय) को प्रस्तुत करने की इच्छा **अर्थात्** बोलने (बहिर्वाह) की इच्छा, [धर्माणि[371]] स्वभावानुसार बाह्यमुखी क्रियान्वयन, [प्रथमान्यासन्[476]] प्रथम के बाद के लोक में क्रिया होना, [ते[296]] वे; ये, [ह[836]] असत्; भौतिक, [नाक[397]] स्वीकृत करने की उन्मुखता, [महिमान[544]] पदार्थ को असत् में से स्वीकार करना, [सचन्त[766]] व्यक्त का व्युत्पन्न क्रियान्वयन भाव, [यत्र[868]] यहाँ, [पूर्वे[869]] पूर्व, [साध्याः[794]] स्थापित संज्ञा; संभव; उद्देश्य; धर्म; दक्षता, साधा हुआ, [सन्ति[870]] व्यक्त सक्रिय प्रत्यक्ष प्रस्तुति, [देवाः[348]] विषय की सत्ता; गुणों की स्पष्टता; देव सत्ता।

भावार्थ – प्रत्यक्ष अस्तित्व को प्रकट करने की प्रक्रिया को जानना अस्तित्व में जीवंतता, विषय वस्तु, स्वभाव, लोक उन्नयन की प्रक्रिया है। वे पदार्थ (संकेत) को असत् में से स्वीकार कर,

संचित कर, इकाई में पूर्वाग्रह (संज्ञा, संभव, उद्देश्य, धर्म, दक्षता, साधा हुआ) को सक्रिय प्रत्यक्ष प्रस्तुत कर, जानने में स्पष्टता प्रदान करता है।

अर्थात् - यज्ञ प्रक्रिया को हमारा जानने का जो प्रयास है वह हमारी जीवंतता, विषय वस्तु, स्वभाव तथा लोकांतर में संकेत पहुचाने का प्रयास है। सात लोक होते हैं: भौतिक इकाई, प्राणिक जीव, प्राणिक इकाई, मानसिक जीव, मानसिक इकाई, बौद्धिक जीव, तथा बौद्धिक इकाई। संकेत भौतिक इकाई से प्रारम्भ होकर जानने (बौद्धिक इकाई) तक पहुंचता है। प्रत्येक लोक में संचित किये हुए पूर्वाग्रह (संज्ञा, संभव, उद्देश्य, धर्म, दक्षता, साधा हुआ), हम जो जान रहे हैं, उनको स्पष्टता प्रदान करता है।

अभिप्राय- यज्ञ प्रक्रिया को जानने की हमारी इच्छा, विषय वस्तु, तथा स्वभाव पर निर्भर करती है। जानने के लिये संकेत को सातों लोकों से गुजरना पढ़ता है। प्रत्येक लोक में अपने अपने पूर्वाग्रह होते हैं जो संकेत के स्वरूप को बदल देते हैं। अंत में हमारी बुद्धि जिस को स्वीकार करती है, वही हमारे लिये परम सत्य है।

पुरुष सूक्तम्-सारांश

1. पुरुष का समस्त विकास इस बात पर निर्भर करता है कि उसे प्रकृति का कितना साङ्गोपाङ्ग ज्ञान है तथा वह उस ज्ञान को कितनी स्पष्टता (गुण) तीव्रता (गति) तथा मात्रा (द्रव्य) से प्राप्त तथा क्रियांवित कर सकता है।

2. पुरुष जो भी कुछ नया देखता है वह हमारे पूर्व धारित ज्ञान तथा नये प्रत्यक्ष के आधार पर होता है। (अंतर्गमन)

3. जब पुरुष आंतरिक संवेग के कारण संकेत का बहिर्गमन करता है तो वह अनुमोदन मात्रा, साहस तथा अवधारणा के संयोजन से युक्त होता है।

4. प्रत्येक संकेत व्यक्ताव्यक्त प्रतीकों के रूप में पुरुष के मन:पटल पर उपस्थित होता है, जिसमें से बुद्धि उपयुक्त का चयन कर छवि के रूप में स्वीकर कर लेती है। इसको जानना कहा जाता है। (स्वगमन)

5. हमारे स्मृतिपटल पर जो भी छवि बनती है वह जीवंतता के साथ सलग्न होती है.

6. संकेत रूप में जिसे हम यज्ञभूमि कहते हैं वह हमारा अंत:करण है। इस अंत:करण पर अव्यक्त संकेत आते हैं, जिससे अंत:करण जीवित हो जाता है। फलस्वरूप इंद्रियाँ बाहर की तरफ संकेत उत्सर्जन करती हैं। यह उत्सर्जन देव प्राण तथा पितृ प्राण के रूप में आवृति मय होता है। देवप्राण तथा पितृप्राण क्रम से एक के बाद एक मिल कर युक्तिसंगत समुच्चय बनाते हैं जिसे हम व्यक्त उत्सर्जन कहते हैं। (उत्सर्जन प्रक्रिया)

7. पुरुष जो भी संकेत प्राप्त करता है वह नाम (पहचान) रूपात्मक (प्रतीति) होते हैं। बोध उत्पन्न होने के बाद यह बोध हमें रस (स्पष्टता) तथा बल (जीवंतता) के रूप में दिखाई देता है।

8. पुरुष का एक गुण 'साहस' है जो जीवंतता को अंङ्गीकार करता है, प्रज्ञा विहीन है, तथा स्थूल अनुभूतियों से बोधगम्य बल का संचार करता है। (पितृ प्राण का उदय)

9. पुरुष का एक गुण 'समझ' है जो विश्लेषण को अंङ्गीकार करता है, जीवन्त विहीन है, तथा स्थूलप्रतीकों से बोधगम्य भावों को अंङ्गीकृत करता है। (देव प्राण)

10. यह पुरुष कर्त्ता भाव के सभी गुणों से युक्त है। पुरुष को कर्ता ही कहा जाता है। बिना कर्ता के क्रिया सम्भव ही नहीं है।

11.पुरुष चारों प्रकार के यज्ञों (ज्ञान यज्ञ, क्रिया यज्ञ, भोग यज्ञ, क्रियान्विति यज्ञ) में दक्ष है।

12. पुरुष में जो कर्ता भाव है, उसका कारण है जीवन्तता तथा चेतनता की निरंतर अंत:प्रक्रिया । दोनों एक दूसरे के विपरीत होते हुए भी एक दूसरे के पूरक हैं। इसमें कारण भाव अग्नि है जो प्रत्येक अंत:प्रक्रिया को उद्दीप्त करता है।

13. हम प्रत्येक स्थान पर प्रतीकात्मक शब्दों का उपयोग करते हैं तथा शब्दों के अर्थ स्थूल में न लेकर प्रतीकात्मक ही लें।

14. 'चेतनता' के लिये या 'जीवंतता' के लिये, दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता होती है। जैविक सृष्टि में इसे प्रणय प्रक्रिया कहा जाता है।

15. पुरुष जो भी कर्म करता है अपने सात लोकों के अन्तर्गत ही करता है।

16. यज्ञ प्रक्रिया को जानने की हमारी इच्छा, विषय वस्तु, तथा स्वभाव पर निर्भर करती है। जानने के लिये संकेत को सातों लोकों से गुजरना पढ़ता है। प्रत्येक लोक में अपने अपने पूर्वाग्रह होते हैं जो संकेत के स्वरूप को बदल देते हैं। अंत में हमारी बुद्धि जिस को स्वीकार करती है, वही हमारे लिये परम सत्य है।

मूलरूप से पुरुष को इकाई का कर्ता भाव कहा गया है। यह पुरुष अनेक प्रकार के कर्म करता है। सभी कर्मो को हम तीन भागों में विभाजित कर लेते हैं। माया का अंतर्वाह (प्रेक्षण), माया का बहिर्वाह (विक्षेपण), तथा माया का स्वयम्-प्रवाह (आत्मसात्करण)। सृष्टि का कोई भी कर्म उपर्युक्त के अन्यथा हो ही नहीं सकता। पुरुष सूक्त सूत्रात्मक रूप से इन कर्मो की व्याख्या करता है। यद्यपि विवेचना का आधार मनोविज्ञान को ही लिया गया है, परंतु दार्शनिक रूप से देखें तो सभी सूत्र भौतिक, वानस्पतिक, मानसिक, तथा बौद्धिक, आदि सभी स्तरों पर समान रूप से लागू होते हैं।

10.2 ऋग्वेद-1-164-46

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् |
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ||

indraṃ mitraṃ varuṇamaghnimāhuratho divyaḥ sa suparṇo gharutmān |
ekaṃ sad viprā bahudhā vadantyagniṃ yamaṃ mātariśvānamāhuḥ ||

शब्दार्थ - [इन्द्रं [102]] Indraṁ प्रकट (तर्क, सूत्र, विश्वास) में सक्रिय प्रस्तुत संलिप्तता; तीन प्रकार की माया हैं: 1. विष्णुमाया viṣṇumāyā - प्रकट तर्क में सक्रिय प्रस्तुत संलिप्तता, 2. ब्रह्मामाया brahmāmāyā - प्रकट सूत्र में सक्रिय प्रस्तुत संलिप्तता, 3. शिवमाया śivamāyā - प्रकट विश्वास में सक्रिय प्रस्तुत संलिप्तता। यहा तीनों माया मिल कर व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इंद्र (व्यक्तित्व) सोम (समय) और अग्नि (उद्दीपन) के साथ मिल कर सत्ता को सक्रिय करते हैं; व्यक्तित्व, [मित्रं[552]] mitraṁ प्रकट रूप (गुण, गति, द्रव्य) की प्रस्तुत उपलब्धता में प्रस्तुतोन्मुख सन्लिप्तता; [रूप के तीन अंश हैं: 1. गुण - आदित्य āditya की प्रस्तुत उपलब्धता, 2. गति - मरुत marut की प्रस्तुत उपलब्धता, 3. द्रव्य – पदार्थ की प्रस्तुत उपलब्धता। रूप के इन तीन अंशों को जो प्रस्तुत करने मे संलिप्त रहे, उसे मित्र कहते हैं।

अर्थात् जो परामर्श दे, प्रेरणा दे तथा पदार्थ दे, वही मित्र है। यह सब बाहर से आने वाले संकेत हैं जिन्हें हम रूप कह रहे हैं।] ;बाहर से उपलब्धता, [वरुण[637]] varuṇa अदृश्य अस्तित्व; विश्वास की अंतः एकाग्रता; अंतर्वाह सन्लिप्तता; स्वीकार्य एकाग्रता के लिए अंतरिक्ष की पूर्ण उपलब्धता; अवधारणा एकत्रित (स्मृत) करने में पूर्ण क्षमता; अंदर से उपलब्ध, [अग्निं [7]] agniṁ अस्तित्वगत् प्रकट स्पष्ट (गुण, गति, द्रव्य) की अशनाया; [तीन प्रकार की अग्नियां हैं; 1. जिज्ञासा curiosity - अस्तित्वगत प्रकट गुण की भूख, 2. आवेगी impulsive - अस्तित्वगत प्रकट गति की भूख , 3. लालसा greed - अस्तित्वगत् प्रकट द्रव्य की भूख। इस प्रकार तीनों प्रकार की भूख को अग्नि कहा गया है।] ;जिज्ञासा; आवेग; लालसा, [आहुः[95]] āhuḥ इकाई का अंत:करण में स्थानांतरण, [अथो[26]] atho अस्तित्व की स्थापित प्रस्तुति की दिशा में; स्थापित होना, [दिव्यः[327]] divyaḥ प्रस्तुत दृश्य का अव्यक्त दृश्य अस्तित्व; दिव्य; सूक्ष्म, [स[759]] sa अभिव्यक्ति, [सुपर्णो [807]] suparṇo - अन्तर्वाह अभिव्यक्ति अधिग्रहण सन्लिप्तता के लिए खाली स्थान (जिज्ञासा; उत्तेजना; लालसा) की दिशा; सौंदर्य (स्वीकार्य अभिव्यक्ति) के अनुमोदन के लिए अंतरिक्ष में संलिप्तता; अन्तर्वाह अधिग्रहण की योग्यता, [गरुत्मान्[216]] garutmān छवि (अनुभूतित आभासी पदार्थ) का अधिग्रहण; छवि का अधिग्रहण, [एक[141]] eka इंगित चेतना; एक, [सत्[768]] sat अभिव्यक्ति का

आभास; छवि, [विप्रा667] viprā - ज्ञेय (गुण; गति; द्रव्य) की अनुमोदनार्थ सन्लिप्तता का कर्ता; प्राप्त कर्ता, [बहुधा487] bahudhā - पहचान में अनेकता की स्थापित प्रस्तुति; अनेक बार, [वदन्ति632] vadanti ओज द्वारा प्रस्तुति का गोचर क्रियात्मक आभास; बाह्यमुखी क्रिया, [अग्निं7] agniṁ - अस्तित्व में स्पष्ट (गुण, गति, द्रव्य) की भूख; अशनाया, [यम574] yama दृश्य प्रस्तुत की परिपूर्ण उपलब्धता, प्रत्यक्ष प्रमाण, [मातरिश्वान546] mātariśvāna पदार्थ की प्रस्तुति मे प्रकट संलिप्तता द्वारा जीवंत अहसास का कृत्य; सन्तोषप्रद / प्रमाणित रूप में, [आहुः95] āhuḥ - इकाई का आंतरिक स्थानांतरण; स्मृति में स्थानांतरण।

अनुवाद - व्यक्तित्व (इन्द्रं), बाहर से उपलब्ध (मित्रं) तथा अंदर से उपलब्ध (वरुण) दृश्य, अशनाया (जिज्ञासा; आवेग; लालसा) (अग्निं) द्वारा, अंत:करण में स्थानांतरण हो (आहुः), स्थापित हो (अथो), दिव्य / सूक्ष्म (दिव्यः), अभिव्यक्ति (स) कई रूप में अन्तर्वाह अधिग्रहण के योग्य (सुपर्णो), छवि का अधिग्रहण (गरुत्मान्) कराता है। इस एक (एक), छवि (सत्) को प्राप्त कर्ता (विप्रा), अनेक बार (बहुधा), प्रकट (वदन्ति), स्व प्रेरणा (अग्निं), अस्तित्व (छवि) प्रत्यक्ष कर (यम), सन्तोषप्रद / प्रमाणित रूप में (मातरिश्वान), स्मृति में रूपान्तरण (आहुः) करता है।

अर्थात् - हमारे व्यक्तित्व में तीन प्रकार की अशनाया होती हैं जिन्हें हम जिज्ञासा, आवेग, तथा लालसा कहते हैं। यह अशनाया दो स्रोतों से संकेत प्राप्त करती है। (अ) बाहर के दृश्य संकेत से तथा (ब) स्व:स्थित अवधारणाओं में से। सभी संकेत अंत:करण में स्थानांतरित हो कर संकलित हो जाते हैं। यहाँ यह सभी संकलित संकेत तादात्म्य स्थापित कर सूक्ष्म (दिव्य) छवि का निर्माण करते हैं। इस प्रकार से अंतर्वाह योग्य छवि का अधिग्रहण कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया को अवलोकन कहते हैं। इस ज्ञात छवि को प्राप्त कर्ता स्व प्रेरणा से अनेक बार अस्तित्व में प्रत्यक्ष करता है, तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में स्मृति में रूपान्तरण कर लेता है। इसको जानना कहते हैं।

सारांश ऋग्वेद-1-164-46 - उपर्युक्त मन्त्र एक छवि को देखने और इसे याद रखने की प्रक्रिया को बताता है। इस प्रक्रिया में इकाई का व्यक्तित्व {तर्क [विष्णुमाया], सूत्र [ब्रह्ममाया], और विश्वास [शिवमाया]} तथा अशनाया [जिज्ञासा; आवेग; लालच] शामिल होते हैं, जो बाह्य उपलब्ध तथा अन्त: अवधारित, दोनों रूपों में उपस्थित गुण, गति, द्रव्य के अंशों को स्वीकार कर अंत:करण में संकलित करते हैं। यहाँ अंश संदर्भ रूप से असत् या उपादान होते हैं। यह अंश संकेत तादाम्य स्थापित कर वैशिष्ट्य का निर्माण करता है जो कि वर्तमान संदर्भ में छवि कहलाती है। यहाँ निर्मित छवि उपादान अंशों के सापेक्ष में 'दिव्य' कहा गया है। प्रायोगिक रूप से भौतिक छवि कॉस्मिक अंश संकेतों के सापेक्ष में दिव्य है, प्राणिक छवि भौतिक अंश संकेतों के सापेक्ष में दिव्य है, मानसिक छवि प्राणिक अंश संकेतों के सापेक्ष में दिव्य है, तथा बौद्धिक छवि मानसिक

अंश संकेतों के सापेक्ष में दिव्य है। इस प्रकार आंखों से देखा हुआ कॉस्मिक अंश संकेत बौद्धिक छवि का निर्माण कर देता है।

मन्त्र आगे बताता है कि जिज्ञासा और उपलब्ध उपादानों से छवि निर्माण की यह प्रक्रिया निरंतर दोहराई जाती है। जिज्ञासा (अग्नि) आकाश के साथ जिस काल का उद्भव करती है यह काल आवर्तिमय होता है। एक आवर्ति काल एक नेमिष होता है। हमारी दृष्टि आवर्तिमय हो छवि को पुन: पुन: दोहराती है। और इस प्रकार हम छवि को मजबूत कर प्रमाणित कर लेते हैं। तथा हम 'सीख' जाते हैं। ज्ञेयता को सीखना, क्रेयता को सीखना, भोग्यता को सीखना अंतर्गमित, बहिर्गमित, स्वगमित सीखना है।

व्यावहारिक पहलू में, हमारे पास विभिन्न प्रकार की छवियां होती हैं , जिनमें ज्ञेयता , क्रेयता, तथा भोग्यता, तीनों प्रकार की होती हैं। किताबें पढ़ना, क्रिकेट खेलना और फिल्म का आनंद लेना अलग अलग हो सकता है, लेकिन देखने और याद रखने की प्रक्रिया केवल उपर्युक्त मन्त्र द्वारा ही संचालित होती है, जो कि हमारे इन्द्र (व्यक्तित्व) द्वारा ही होती है।

मंत्र स्पष्ट रूप से कहता है कि "व्यक्तित्व (इन्द्रं) अशनाया के कारण बाहर (दृश्य) व अंदर (अवधारणा) से उपलब्ध छवि को अभिव्यक्त कर स्मृति में दिव्य रूप से रूपान्तरण कर स्थापित करता है"। अत: हमें जो कुछ भी 'उपलब्ध छवि' है उसमें 'बाहर (दृश्य) ' के साथ साथ 'अंदर (अवधारणा) ' से उपलब्ध छवि के अंश भी हैं, जिसके कारण प्रत्यक्ष को प्रमाणित नही माना जाता। बाल्य काल में हम जो भी दृश्य देखते हैं, वह सभी हमारे भय (शाप) या प्रोत्साहन (आशीर्वाद) कई साथ संबद्ध हो हमारी अवधारण में स्थापित हो जाते हैं। बाल्य काल में यदि हमें सर्प रूपी दृश्य के साथ भय को संबद्ध किया गया है तो वर्तमान में भय की अवस्था में रज्जू भी सर्प दिखाई देती है। इस प्रकार भूत काल की अवधारणा हमारे वर्तमान के प्रत्यक्ष को प्रभावित करते हैं। यह शाप व आशीर्वाद हमारे अवचेतन में होते हैं, **अर्थात्** यह महामाया के रूप में होते हैं, जिनसे पार नहीं पा सकते।

10.3 गायत्री मंत्र

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् ।
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

शब्दार्थ - [ॐ[1]] सभी तीन दिशाओं (अन्तर्गमित, बहिर्गमित, और स्वगमित) में, [भूर्भुवः स्वः] सभी तीन चरणों (दैहिक अस्तित्व, दैहिक जीव, दैहिक इकाई) में, [तत्[277]] उपलब्ध है, [सवितु:[788]] अंत: में अभिव्यक्त छवि का प्रस्तुत होना; (चेतना; सूर्य) द्वारा, [वरेण्यं[638]] अव्यक्त

संकेतों का व्यक्त होना, [भर्गो[508]] स्पष्ट होते हुए स्मृति (मुक्त अधिग्रहण) में शामिल होने की ओर, [देवस्य[347]] विषयों की; [धीमहि[380]] संकेत (धारणीय छवि) का मानसिक अंत:करण (मह:लोक) पर प्रकट होना, [धियो[379]] संकेत का प्रतिज्ञान की दिशा, [यो] की ओर, [नः[389]] अधिग्राहक, [प्रचोदयात्[472]] अनुमोदन में संलिप्तता द्वारा प्रस्तुत प्रतिज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

अनुवाद - संकेत की स्वीकृति सभी तीन दिशाओं (अन्तर्गमित, बहिर्गमित, और स्वगमित) में, तीन चरणों {दैहिक अस्तित्व (भू:लोक), दैहिक जीव (भुव:लोक), दैहिक इकाई (स्व:लोक)} के द्वारा उपलब्ध होती है। अंत:करण में अभिव्यक्त छवि का (सविता; चेतना; सूर्य) द्वारा प्रस्तुत होना, अव्यक्त संकेतों का प्रकट होना, ज्ञेय को स्पष्ट करते हुए मुक्त अधिग्रहण करना, इससे उत्पन्न विषयों की धारित छवि का मानसिक अंत:करण (मह:लोक) पर प्रकट होना, संकेत का प्रतिज्ञान की दिशा की ओर जाना, अधिग्राहक इच्छा (अनुमोदन में संलिप्तता) के द्वारा प्रस्तुत प्रतिज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

सारांश गायत्री मंत्र - ॐ के उच्चारण को ब्रह्म की प्रतीति माना जाता है। इस ब्रह्म की प्रतीति के तीन प्रमाण हैं। क्षर का अंतर्गमन (ज्ञानेन्द्रियां) , क्षर का बहिर्गमन (कर्मेन्द्रियां) , तथा क्षर का संग्रहण (मन)। जब हम ॐ का उच्चारण करते हैं तो हम इकाई में सजीवता की घोषणा करते हैं। मंत्र कहता है कि जब कोई भी सजीव इकाई किसी संकेत को ग्रहण करती है, तो वह संकेत तीन चरणों में से हो कर गुजरता है। यहाँ तीन चरण भू:, भुव:, तथा स्व: कहे जाते हैं , तथा व्यावहारिक रूप से दैहिक अस्तित्व, दैहिक जीव, तथा दैहिक इकाई कहे जा सकते हैं। यह एक ही देह के तीन स्तर हैं। हमारे अंत: में स्थित सूर्य (सविता; चेतना) अव्यक्त संकेतों को दैहिक अस्तित्व में स्वीकृत करता है, तथा अपनी चेतना से जीवत्व प्रदान करते हुए उन्हें दैहिक इकाई के अंदर व्यक्त कर देता है। और संकेत वरणीय हो कर दैहिक इकाई में ही व्याप्त हो जाता है।

लेकिन यहाँ तक की प्रक्रिया में संकेत का इङ्गित विषय (देवता) हमारे बौद्धिक धरातल को स्पर्श नहीं करता। हमारी बौद्धिक जिज्ञासा दैहिक इकाई में व्याप्त उक्त संकेत को मानसिक अंत:करण (मह:लोक) में प्रकट कर देती है। जिससे अनुभूति प्रकट होती है। यह अनुभूति हमें 'जन:लोक' में होती है। स्व:लोक (दैहिक इकाई) , मह:लोक (मानसिक जीवन्तता) , तथा जन:लोक (मानसिक इकाई) की इस प्रक्रिया को क्रंदसी त्रिलोकी कहा जाता है। एक ही मानसिक अनुभूति के अनेक बौद्धिक अर्थ हो सकते हैं, यहाँ बुद्धि को 'तप' करना होता है। अत: बौद्धिक चेतना उपलब्ध मानसिक अनुभूति के अनेक ज्ञेय भावों में से उपयुक्त भाव का चयन कर, उस उपयुक्त भाव को बुद्धि में स्थापित कर देती है। इसको 'सत्य' माना जाता है। इस जन:लोक से सत्यम् लोक तक 'संयती त्रिलोकी' कहा जाता है। और हम बाह्य स्थित संकेत को सत्य रूप में जान पाते हैं।

10.4 ऋग्वेद - प्रथम मंडल सूक्त 1 (1-5)

1. अग्निम् ईळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम् होतारम् रत्नधातमम्।।1।।

शब्दार्थ - [अग्निम्[7]] जिज्ञासा; आवेग; लालसा, [ईळे[111]] निरंतर विस्तार में; [पुरोहितम्[459]] स्थूल को सूक्ष्म में बदलना, [यज्ञस्य[569]] यज्ञ का, [देवम्[344]] विषय है, [ऋत्विजम्[137]] स्व एकाग्र हो प्रतीति को अनदेखा करना, [होतारम्[848]] उद्भव की दिशा के समर्पण में संलिप्त हो, [रत्न[589]] सूक्ष्मता का प्रस्तुतीकरण, [धातमम्[373]] धारित छवि को स्मृति में प्रस्तुति।

अनुवाद - अशनाया (जिज्ञासा) के विस्तार के कारण स्थूल को सूक्ष्म में जानना यज्ञ का विषय है। स्व एकाग्र हो प्रतीति का त्याग करना, रूपांतरण की दिशा के समर्पण में संलिप्त हो, सूक्ष्मता का प्रस्तुतीकरण, धारित छवि को स्मृति में प्रस्तुत करना, यही यज्ञ है।

अर्थात् - जब हम किसी घड़े को देखते हैं, तो मात्र उसकी मिट्टी को देखते हैं। यहाँ मिट्टी स्थूल है तथा घड़ा सूक्ष्म है। जिज्ञासावश जैसे ही हम मिट्टी की तरफ देखते हैं, हमें मिट्टी की प्रतीति का त्याग करना होता है। मिट्टी की प्रतीति का त्याग करते ही, छवि, जो कि सूक्ष्म है, का प्रस्तुतीकरण हो जाता है। छवि से ही हमें घड़े की जानकारी होती है। और यह जानकारी हमारी स्मृति में धारित हो जाती है। इस प्रक्रिया को जानना कहते हैं।

2. अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति।। 2।।

शब्दार्थ - [अग्निः[7]] जिज्ञासा द्वारा, [पूर्वे[869]] अंत:स्थित अनुमोदन द्वारा विशेष छिपे सत्; अवधारणा से; भिः [ऋषि[514]] स्वच्छन्द दार्शनिक, भिः [ईड्यो[513]] स्वच्छन्द अंगीकरण के द्वारा जिस प्रत्यक्ष सत् को देखता है; [नूत[415]] अन्तःरिक्तता में भाव, [नैरुत[418]] रिक्त की दृश्यता में अन्तर्मुखी संलिप्तता का भाव; व्युत्पत्ति, [स[759]] व्यक्त, [देवाँ[347]] ज्ञेय, [एह[146]] इंगित असत्; यह; मात्र, [वक्षति[630]] अनुभूति में सचेत जीवंतता की प्रत्यक्षता; सजीवता।

अनुवाद - जिज्ञासा द्वारा अवधारणा से भिन्न कोई दार्शनिक जब स्वच्छन्द अंगीकरण के द्वारा जिस प्रत्यक्ष सत् को देखता है वह अन्तःरिक्तता में भाव की व्युत्पत्ति है। होने वाला यह व्यक्त मात्र विषय (देव) की सजीवता है।

अर्थात् – जब कोई दार्शनिक जिज्ञासावश, अवधारणा से मुक्त हो कर, बिना बंधन के यदि किसी छवि को प्रत्यक्ष करता है, वह छवि हमारी रिक्तता में स्थान पाकर हमारे ज्ञान को सजीव करती है। जब हम घड़ा देख रहे हैं तो यदि हम घड़े की आकृति से मुक्त हो जायें तो हम

घड़े का रंग भी देख सकते हैं, रंग से मुक्त हो जायें तो वजन का अनुमान कर सकते हैं, वजन से मुक्त हो जायें तो लम्बाई का अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार हम उस छवि के बारे में अपने ज्ञान को और सजीव कर सकते हैं। अर्थात् ज्ञान की सजीवता में वृद्धि कर सकते हैं। एक समय आता है जब हम मिट्टी को न देख कर मात्र घड़े को देख रहे होते हैं।

3. अग्निना रयिर्मश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्।। 3।।

शब्दार्थ - [अग्निना[9]] जिज्ञासा करना, रयिर्मश्न [वत्[593]] ज्ञेय द्वारा उपलब्ध में अनुभूत-क्रिया युक्तता; उपलब्ध ज्ञेय में अनुभूत क्रिया द्वारा, [पोषमेव[470]] स्वीकृत/अनुमोदन का व्याप्त होना, [दिवेदिवे[326]] दिन प्रति दिन, [यशसं[579]] प्रत्यक्षता में जीवंतता का व्यक्त; प्रत्यक्षता का प्रतिष्ठित होना, [वीरवत्तमम्[683]] प्रत्यक्ष होती अदृश्य अनुभूति की संलिप्तता में युक्तता का भाव पदार्थ है; वीर युक्तता में अंधत्व का भाव होना।

अनुवाद - जिज्ञासा करने से उपलब्ध ज्ञेय में अनुभूत करने की क्रिया से स्वीकृत अंश व्याप्त हो जाता है जो कि निरंतरता में अनुभूति को प्रत्यक्षता में व्यक्त कर देता है, यही सत्य में संलिप्तता का भाव है।

अर्थात् - जिस प्रकार की भी जिज्ञासा हो, हम ज्ञेय की उपलब्धता में से उसी अंश को खोज लेते हैं। हम घड़े में आकृति, रंग, वजन, सरंध्रता, मजबूती, आदि की जिज्ञासा करते हैं और उसी के अंश खोज लेते हैं। यह सब अनुभूत करने की क्रिया के द्वारा किया जाता है। जो भी अनुभूत किया जाता है, वह हमारी सत्ता में स्मृति के रूप में व्याप्त हो जाता है। तथा ज्ञान का वर्धन होता रहता है। क्रिया के इस निरंतर अभ्यास से यह ज्ञान सत्ता में विश्वासित (प्रतिष्ठित) हो जाती है। अर्थात् हम उसे मानने लगते हैं। सत्य को जानने के लिये अवधारणा को न देखना एक वीर पुरुष का कार्य है।

4. अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति।। 4।।

शब्दार्थ - [अग्ने[7]] विशेष जिज्ञासा, [यं[562]] प्रत्यक्ष होता हुआ, [यज्ञमध्वरं[570]] यज्ञ के मध्य में संलिप्तता, [विश्वतः[674]] सभी दिशाओं में, [परिभूरसि[433]] अनुमोदन संलिप्तता से गहराई तक स्वच्छन्द अंगीकरण की व्यक्तता, [स[759]] यह व्यक्त, [इदेवेष[97]] संबन्धित विषयों में व्याप्त हो, [गच्छति] चला जाता है।

अनुवाद – किसी विशेष जिज्ञासा के प्रत्यक्ष होने पर, यज्ञ के मध्य में सभी दिशाओं को अनुमोदित करती संलिप्तता, उस विशेष जिज्ञासा की दिशा में गहराई तक स्वच्छन्द अंगीकरण को व्यक्त कर देती है। यह स्वच्छन्द अंगीकृत व्यक्त उन विशेष विषयों में व्याप्त हो जाता है।

अर्थात् - कोई भी दर्शन किसी विशेष भाव को नहीं प्रकट करता है। हमारी स्वीकृत करने की संलिप्तता सभी दिशाओं में फैलती है। जब हमें किसी विशेष विषय मे जिज्ञासा होती हैं तो प्रक्रिया के मध्य में ही संलिप्तता सम्बधित दिशा में गहराई तक फैल कर स्वच्छन्द अंगीकरण कर लेती है। तथा उस जिज्ञासा विशेष से सम्बंधित अंङ्गीकरण इकाई में व्याप्त हो जाता है।

यदि ज्ञेय का विषय पूर्व अवधारित हो तो हमारा अनुमोदन उस विषय विशेष में गहराई तक जा कर व्यक्त को और स्पष्ट कर देता है। अर्थात् यदि हम मात्र मिट्टी की आकृति को ही देख हैं तो मात्र आकृति ही देखते हैं, परंतु यदि अन्य विषयों के सूक्ष्म को भी देखते हैं हम आकृति के अलावा उसमें वजन, आकृति, रंग, लम्बाई आदि अनेक सूक्ष्म हैं। सबको देख सकते हैं। यदि हमारी जिज्ञासा आकृति के प्रति है तो हम आकृति को ही गहराई से देखेंगे, रंग के प्रति है तो रंग को देखेगें आदि आदि। जिसके प्रति जिज्ञासा होगी हम उसी को देखेगें।

5. अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरागमत्।। 5।।

शब्दार्थ - [अग्नि होता[8]] जिज्ञासा द्वारा रूपांतरण की दिशा में प्रस्तुत उन्मुखता, [कविक्रतुः[161]] कवि की चेतनात्मक संलिप्तता से प्राप्त, [सत्या[771]] सत्य की सत्ता, [श्चित्र[740]] स्वाभाविक रूप से अनुभूति की व्युत्पत्ति, [श्रवस्तमः[746]] अनुभूत संलिप्तता में छिपे सत् का व्यक्तात्मक भाव का होना; अनुभूति का विश्लेषण, [देवो[355]] विषय की दिशा में, [देवेभिरागमत्[354]] विषयानुसार तथा स्वभावानुसार संलिप्तता होने से विषय स्पष्ट होने का भाव।

अनुवाद - जिज्ञासा द्वारा रूपांतरण की दिशा में प्रस्तुत उन्मुख कवि चेतनात्मक संलिप्तता से प्राप्त सत्य की सत्ता के स्वाभाविक रूप से अनुभूति की व्युत्पत्ति तथा अनुभूति का विश्लेषण करता है। जिज्ञासु में विषयानुसार तथा स्वभावानुसार संलिप्तता होने से विषय स्पष्ट होने का भाव होता है।

अर्थात् - स्थूल को सूक्ष्म में देखने के लिये (मिट्टी को घड़ा देखने के लिये) विद्वान् चेतनात्मक रूप से अनुभूति की व्युत्पत्ति तथा अनुभूति का विश्लेषण करता है, जिससे सत्य प्रकट हो जाता है। सारा विश्लेषण विषयानुसार तथा स्वभावानुसार संलिप्तता की दिशा में ही होता है। अर्थात्, जब हम मिट्टी को त्याग कर घड़ा देखते हैं और यदि हम घड़े की आकृति देख रहे हैं, तो 'अनुभूति की व्युत्पत्ति तथा विश्लेषण' से घड़े की आकृति में ही हमें सत्य दिखायी देगा, यदि रंग देख रहे हैं, तो 'अनुभूति की व्युत्पत्ति तथा विश्लेषण' से घड़े के रंग में ही हमें सत्य दिखायी देगा। यदि उपयोग देख रहे हैं तो उप्योग ही दिखाई देगा।जिस प्रकार रूप को नाम की अपेक्षा होती है वैसे ही नाम को रूप की अपेक्षा होती है।

सारांश - ऋग्वेद (१.१.(१-५))

जब हम किसी घड़े को देखते हैं, तो मात्र उसकी मिट्टी को देखते हैं। यहाँ मिट्टी स्थूल है तथा घड़ा सूक्ष्म है। जिज्ञासावश जैसे ही हम मिट्टी के मात्रात्मक बोध की जगह मिट्टी के गुणों की तरफ देखते हैं, हमें मिट्टी को अज्ञेय करना होता है तथा छवि को अंगीकार करना होता है। छवि से ही हमें घड़े की जानकारी होती है। और यह जानकारी हमारी स्मृति में धारित हो जाती है। इस प्रक्रिया को जानना कहते हैं। इस प्रक्रिया में जब कोई दार्शनिक जिज्ञासा, स्वच्छन्दता (बिना बंधन के) कई साथ घड़े को देखता है, वह एक नूतन उपलब्धि होती है। जो कि ज्ञान का वर्धन करती है। जिज्ञासु किसी भी नूतन विचार को जानने की निरंतर क्रिया करता है। उसकी इस इच्छित क्रिया से नूतन अनुभूतित विचार प्रत्यक्षता में व्यक्त होने लगते हैं। यह सत्य के प्रति संलिप्तता का ही भाव है। एक ही घड़े के अनेक रूप (देव) हैं, जैसे आकृति, रंग, वजन, लम्बाई आदि। मंत्र कहते हैं कि दर्शन की जो प्रक्रिया है, उसके वर्तमान काल में हमारी संलिप्तता सभी दिशाओं में फैलती है। यदि हमारी कोई विशेष जिज्ञासा हो, **अर्थात्** हम रंग देखना चाह रहे हों तो रंग की दिशा में हमारी संलिप्तता गहराई तक जाती है और हम छवि के रंग के दर्शन कर पाते हैं। मंत्र कहते हैं कि विभिन्न प्रकार की जिज्ञासाओं के चलते हम एक ही छवि के निरंतर दर्शन करते हैं और उस छवि से सम्बन्ध में अपना ज्ञान वर्धन करते रहते हैं।

10.5 ऋग्वेद - प्रथम मंडल सूक्त ४ (31-40)

31. सुरूपकृलुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि।।1।।

शब्दार्थ - [सुरूपकृलुम्[812]] अन्तर्गमित व्यक्त होता रूप चेतन के द्वारा भावात्मक अन्तः स्वीकृत होना; मोहक, [ऊतये[127]] अन्तः स्थित भाव का 'इंगित प्रत्यक्ष'; प्राकट्यता, [सुदुधाम्[804]] व्यक्त प्रस्तुति का व्यवस्थित होना, [इव[105]] इस प्रकार कि, [गोदुहे[218]] स्पष्ट की दिशा में अन्तः प्रस्तुत का 'इंगित स्थूल'; गुणों का इंगित स्थूल; प्रकट; प्रतीक, [जुह्मसि[262]] छिपी जीवन्तता का प्रकट होता हुआ प्रत्यक्ष व्यक्त; आस्था; भक्ति, [द्यविद्यवि[372]] - पुनःपुनः; बार बार अनुभूति का धारित होना।

अनुवाद - मोहक प्राकट्यता की व्यक्त प्रस्तुति इस प्रकार हो कि प्रतीक में भक्ति हो जाये। ऐसी अनुभूति के बार बार धारित होने से प्रतीक ही **धारणा** बन जाता है। (प्रतीक भक्ति) (मूर्ति पूजा)

32. उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिव। गोदा इद्रेवतो मदः।।2।।

शब्दार्थ - [उप[120]] अन्तः अनुमोदन, [नः[389]] की क्रिया में, [सवना[786]] व्यक्त छवी की अनुभूति करना, [गहि[209]] स्पष्टता का स्थूलीकरण, [सोमस्य[824]] सोम का, सूक्ष्म विहीनता का, [सोमपाः[823]] सोम के अनुमोदन द्वारा; काल के अनुमोदन द्वारा, [पिव[452]] प्रत्यक्ष अधिग्रहण की अनुभूति, [इद्[98]] यह, [रेवतो[613]] एकाग्रित अनुभूत होने का भाव, [मदः] मद है।

अनुवाद - इस अन्तः अनुमोदन की क्रिया में व्यक्त को अनुभूति करना स्पष्ट का स्थूलीकरण है, जो कि काल के अनुमोदन द्वारा सूक्ष्म विहीनता के प्रत्यक्ष अधिग्रहण की अनुभूति है। यह एकाग्रित अनुभूत होने का भाव **मद** है।

अर्थात् – इस प्रतीक को ही अंत: अनुमोदन किया जाता है तो हम स्पष्ट अनुभूति का भी स्थूलीकरण करते हैं। यह स्थूलीकरण असत् है, सूक्ष्म विहीन है, जो कि काल से संचालित होता है। काल द्वारा असत् के संचालन से मदहोशी उत्पन्न होती है, जो कि छवि के सूक्ष्म गुणों को असंज्ञेय कर देता है। प्रचलित भाषा में इसे नशा या मद कहा जाता है।

33. अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनम्। मा नो अति ख्य आ गहि।।3।।

शब्दार्थ - [अथा[25]] इसके अलावा सत्ता, [ते[296]] यह, [अन्तमानां[34]] सूक्ष्म भाव के अङ्गीकरण के लिये, [विद्याम[661]] उपलब्ध सूक्ष्म संकेत में; गंधर्व प्राण में, [सुमतीनम्[809]] बुद्धिमत्ता का समर्पण; ऋषि प्राण का समर्पण, [मा[545]] अ-अंगीकृत सत्ता; माया, [नो[419]] अंगीकृत उत्सुक दिशा में, [अतिख्य[19]] प्रत्यक्षता के लिये स्थान उप्लब्धता, [आगहि[75]] सत्ता में स्पष्ट प्रत्यक्ष प्राकट्यता प्रदान करती है।

अनुवाद - इसके अलावा इस सत्ता में सूक्ष्म भाव के अङ्गीकरण के लिये, उपलब्ध सूक्ष्म संकेत में बुद्धिमत्ता का समर्पण द्वारा माया को अभीष्ट दिशा में स्थान उपलब्ध कर सत्ता में स्पष्ट प्रत्यक्ष प्राकट्यता प्रदान करती है। जिसे **जानना** (सर्जन) कहते हैं।

अर्थात् - मंत्र कहता है कि जब तक हम मिट्टी को देख रहे होते हैं, हम असत् को देख रहे होते हैं। इस असत् का देखना काल से संचालित है। अर्थात् सूक्ष्म का सङ्ज्ञान नहीं कर सकते। यह अवस्था मदहोशी की अवस्था है। लेकिन इसके अलावा सत्ता सूक्ष्म का भी अङ्गीकरण करती है। हमारी बुद्धि समर्पित भाव से उपलब्ध असत् माया का उपयोग कर हमारी अंतश्चेतना में उपयुक्त (तार्किक तथा विश्वसनीय) आकृति का सर्जन करती है। यहाँ 'आकृति' शब्द में रूप, रङ्ग आदि सभी शामिल हैं। इस प्रकार हम मिट्टी की जगह घड़े को देख पाते हैं। यहाँ यह बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब हम मिट्टी देख रहे होते है तो उसमें आकृति अवश्य है, परंतु

जब तक हम उसे देखते नहीं, वह 'अपरिभाषित रूप' ही है। जैसे ही हम उसे देख लेते हैं, वहां मिट्टी समाप्त हो जाती है तथा 'परिभाषित नाम' ही रह जाता है। इस प्रकार देखने की प्रक्रिया के मध्य हम नाम तथा रूप दोनों को देख पाते हैं। इस वर्तमान काल मे ही हम 'नाम' का चयन करते हैं। या नाम सुनने पर रूप का चयन करते हैं। अंतर्वाह की स्थिति में रूप आगे रहता है तथा नाम पीछे रहता है, तथा बहिर्वाह की स्थिति मे नाम आगे रहता है तथा रूप पीछे रहता है। (ऋषि प्राण)

34. परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्। यस्ते सखिभ्य आ वरम्।।4।।

शब्दार्थ - [परेहि[434]] स्थूल का अवलोकन, [विग्रम[655]] स्पष्टात्मक प्रात्यक्ष्यता से, [स्तृतम्[826]] व्यक्त स्वस्वीकृत भाव, [इन्द्रम्[102]] कर्ता, [पृच्छा[872]] आकर्षण द्वारा व्युत्पन्न चयनित इकाई का अनुमोदन, [विपश्चितम्[664]] प्रत्यक्ष अनुभूति के अनुमोदन के लिये प्रत्यक्ष अनुभव व्युत्पन्न का भाव; पूर्वानुभव का होना; अक्षर पुरुष का होना, [यस्ते[580]] स्पष्टता का पेश होना; इस प्रकार, [सखिम्य[765]] व्यक्त की स्वीकृति का प्रत्यक्ष, [आ वरम्[73]] सत्ता में अंगीकार होना।

अनुवाद - इंद्र (कर्ता) स्वस्वीकृति के तहत, स्पष्टात्मक प्रात्यक्ष्यता से, स्थूल का अवलोकन करता है, इसमें पूर्वानुभव के साथ छवि का चयन भी होता है। इस प्रकार स्वीकृत (चयनित; व्यक्त) छवि सत्ता में प्रत्यक्ष हो अङ्गीकार हो जाती है। इसे **बोध** (perception) कहा जाता है.

अर्थात् – संकेतांश, जो कि स्थूलता से स्वीकृत किया जा रहा है, वे नामरूपात्मक आते हैं। स्मृति के चारों कोशों से भी जो संकेतांश आ रहे हैं वह भी नामरूपात्मक ही आते हैं. मन:पटल पर नाम तथा रूप, नामात्मक रस-बल, रूपात्मक सर-बल का निर्माण कर लेते हैं. इस प्रकार हम मन:पटल पर नाम, रूप, रस तथा बल, चारों को एक साथ देख पाते हैं. चाररों मिल कर अनेक समुच्चय बनाते हैं. इनमें से जो भी उपयुक्त छवि होती है, उसका प्रगटन हो जाता है. इस छवि को बोध कहते हैं.

35. उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद्दुवः।।5।।

शब्दार्थ – [उत [115]] अप्रत्यक्ष भाव; वही, [ब्रुवन्तु [501]] बन्धित भावना में रिक्तबोध; स्पंदन, [नो [419]] अङ्गीकरण उत्सुक की दिशा में; अङ्गीकृत होने के लिये, [निदो [407]] प्रत्यक्ष रिक्तता की प्रस्तुत दिशा में; प्रकम्पन की दिशा में, [निरन्यत [409]] प्रकम्पन की शून्यात्मकता में, [श्चिदारत [741]] शक्ति प्रस्तुति में रत, [दधाना [316]] धारणा की प्रस्तुति, [इन्द्र [102]] इन्द्र, [इद्दुव [99]] शक्ति बोध; ग्रहणबोध।

अनुवाद - वह स्पंदन, अङ्गीकृत होने के लिये, प्रकम्पन की दिशा में, प्रकम्पन की शून्यात्मकता (आलम्बन) में शक्ति प्रस्तुति में रत हो जाता है। इस प्रकार की धारणा से इंद्र को शक्ति का बोध होता है।

अर्थात् – देवप्राण छवि को मात्र स्पष्टता ही प्रदान करता है। छवि कितनी भी स्पष्ट हो, यदि उसमें शक्तिबोध न हो तो दृश्यगत नहीं हो सकती। यह शक्तिबोध होता है स्पंदन की आलंबन में स्वीकृति से। स्पंदन जो कि 'पहचान रहित दृश्य प्रस्तुत प्रकंपन' है, प्राणमय कोश से प्रस्तुत होता है। यह स्पंदन अनेक दिशाओं में हो सकता है। द्रष्टा का आनंदमय कोश 'पहचान युक्त अप्रकंपित आलम्बन' होता है जो कि पहचान विशेष दृश्य के स्पंदन को आलम्ब प्रदान कर उसमें शक्ति व्युत्पन्न कर देता है। इस प्रकार छवि के शक्तिबोध के रूप में **बल** की प्राकट्यता उत्पन्न हो जाती है। (पितृ प्राण की प्रस्तुति)

36. उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि।।6।।

शब्दार्थ - [उत[115]] छिपा सत्; उस, [नः[389]] अंगीकरण उत्सुकता के द्वारा, [सुभगाँ[808]] व्यक्त दृश्य के रूप में स्पष्टताएं; देव प्राण, [अरिः[50]] अस्तित्व में प्रत्यक्ष एकाग्रता द्वारा, [वोचेयुः[697]] व्यक्ताव्यक्त दिशा का इङ्गित मर्म; देव प्राण, [कृष्टय[177]] प्रज्ञात्मक चेतन के द्वारा दोनों का व्याप्तात्मक प्रवृत्त, [स्याय[833]] व्यक्तात्मक सत्ता का प्रत्यक्ष होना; छवि का प्रकट होना, [इन्द्रस्य[102]] इन्द्र का, [शर्मणि[713]] जीवन्त अनुभूति द्वारा समपर्ण के लिये प्रत्यक्ष स्थान; अंतःकरण।

अनुवाद - उस अंगीकरण उत्सुकता के कारण, व्यक्त दृश्य के रूप में स्पष्टताएं (देव प्राण), जो अस्तित्व में एकाग्रित होती हैं, के साथ उसी दिशा से छुपी दृश्यता के रूप में व्यक्ताव्यक्त मर्म (देव प्राण) आता है। तथा प्रज्ञात्मक चेतन के द्वारा दोनों में व्याप्तात्मक प्रवृत्त होता है। इस प्रकार इंद्र के अंतःकरण में छवि के रूप में **रस** की प्राकट्यता होता है।

अर्थात् - प्रत्येक छवि के दो प्रारूप होते हैं। एक छवि की बनावट तथा दूसरा उसमें प्राण प्रतिष्ठा या उसका दिखाई देना। यदि हम किसी बिना स्याही की कलम से किसी आकृति का निर्माण करते हैं, वह आकृति पूर्ण रूप से स्पष्ट तो हो सकती है, परंतु स्याही के अभाव में अगोचर ही रहेंगी। ये आकृति देव प्राण का प्रसङ्ग है तथा रस कहलाता है। दूसरी तरफ हम स्याही को कागज पर फैला दें तो स्याही तो दिखाई देगी परंतु कोई भी आकृति या श्रुति वाक्य गोचर नहीं होंगे। यहाँ कागज पर फैली हुई ऊर्जा पितृ प्राण के प्रसङ्ग हैं, तथा बल कहलाते हैं। कोई भी छवि हो दोनो के संयोग से ही गोचर होती है। देव प्राण आकृति की बनावट का स्पष्ट होना है तथा पितृ प्राण उसका दिखाई देना है।

37. एमा शुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्। पतयन्मंदयत्सखम्।।7।।

शब्दार्थ - [एम[144]] इंगित पदार्थ उपलब्धता, [आशुम[90]] सत्ता में ज्ञात / विश्वास होना, [आशवे[89]] सम्बंधित प्रवेग, [भर[506]] संगृहीत, [यज्ञश्रियम्[571]] प्रत्यक्ष होती गोचर छवि, [नृमादनम्[416]] पदार्थ को अंगीकृत करने की क्रिया, [पतयन्[424]] भावुक होना, [मन्दयत्सखम्[539]] सहनशीलता।

अनुवाद - इंगित उपलब्ध पदार्थ हमारी सत्ता में ज्ञान (देवप्राण) रूप में तथा सम्बंधित प्रवेग (पितृ प्राण) रूप से संगृहीत हो जाते हैं। दोनों का कारण है प्रत्यक्ष होती गोचर छवि (देवप्राण) तथा पदार्थ को अंगीकृत करने की शक्ति (पितृ प्राण)। यह दोनों भावुकता (गंधर्व प्राण) तथा सहनशीलता (ऋषि प्राण) से संचालित होते हैं।

अर्थात् - गंधर्व प्राण के दो प्रभाग हैं। प्रथम है अन्नमयकोश, जो कि देव प्राण को विविधता प्रदान करता है तथा दूसरा है प्राणमय कोश, जो कि पितृ प्राण को स्पंदन प्रदान करता है। उसी प्रकार ऋषि प्राण के भी दो प्रभाग हैं। प्रथम है विज्ञानमय कोश, जो कि देव प्राण को तर्क प्रदान करता है। तथा दूसरा है आनंदमय कोश, जो कि पितृ प्राण को दृढ़ता प्रदान करता है। इस प्रकार स्पंदन तथा दृढ़ता से पितृ प्राण तथा विविधता तथा तर्क से देव प्राण का उदय होता है। तथा पितृ प्राण तथा देव प्राण से छवि गोचर होती है। यह छवि हमारी सत्ता में संगृहीत हो जाती है।

38. अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः। प्रावो वाजेषु वाजिनम्।।8।।

शब्दार्थ - [अस्य[69]] यह, [पीत्वा[453]] अन्तर्गमित करने वाली, [शतक्रतो[706]] जीवन्त अनुभूति के भाव की दिशात्मक प्रस्तुति (प्रस्तुत दिशा में जीवंतता), [घनो[229]] घिरा हुआ सीमित स्थान , [वृत्राणाम्[684]] प्रवृत्ति के फैलाव के लिये, [भवः[509]] है, [प्रावो[481]] वाहक, [वाजेषु[650]] जिज्ञासा, [वाजिनम्[649]] जानने की क्रिया।

अनुवाद - यह अन्तर्गमित करने वाली प्रस्तुत दिशा में जीवंतता प्रवृत्ति के फैलाव के लिये एक घिरा हुआ सीमित स्थान है। इस अन्तर्गमन (जानने) की क्रिया का वाहक जिज्ञासा है।

अर्थात् – हम जो कुछ भी अन्तर्गमित करते हैं, उस अन्तर्गमन की क्रिया में जीवंतता आवश्यक है. यह जीवंतता एक सीमित प्याले की तरह है. यदि प्याला खाली है तो जीवंतता है अन्यथा नहीं. क्यों कि ज्ञान को धारित होने के लिये स्थान चाहिये और हमें वही ज्ञान प्राप्त हो सकता है जिसके लिये हमारी अंतश्चेतना में खाली स्थान उपलब्ध हो। जिज्ञासा ही वह स्थान है जहां पर अंतर्गमित ज्ञान के लिये खाली स्थान उपलब्ध है। अत: जिज्ञासा ही जानने की क्रिया का वाहक है।

39. तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो। धनानामिन्द्र सातये।।9।।

शब्दार्थ - [तं[274]] भाव रिक्तता, [त्वा[307]] प्रस्तुत भाव सत्ता, [वाजेषु[650]] जिज्ञासा, [वाजिनम्[649]] जानने की क्रिया, [शतक्रतो [706]] जीवन्त अनुभूति के भाव की दिशात्मक क्रिया, [इन्द्र[102]] इन्द्र, [सातये[791]] व्यक्तता की प्रस्तुति में विशिष्ट प्रत्यक्ष।

अनुवाद - इस प्रकार भाव रिक्तता, प्रस्तुत भाव सत्ता, जिज्ञासा, जानने की क्रिया, यज्ञ क्रिया में जीवंतता, सब मिल कर इंद्र व्यक्तता का विशिष्ट प्रत्यक्षीकरण करता है।

अर्थात् – छवि का बोध हमें हमारी आंतरिक रिक्तता (अन्नाद), प्रस्तुत भाव सत्ता (अन्न), जिज्ञासा (अग्नि), जानने की क्रिया (यज्ञ), क्रिया की दिशा (जिज्ञासा) से होता है। यहां आप् (जिज्ञासा के लिये समर्पण) से काल की उत्पत्ति से होती है। यह आकृति में तीव्रता का बोध है।

40. यो रायो वनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा। तस्मा इन्द्राय गायत।।10।।

शब्दार्थ - [यो[873]] प्रत्यक्ष की दिशा; इस प्रकार, [रायो[602]] प्रत्यक्ष को अंगीकृत करने के लिये, [अवनिः[55]] आंतरिक इच्छा, [महान्] महान्, [त्सुपारः[308]] पुष्टीकरण में रत, [सुवन्तः[813]] सौंदर्य, [सखा[764]] व्यक्त के लिये स्थान उपलब्धता; जिज्ञासा, [तस्मा[285]] भाव की व्यक्त उपलब्धिता, [इन्द्राय[102]] इन्द्र के लिये, [गायत[210]] ज्ञेय की प्रत्यक्ष प्रस्तुति।

अनुवाद – इस प्रकार प्रत्यक्ष को अंगीकृत करने के लिये हमारी आंतरिक इच्छा, महत्ता, पुष्टीकरण में रत, तथा सौंदर्य है, यही भाव की व्यक्त उपलब्धता इन्द्र द्वारा व्यक्त की स्पष्टता की प्रस्तुति है।

अर्थात् – हमारी अंतश्चेतना में जो जान पाते हैं, वह हमारी आंतरिक इच्छा, हमारी योग्यता, हमारा निरंतर पुष्टीकरण करते रहने की जो प्रक्रिया पर निर्भर है। यह तीव्रता विहीन आकृति का बोध है।

सारांश - प्रथम मंडल सूक्त ४ (31-40)

तीन प्रकार के यज्ञ होते हैं। 1. अंतर्गमन यज्ञ (सुनना, देखना, सूंघना आदि) , जो कि ज्ञानेंद्रियों से संचालित होते हैं, 2. बहिर्गमन यज्ञ (बोलना, क्रियान्वयन करना आदि) , जो कि कर्मेंद्रियों से संचालित होते हैं, तथा 3. स्वगमन यज्ञ (भोगना, भावयुक्त होना, मनन करना आदि) , जो कि मन से संचालित होते हैं। अंतर्गमन यज्ञ में बाहर से संकेत आते हैं, जो कि स्वगमन यज्ञ में स्पष्ट होते हुए हमारी सत्ता के द्वारा अधिगृहीत कर लिये जाते हैं। इसी प्रकार स्वगमन यज्ञ में स्पष्ट होते हुए संकेत कर्मेंद्रियों द्वारा बहिर्गमित कर दिये जाते हैं। कहने का अर्थ यह है कि जब

हम किसी वस्तु को देखते हैं तो उसके संकेत हमारे अंत:करण में जा कर एक छवि का निर्माण करते हैं, तथा इस छवि को अङ्गीकृत कर हम स्मृति में अपने ज्ञान का वर्धन करते हैं। इसके विपरीत स्मृति में से ज्ञान अंत:करण तक पहुंचता है, अंत:करण में संकेत का निर्माण होता है, तथा यह संकेत बहिर्मुखी होते हुए कर्म में बदल जाता है।

जो भी संकेत अंदर आ रहे हैं, वे अनेक स्त्रोतों (सुनना, देखना, सूंघना आदि) से आ रहे हैं। सभी संकेत भौतिक हैं, तथा मानसिक अंत:करण में पहुंच कर मानसिक प्रतीकों (अपरिभाषित मानसिक अनुभूति) की रचना कर देते हैं। हम इन्हें अनुभूति कहते हैं। यहाँ यह बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि जो संकेत आ रहे हैं वे भौतिक संकेत हैं अर्थात् मानसिक प्रतीकों के उपादान हैं। उनको मानसिक प्रतीक तब तक नहीं कहा जा सकता, जब तक कि हमारा मानस उनका प्रतीक रूप में सर्जन नहीं कर लेता। इस प्रकार जो भी संकेत आ रहे हैं, भौतिक पदार्थ से बने हैं, बनने वाले मानसिक प्रतीक के उपादान हैं, असत् हैं, माया हैं। तथा मात्रात्मक बोध हैं। अंतर्गमन प्रक्रिया में मात्रा का वाहक 'आप्' (द्रष्टा की स्वीकृति) होता है। तथा मात्रा (quantum) तथा स्वीकृति मिल कर काल (time) का सर्जन करते हैं। यदि बनने वाले प्रतीक हमारी मानसिकता के लिये प्रियकर हैं तो काल की उपलब्धि ज्यादा होगी, और वह प्रतीक हमें मोहित कर देने वाला होगा। जब ये प्रतीक बार बार आकर हमें मोहित करते हैं तो काल की अधिक उपलब्धता के कारण हमारी मानसिक सुरक्षा का कारण बनने लगते हैं। और हमें उस प्रतीक से भक्ति हो जाती है। उदाहरण के लिये यदि किसी नेता विशेष या धार्मिक गुरु का कथन हमको प्रियकर लगता है तथा मानसिक सुरक्षा देता है तो हम उसके भक्त हो जाते हैं। कोई मोदी जी का भक्त है, कोई राहुल गांधी का भक्त है, कोई आशा राम जी का भक्त है। यह भक्त तथा भगवान् का रिश्ता महज इसलिये उत्पन्न हो जाता है। यह यज्ञ महज मनोवैज्ञानिक स्तर तक होता है तो हमारा अंतर्गमन मात्र 'मात्रा' तथा 'काल' पर ही आधारित होता है। यदि हम मोहांध हो कर काल की उपलब्धता बढ़ा लेते हैं तो हम अपने मानसिक आनंद को बढ़ा लेते हैं। साधारणतया मनुष्य मद्यपान कर अपने काल का वर्धन कर लेता है तथा प्रतीक में ही आनंदित होता रहता है। इसको मदहोशी कहा जाता है। यह मदहोशी प्रतीक में स्थित सूक्ष्म गुणों को असंज्ञेय कर देती है। सूक्ष्म गुणों के संज्ञान के लिये हमें बौद्धिक स्तर पर आना होता है जहां हम शिष्य और गुरु के रिश्ते को देख पाते हैं।

बौद्धिक यज्ञ में सभी प्रतीक बौद्धिक अंतश्चेतना में आते हैं, यहाँ यह प्रतीक मिट्टी से गढी हुई अपरिभाषित आकृतियां हैं। ये छवि के स्थूल भाव हैं। इनके सूक्ष्म दर्शन तब ही होते हैं, जब

हम जीवंत-चेतना के साथ इनका विश्लेषण करते हैं। हमारी बुद्धि उपलब्ध मात्रात्मक असत् को उपादान की तरह उपयोग कर हमारी अंतश्चेतना में एक उपयुक्त (तार्किक तथा विश्वसनीय) आकृति का सर्जन करती है। यहाँ 'आकृति' शब्द में रूप, रङ्ग आदि सभी शामिल हैं। इस प्रकार हम मिट्टी की जगह घड़े को देख पाते हैं। मिट्टी एक 'अपरिभाषित रूप' थी, जो 'परिभाषित नाम' में बदल जाती है। इस प्रकार देखने की प्रक्रिया के मध्य हम नाम तथा रूप दोनों को देख पाते हैं, जिससे आकृति शक्तिपूर्ण स्पष्टता होती है। यह आकृति रस बल के रूप में हमारे अव्यय पुरुष के स्मृति कोशों मे स्थित हो जाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर नाम-रूप के साथ पुन: अंत:करण में पहुंच जाता है। इस प्रकार हमारी स्मृति नाम सुनने पर रूप को स्पष्ट कर देती है तथा रूप देखने पर नाम को स्पष्ट कर देती है।

नाम तथा रूप के मध्य जो छवि स्पष्ट होति है, उसके दो भाग हैं। 1. रूप की विविधता (दृश्य) अन्नमयकोश से आती है जिसका अवलोकन (द्रष्टा) विज्ञानमय कोश के द्वारा होता है। दोनों ही अनेक सम्भावनाओं से युक्त होते हैं। जहां दृश्य प्रस्तुति तथा द्रष्टा की स्वीकृति एकाकार होती है वहीं आकृति को स्पष्टता प्राप्त हो जाती है। इसमें जो स्पष्टता है उसे ही देव प्राण की प्रस्तुति कहा जा रहा है। 2. रूप का स्पंदन (दृश्य) प्राणमयकोश से आता है जिसमें आलम्बन (द्रष्टा) आनंदमय कोश से आता है। दोनों ही अनेक दिशाओं से युक्त होते हैं। जहां स्पंदन प्रस्तुति तथा आलम्बन की स्वीकृति एकाकार होती है वहीं आकृति को शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसमें जो शक्ति की व्युत्पन्नता है, इसको पितृ प्राण की प्रस्तुति कहते हैं।

इसी वर्णन को हम दूसरे रूप में भी कह सकते हैं। प्रत्येक छवि के दो प्रारूप होते हैं। एक छवि की बनावट तथा दूसरा है उसका दिखाई देना। यदि हम किसी बिना स्याही की कलम से कोई श्रुति वाक्य लिखते हैं, वे वाक्य पूर्ण रूप से स्पष्ट तो हो सकते हैं, परंतु स्याही के अभाव में अगोचर ही रहेंगे। ये आकृति या श्रुति वाक्य देव प्राण के प्रसङ्ग हैं तथा रस कहलाते हैं। दूसरी तरफ हम स्याही को कागज पर फैला दें तो स्याही तो दिखाई देगी परंतु कोई भी श्रुति वाक्य गोचर नहीं होगा। यहाँ कागज पर फैली हुई ऊर्जा पितृ प्राण का प्रसङ्ग हैं, तथा बल कहलाते हैं। कोई भी छवि हो, दोनों के संयोग से ही गोचर होती है।

संक्षेप में कहें तो गंधर्व प्राण दो कोशों का समुच्चय है। प्रथम है अन्नमयकोश, जो कि देव प्राण को विविधता प्रदान करता है तथा दूसरा है प्राणमय कोश, जो कि पितृ प्राण को स्पंदन प्रदान करता है। तथा ऋषि प्राण भी दो कोशों का समुच्चय है। प्रथम है विज्ञानमय कोश, जो कि देव प्राण को तर्क प्रदान करता है। तथा दूसरा है आनंदमय कोश, जो कि पितृ प्राण को दृढ़ता प्रदान

करता है। इस प्रकार स्पंदन तथा दृढ़ता से पितृ प्राण तथा विविधता तथा तर्क से देव प्राण का उदय होता है। तथा पितृ प्राण तथा देव प्राण से छवि गोचर होती है, तथा ग्रहणबोध (perception) कहलाती है। यह छवि हमारी सत्ता में संगृहीत हो जाती है।

हमारी अंत:स्मृति ज्ञान से भरी रहती है। अंतर्गमन की क्रिया जब ही सम्भव है जब कि अंत:स्मृति में स्थान खाली हो। इस अंत:स्मृति में जिस संदर्भ में स्थान खाली होता है, हमें उसी संदर्भ में जिज्ञासा होती है। यह जिज्ञासा ही ही जानने की क्रिया का उत्प्रेरक है।

आगे मंत्र कहता है कि छवि का बोध हमें हमारी आंतरिक शून्यता (अन्नाद) , बोधित भाव (अन्न) , जिज्ञासा (अग्नि) , जानने की क्रिया (यज्ञ) , क्रिया की दिशा (काल) से होता है। तथा जो जानने की क्रिया है वह हमारी आंतरिक इच्छा, हमारी योग्यता, हमारा निरंतर पुष्टीकरण करते रहने की जो प्रक्रिया पर निर्भर है।

अंत में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वेद सूत्रात्मक हैं अत: इन्हें समझने के लिये वैज्ञानिक सोच की आवश्यकता है। यहाँ निरूपण कर्ता का स्वयं वैज्ञानिक होना आवश्यक नही है वरन उसका सोच वैज्ञानिक होना चाहिये। जो लिखा है वही सत्य है कि जगह यह आवश्यक है कि हमने क्या समझा है। जो समझा है वह व्यवहारिक है या नहीं।

11.0 पुराण की कथाओं का आशय

वेदों के अर्थ अत्यंत ही जटिल थे। 200 ईसवीं के आसपास समाज में एक प्रक्रिया उत्पन्न हुई जिसके अंतर्गत वैदिक दर्शन को कथाओं के माध्यम से कहा जाने लगा। ये पुराण कहलाते हैं। पुराण की कथाएं सूक्ष्म तत्त्व को सांकेतिक रूप में उपलब्ध कराती हैं। यदि कोई कवि यह कहे कि 'क्रोध विवेक को खा जाता है' तो उसका अर्थ यह नहीं मानना चाहिए, कि क्रोध नाम का कोई आदमी है जो विवेक नामक खाद्य पदार्थ को खा गया। वस्तुत: क्रोध का गुण ही विवेक के गुण को खा जाता है। उदाहरण के लिये, एक वैज्ञानिक का आविष्कार ही उसका पुत्र है। एक ऋषि का पुत्र उसका ज्ञान भी हो सकता है।. किसी स्वभाव की पत्नि उसकी क्रिया भी हो सकता है. संकेत सभी जैविक होते हैं परंतु अर्थ मनोवैज्ञानिक होते हैं.

11.1 गणेश की जन्म कथा

गणेश के प्राकट्य की अनेक कथाएं हैं। यहाँ हमने गणेश-प्राकट्य संबंधी कथाओं की एतिहासिकता का नही बल्कि उनके तत्त्वार्थ का विवेचेन करने का प्रयास किया है। यहाँ कल्याण के श्रीगणेश अंक एवं शिव पुराण में दी गई गणेशोत्पत्ति की कथा को आधार रूप में लिया है।

गणेश की जन्म कथा का संक्षिप्त वर्णन - जया-विजया नामक दो सखियों के कहने पर पार्वती ने अपने पावन शरीर के मैल से एक चेतन पुरुष का निर्माण किया। वह गणेश थे। जिन्हें उन्होंने अपने अंत:पुर कि रक्षा के लिए द्वारपाल बनाया। जब स्वयं शिव ने अंत:पुर में प्रवेश करना चाहा तो गणेश ने उन्हे रोक दिया। आगे के प्रसंग में शिव के गणों का गणेश से युद्ध हुआ, जिसमें शिव के गण भाग गए। इसके बाद ब्रह्मा विष्णु आए, लेकिन वे भी बिना युद्ध किए चले गए। इसके बाद अप्रतिम सशस्त्र देवता, गण व भूत प्रेत आए, लेकिन वे भी निष्फल हो गए। जब पार्वती को इस वृत्तान्त क पता चला तो उन्होंने दो शक्तियों की रचना कर उन्हें गणेश के सहायतार्थ भेजा। उसके बाद युद्ध विष्णु के साथ हुआ, पर अन्त मे शिव ने तीक्ष्णतम शूल फेंक कर गणेश का मस्तक अलग कर दिया। इसके बाद माता पार्वती ने क्रुद्ध होकर सहस्त्रों शक्तियों की रचना की, जिससे हर तरफ हाहाकार मच गया। देवताओं ने पार्वती से क्षमा याचना की। तब पार्वती ने पुत्र जीवित होने कि अपनी मांग रखी। तब देवताओं ने एक दांत वाले हाथी का सिर लाकर गणेश के साथ जोड़ दिया, और शिव ने उसे उसी रूप में जीवित कर दिया।

शब्द व्याख्या - [गणेश[204]] निर्णय (स्पष्टता) के साथ सक्रियण की विशिष्ट निष्पादन क्षमता की ओर मनोवैज्ञानिक ताकत; निष्पादन शुरू करने के लिए, [जया[256]] प्रत्यक्ष सजीवता, [विजया[876]] अप्रत्यक्ष सजीवता, [पार्वती[446]] स्वीकार्य इकाई द्वारा संकेन्द्रित तीव्रता की प्रत्यक्ष प्रस्तुति; इकाई तीव्रता का उत्सर्जन कर रही है; प्रकृति द्वारा तीव्रता का उत्सर्जन, [अंत:पुर] अंत:करण, [शिव[719]] प्रकट क्रिया शक्ति (विश्वसनीय अभिव्यक्ति; जीवंत अनुभूति) का अदृश्य अस्तित्व / गुण / सूत्र / स्रोत; शक्ति का आलम्बन, [ब्रह्मा[498]] ब्रह्मा माया; सूत्रबद्ध सत्ता की उपलब्ध प्रत्यक्षता; यहाँ सूत्रबद्ध सत्ता अव्यय ब्रह्म की है, [विष्णु[680]] विष्णुमाया - तार्किक संलिप्तता की सक्रिय प्रस्तुति, [अप्रतिम सशस्त्र देवता] तर्क -वितर्क, [गण[201]] स्पष्टता के साथ क्रियान्वयन के लिए उत्सुकता; उत्तरदायी सदस्य, [भूत[521]] अतीत की स्मृतियां, [प्रेत[977]] विशिष्ट अनुमोदनात्मक संलिप्तता की प्रस्तुति; उन्माद।

गणेश-जन्म-कथा की दार्शनिक विवेचना - जिस प्रकार वैकुंठ [जहाँ कुंठा न हो] लोक में प्रवेश करने के लिये दो द्वारपाल जय-विजय की अनुमति आवश्यक होती है, तथा यज्ञ प्रक्रिया में उनकी उपस्थिति आवश्यक हो जाती है। उसी प्रकार भव लोक में प्रवेश करने के लिये जया-विजया का नाम संयोगवश प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार जय-विजय ज्ञेय यज्ञ में अनुशासन के लिये प्रेरणा देते हैं, उसी प्रकार जया-विजया भव (क्रेय यज्ञ) में अनुशासन के लिये प्रेरणा देती हैं। जिस प्रकार ज्ञेय यज्ञ (जानना) के दो पक्ष हैं; 'विविधता (लक्ष्मी) ' तथा 'प्रज्ञा (विष्णु) ', उसी प्रकार भव यज्ञ (मानना) के भी दो पक्ष हैं; 'स्पंदन (पार्वती) ' तथा 'आलम्बन (शिव)। यही पार्वती रूपी स्पंदन आलम्बन पर आरूढ़ हो कर भव का आरोहण करता है। तथा अर्द्ध नारीश्वर के रूप में भव की स्थापना हो जाती है, परंतु यदि स्पंदन व्यवस्थित नहीं है, सहज नहीं है, तो उससे उत्पन्न होने वाला 'भव' भी सहज नहीं होगा, उसमें चेतना रूपी अनुशासन का अभाव होगा। जया-विजया इसी अनुशासन को जन्म दे रहीं हैं।

शिव व पार्वती के प्रणय से भव उत्पन्न होता है। शिव का स्थान अव्यय का आनंदमय कोश है। पार्वती का स्थान अव्यय का प्राणमय कोश है। जहाँ किसी को भी प्रवेश की आज्ञा नहीं है। कोश में स्थित माया (पार्वती के शरीर का मैल) एक अनुशासन उत्पन्न करती है, जो कि गणेश कहलाता है। गणेश पार्वती (प्राण ऊर्जा) का सचेतक अंश है, जो काल में उत्पन्न प्राण ऊर्जा को दिशात्मक निश्चिन्तता प्रदान करता है। यदि गणेश उपस्थित न हो, अर्थात् दिशा निर्धारण न हो तो भी पार्वती व शिव के प्रणय से 'भव' उत्पन्न तो होगा परंतु दिशा हीनता के कारण उसकी प्राण ऊर्जा में दुश्चिन्ता, संकोच, असमंजस, दुविधा, असंतुलन, व्याकुलता, दुविधा, संदेह, और अनिश्चय उत्पन्न हो जायेंगे। भव लोक में प्रवेश के लिये एक सहज दिशात्मक निश्चिंतता चाहिये, जिसके लिये गणेश उपस्थित हैं। परंतु हमारे साहस का अहंकार (शिव के गण व भूत प्रेत) हमें अविवेकी बना देता है और हमारे ज्ञान का अहंकार (अप्रतिम सशस्त्र देवता) हमें अकर्मण्य बना देता है। शिव के गणों के विरोध में गणेश के अस्त्र प्रश्नात्मक हैं। क्यों है, क्या सत्य है, तर्क, न्याय आदि विचारात्मक अस्त्र हैं, जिनका 'जानना विहीन' शिव गणों के पास कोई जवाब नहीं है। उसके ठीक विपरीत 'अप्रतिम सशस्त्र देवताओं' विरोध में गणेश के अस्त्र शौर्यात्मक हैं। जिनका 'मानना विहीन' देवताओं के पास कोई जवाब नहीं है। यह 'जानना' तथा 'मानना' दोनों के साथ गणेश का युद्ध है। प्रत्येक कर्म से पहले यह युद्ध हम हमेशा लड़ते हैं। कथा कहती है कि अंत में प्रज्ञा (विष्णु) के साथ विश्लेषण (युद्ध) हुआ जो कि अनंत काल तक चलता, अर्थात् हम अनंत काल तक असमंजस कि अवस्था मे रहते, और हम अनंत काल तक 'जानने' में ही लगे रहते परंतु मान नहीं पाते। अंत में शिव ने तीक्ष्णतम शूल फेंक कर गणेश का मस्तक अलग कर दिया। अर्थात्

वैचारिकता (मस्तक) को समाप्त कर दिया। गणेश के मस्तक के समाप्त होते ही दिशात्मक अनुशासन समाप्त हो गया और स्वतंत्र स्पंदनों ने सत्ता में दुश्चिन्ता से हाहाकार मचा दिया। यह वह क्षण है जब हम निर्णय लेने के लिये विचार करना त्याग देते हैं। यह 'जानने' तथा 'मानने' की मध्यावस्था है, जहाँ हमने 'जानना' छोड़ दिया हो और 'माना' कुछ भी न हो। श्रीमद्भगवद्गीता में भी अनेक स्थानो पर अर्जुन को इसी अवस्था में दिखाया गया है। इस समय शिव एक हाथी का सिर लगा कर 'मानना' स्थापित कर देते हैं। इस प्रकार जो भी प्रज्ञा (विष्णु) के साथ विश्लेषण में 'जाना' हुआ है, उसे ही 'मानने' की स्थिति आ जाती है। जब हम कुछ 'मान' लेते हैं, उस मानने से 'व्यवस्थित भव' उदय होता है, हमारी प्राण ऊर्जा को दिशा मिल जाती है और हम कार्य शुरु कर पाते हैं।

कथा में कहा गया है कि विचारों के दो हिस्से होते हैं एक तो फल की आसक्ति और दूसरा सामर्थ्य की आसक्ति। ये ही दो शक्तियां हैं, दोनों ही भूत काल में स्थित हैं, जो गणेश की सहायतार्थ माता पार्वती भेजती हैं। गणेश में यह दोनों शक्तियां भी शामिल हो जाती हैं परंतु 'वर्तमान काल के अभाव में' भव के प्राकट्य में सहायक नहीं होती।

दूसरे शब्दों में कहें तो यदि विष्णु विचार तंत्र को निरंतर प्रश्रय देते रहें, तो मनुष्य विचारों का ही होकर सपनों में खो जाए, करें न करें, या करें तो क्या करें में ही विचरण करता रहे परंतु जैसे विष्णु किसी स्पष्टता का संकेत देते हैं, शिव गणेश रूपी बालक का मस्तक अलग कर सांकेतिक रूप में विचार तंत्र की प्रक्रिया को आधार विहीन कर देते हैं। अनुशासन की जिस भावना के तहत गणेश का जन्म हुआ था, उसका मस्तक अलग होते ही पार्वती की ऊर्जात्मक शक्ति अनुशासन विहीन शक्तियों में परिवर्तित हो जाती है। तब उस शक्ति को वापस केन्द्रित करने के लिए गणेश को जीवित करना आवश्यक है। लेकिन क्या मस्तक वापस लगाया जा सकता है? मनुष्य का मस्तिष्क विचारों का प्रतीक है। विचार पहले हो चुका है, अब मनुष्य [विचार करने वाला] का सिर लगाने का कोई ओचित्य नहीं है उन्हें पशु [कर्म करने वाला] का सिर ही लगाया जाता है। स्पष्ट है शिव पशुपतिनाथ हैं। दिशा मनुष्य के सिर द्वारा निश्चित की हुई है, पशु का सिर लगते ही कर्म प्रकट हो जाते हैं और पार्वती की क्रियान्विति पूरी हो जाती है।

गणेश और व्यासजी - व्यासजी कवि हैं। कल्पना के लिए खुला आकाश और वहां दर्शन करने का सहज प्रयास। पूर्ण आपोमय अंतरिक्ष में विचरण, लेकिन इसमें भी एक निश्चित दिशा मे प्रवाह! स्वयं जैसे गंगा (विश्लेषित भाव) में से उत्पन्न भाव ही व्यास कहे जा रहे हैं। इस आपोमय अवस्था में व्यास जी दर्शन की शब्दातीत आकृतियों को स्थूल शब्द में परिवर्तित नहीं कर सकते क्योंकि स्थूलता में आते ही दर्शन समाप्त हो जाता है। ब्रह्मा वहाँ प्रकट है ही। उपाय बताया जाता

है। गणेशजी को याद किया जाता है। सूक्ष्म को स्थूल में परिवर्तित करना ही तो कर्म है और यही गणेशजी स्वीकार भी करते हैं, गणेश का व्यापार आवृतिमय है। मनुष्य के रूप में सूक्ष्म भाव सुनते हैं और पशु के रूप मे स्थूल शब्दों में परिवर्तित कर देते हैं। इस सारे प्रकरण में जो एक महत्त्वपूर्ण बात है, वह है, गणेशजी के द्वारा के द्वारा जो भी लिखा जा रहा है वह स्वयं के समझने योग्य भी है। यहाँ गणेश का स्वरूप एकदम स्पष्ट हो जाता है। कर्म के लिये जो भी 'भव' उपलब्ध हो रहा है उसमें दिशात्मक अनुशासन के साथ स्पष्टता भी है। अर्थात् यदि हम कार चला रहे हैं तो हमें कार चलाना आता भी है।

यज्ञ प्रक्रिया - विषय को स्पष्ट करने के लिए यज्ञ प्रक्रिया को संक्षिप्त में ले रहे हैं। ज्योति रूप में जो भी कल्पना हमारे प्रतिष्ठा ब्रह्म में प्रवेश करती है, यह नाम-रूप के द्वैत में आता हुआ संकेत अव्यय के कोशों में एकत्रित होता रहता है, जिसे हम स्मृति रूप में व्यवहार करते हैं। जो भी अन्नमय कोश (लक्ष्मी) व विज्ञानमय कोश (विष्णु) में स्मृत हो रहा है वह ज्ञेय यज्ञ का फल है तथा जो प्राणमय कोश (पार्वती) व आनंदमय कोश (शिव) में स्मृत हो रहा है वह भव यज्ञ का फल है। दोनों ही विद्या हैं तथा दोनों ही एक दूसरे के लिये अविद्या हैं। भव (गणेश जी) ज्ञेय (व्यास जी) को स्थान प्रदान कर रहा है, तथा ज्ञेय (व्यास जी) भव (गणेश जी) को स्थान प्रदान कर रहा है। दोनों के संयोग से कर्म उत्पन्न हो रहा है। इस प्रकार नाम-रूप का अंतिम फल कर्म की उत्पत्ति ही है।

गणेश की प्रतिमा का स्वरूप दर्शन - कर्म को उत्पन्न होने के लिए ४ तत्त्व चाहिये।

[१] विचारों की निरंतरता में बन्धन उत्पन्न होने से ही हम किसी निर्णय पर पहुंच पाते हैं। गणेशजी के हाथ में पाश स्पष्ट ही विचारों की उत्श्रंखलता को बांधने की क्षमता का संकेत है।

[२] जो निर्णय किया हुआ है उसके अनुसार कर्म होना तभी सम्भव है जब सारे प्रश्न समाप्त हो जाएं और हमारी प्रवृत्ति पाशविक हो जाए। उसके लिये हमारे मानसिक शरीर पर पशु का सिर उत्पन्न हो रहा है। यह पशु अनुशासन मे रहे व पशुत्व को नियंत्रण करने के लिये श्रीगणेश के हाथ में अंकुश है।

[३] जो कर्म किये जा रहे हैं उनका निरीक्षण कर अनुमोदन भी हो रह है। यह अनुमोदन ही स्वीकृति है चूंकि अनुमोदक [मोदक की स्वीकृति] भी गणेशजी हैं उनके तीसरे हाथ में मोदक [लड्डू] से संकेत किया जाता है।

[४] चौथे हाथ से भी गणेशजी आशीर्वाद रूपी आत्मविश्वास प्रदान कर रहे हैं।

उपर्युक्त चारों तत्त्व पाश, अंकुश, मोदक व आशीर्वाद के संकेत श्री गणेश के चारों हाथों में हैं और संकेत रूप मे मनुष्यत्व व पशुत्व के मध्य अनुमोदन के आत्मविश्वास को बता रहे हैं। एक दन्ती

स्पष्ट रूप से द्वंद की समाप्ति का द्योतक है। लम्बोदर सूक्ष्म से स्थूल का संकेत है। अनुभूति (गंध) को अंगीकार करना सूण्ड (लम्बी नाक) का सूचक है। हाथी चूंकि पशुओं में सबसे विराट् होता है अत: हाथी का सर उपयुक्त है। गणेश का स्वभाव है तुरन्त निर्णय करके क्रियान्वित करना, अर्थात् सुतीक्ष्ण विश्लेषण से असत् को स्वीकार करना जो कि चूहे का स्वभाव है, अत: गणेशजी चूहे के सिर पर सवार होकर आते हैं। अर्थात् चूहे के मस्तिष्क में जो भाव होता है वह ही श्री गणेश है।

अक्षर पुरुष में गणेश की अवस्थिति - सम्पूर्ण गणेश का भाव बाल मस्तिष्क में ही जन्म लेता व पलता है। मनोवैज्ञानिक रूप से बालक तीन प्रकार से संस्कार प्राप्त करता है।

[1] विज्ञानमय कोश (विष्णु) जो कि तार्किक दृष्टि का प्रणेता है, तथा अन्नमयकोश (लक्ष्मी) जो कि दृश्यों में विविधता की उपलब्धता है, दोनों के मध्य जो संस्कार उत्पन्न हो रहे हैं, उसे विष्णु माया कहा जाता है। कर्म यज्ञ में यह विष्णुमाया कर्म की दिशा का निर्धारण करती है। सभी देवता यहीं से उत्पन्न होते हैं।

[2] आनंदमय कोश जो कि विश्वस्त आलम्बन में स्वीकृति भाव है, तथा प्राणमयकोश जो कि गति में स्पंदनों की उपलब्धता है, दोनों के मध्य जो संस्कार उत्पन्न हों रहें हैं, उसे शिव माया कहा जाता है। कर्म यज्ञ में यह शिवमाया कर्म में शक्ति व्युत्पन्न करती है। सभी शिव के गण यहीं से उत्पन्न होते हैं।

[3] कर्म में जिस प्रकार दिशा तथा शक्ति का सामंजस्य होता है, उसके जनक हैं नाम रूपात्मक संस्कार। रूप में प्रकृति जनित दिशा और शक्ति होती है, तथा नाम में पुरुष जनित दिशा और शक्ति होती है। दोनों के सामंजस्य से कर्म का स्वरूप बनता है। विभिन्न प्रकार के सामंजस्य हमारी अवचेतना में रहते हैं। इन्हें हम ब्रह्मा माया कहते हैं।

विष्णुमाया ज्ञान की प्रणेता है तथा शिवमाया शौर्य की प्रणेता है। दोनों एक दूसरे से विपरीत भी हैं तथा एक दूसरे के पूरक भी हैं। अंतर केवल एक है। बिना दिशा निश्चित किये शक्ति का कोई उपयोग नहीं होता। बिना शौर्य हुए कर्म प्रकट नहीं होता।

बिना दिशा निर्धारण के यदि आलम्बन (शिव) स्पंदन (पार्वती) के पास जाना चाहे तो [शिव का अन्त:पुर में प्रवेश का प्रयास] तो दिशाहीनता की रोक अर्थात् क्या, क्यों, कहाँ आदि बीच में उपस्थित हो जाती है। दिशा शिव के आशीर्वाद तत्त्व में विश्वास नहीं करती, अत: क्रिया के लिये शक्ति उत्पन्न नहीं हो पाती। जब तक हम अपने विचारों में रमे हुए होते हैं, क्रिया के लिए आशीर्वाद तत्त्व अनजाना नजर आ रहा होता है और यही गणेश की स्थिति है। विचारों मे रमण करते करते हम असमंजस्य की अवस्था में होते हैं, तब शिव तत्त्व ही हमारे विचार तंत्र का गला काट कर वैचारिक अनिर्णय से मुक्त कर देते हैं। परंतु यहाँ भी कर्म प्रारंभ नहीं होते। मनुष्य का सिर विचार

का संकेत है तथा पशु का सिर शक्ति का संकेत है। पशु का सिर लगते ही कर्म प्रारंभ हो जाते हैं।

गणेश का मनोवैज्ञानिक स्वरूप - सामान्य रूप से देखें तो हम पाएंगे कि अधिकांश मनुष्य ऊहापोह में ही रहते हैं, लेकिन जिनके अन्तर्मन में श्री गणेश उपलब्ध हैं वे मनुष्य विचार तंत्र को अपने शरीर से अलग कर कर्म तंत्र को धारण कर कर्म में अग्रसर हो जाते हैं। स्वयं अर्जुन की महाभारत के युद्ध में यही स्थिति हुई, लेकिन कृष्ण गीता उपदेश दे अन्त में उसके विचार तंत्र को उसके शरीर से अलग कर ही लेते हैं। अब यह कृष्ण कौन है, यह ज्ञान (जानना) देते समय विष्णु हैं, तथा भव (मानना) देते समय शिव हैं। गीता में 'जानना' व 'मानना', दोनों को लिया गया है। यह विष्णु व शिव, दोनों का प्रभाव हर समय हमारे मस्तिष्क में रहता है। किसी के मस्तिष्क में विष्णु का प्रभाव ज्यादा होता है व किसी के मस्तिष्क में शिव का प्रभाव ज्यादा होता है। यह संस्कारगत होता है और यह विभिन्नता क्यों होती है, उसकी विवेचना करना भी आवश्यक है।

गणेश और मानवीय संस्कार - संस्कार की तीन अवस्थाएं हैं-

[1] पितृ भाव से उत्पन्न आलम्बन भाव,

[2] मातृ भाव से उत्पन्न ऊर्जित भाव,

[3] प्रकृति भाव से उत्पन्न बुद्धि (सामंजस्य) भाव।

बालक में प्रकृति जब बुद्धि रूप में तर्क के संस्कार धारित करती है तो पितृ पक्ष के लिये यह स्थिति असहनीय होती है। पिता का यह भाव कि 'मैं ज्यादा समझदार हूँ।' पुत्र की बुद्धि व्यापार को स्वीकार नहीं होता व पिता- पुत्र में तनाव उत्पन्न हो जाता है। मेरा कहना नहीं मानता, अपनी जिद करता है, बिगड़ गया है आदि-आदि। इस समय पुत्र अपने अंत: में स्थित मान्यताओं (भूत प्रेत आदि) व ज्ञान (अप्रितम देवताओं) के साथ संघर्ष करता है तथा विषय पर मनन (विष्णु से युद्ध) कर स्पष्टता प्राप्त करता रहता है। पिता की शिकायतें बढती जाती हैं। और बढते बढते यदा-कदा पुत्र को डांटा भी जाता है। इस डांट का तात्पर्य यह होता है कि यदि जीवंतता चाहते हो तो विचार तंत्र को छोडना पड़ेगा। इस आतंकित करने वाली डांट बालक का विचार तंत्र रुक जाता है। यही गणेश का विचार तंत्र वाला मस्तक कटना होता है। विचार तंत्र समाप्त होते ही ज्ञान व कर्म, दोनों तंत्र रुक जाते हैं। यदि उस समय मातृ पक्ष बात को नहीं संभाले तो पुत्र अकर्मण्य बन कर रह जाये। आत्मसम्मान व आत्मविश्वास के अभाव में भीरु बन कर्म से विमुख हो जाये। इस समय माता पक्ष, अर्थात् अंत: की क्रियान्विितता अनुशासन विहीन हो प्रतिकार करे व पिता को पुत्र से पुन: मिला सकने में समर्थ हो जाये तो पुत्र में गणेश भाव का उदय हो जाता है। यहाँ पिता का भाव इस प्रकार का होना चाहिये कि मैं नहीं जानता कि तुम क्या कर रहे हो, पर जो कर

रहे हो उस क्रिया (केवल क्रिया को) को मेरा आशीर्वाद है। निश्चय ही आशीर्वाद 'कर्म की दिशा' को नहीं है, मात्र 'कर्म की क्रिया' को है। 'कर्म की दिशा' मनन (विष्णु से युद्ध) से आती। इस मनन को शिव रोक देते हैं, तो जो भी मनन का फल होता है, वही कर्म की दिशा निश्चित हो जाती है। अप्रत्यक्ष रूप से संदेश होता है कि "अब तो सोचना छोड़ दो और जो भी निर्णय हुआ है उसी के अनुरूप ही कर्म करो। इस प्रकार के घटनाक्रम मिलती-जुलती अनगिनत घटनाएं पुत्र के जीवन में होती हैं और वे सब संस्कार बन मस्तिष्क में स्थान बना लेतीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति में किसी कर्म विशेष के प्रति भीरुता व किसी कर्म विशेष के प्रति शौर्य होता है, और यह सब इस प्रकार के विभिन्न संसकारों के कारण होता है।

गणेश और मनुष्य मात्र - नकारात्मक आशीर्वाद [विघ्नेश] व सकारात्मक आशीर्वाद [विघ्नविनाशक] से उत्पन्न विभिन्न भाव सर्वत्र ही देखने को मिलते हैं। एक मनुष्य नदी के किनारे खड़ा है। पिछे शेर है। नदी मे छलांग लगानी है। अब वह जैसे ही छलांग लगाने के लिए उद्यत होगा व छलांग लगाएगा, उसके बीच में सकारात्मक आशीर्वाद रूपी गणेश का होना आवश्यक है। यदि गणेश नहीं हैं तो छलांग लगाते-लगाते भी रूक जायेगा। हवाई जहाज में आग लग गई है। पैराशूट बांधकर आपको धक्का दे दिया जाता है। आपको मात्र डोरी खींचनी है। यदि गणेश की कृपा नहीं हो तो फिर जो होना है वही होगा। परीक्षा हॉल मे आप बैठे हैं, पेपर समझ में नहीं आ रहा है, क्या करें आपको कुछ नहीं करना है, देह को शान्त कीजिए, तनाव रहित कीजिए। अब आप उन अनुभूतियों को याद करने का प्रयास कीजिए जो आपके जहन में आशीर्वाद के रूप में हैं। तुरंत ही गणेश का प्रादुर्भाव होगा व प्रश्न आपकी समझ में आने लगेंगे। एक बार आप प्रश्नपत्र हल करना शुरु कर देंगे तो बाद में आप देखेंगे कि पेपर इतना कठिन नहीं था जितना आप समझ रहे थे। हममें से कोई मनुष्य गणेशमय ज्यादा है कोई कम है। जिनमें गणेश का भाव कम रहता है जीवनभर सफलता को तरसते हैं व कुंठाओं से ग्रस्त रहते हैं, व जिनमे गणेश सहज रूप से उपलब्ध हैं, सफलता की सीढ़ियां चढ़ते चले जाते हैं। अब यह किसी के पास है या नहीं वह स्वयं तो इसके लिए जिम्मेदार नहीं है यह तो अभिभावकों द्वारा बचपन में उपहार रूप में दिया जाता है।

सारी विवेचना का शिक्षात्मक पक्ष - हम स्वयं मे जितना भी गणेश का प्रभाव है, हम बढ़ा सकते हैं या नहीं यह अभी तक विवादास्पद ही है, परन्तु आगे आने वाली हमारी संतानों को हम गणेश का उपहार दें, ऐसा हमारा प्रयास होना चाहिए। छोटी उम्र में, तकरीबन ५ वर्ष तक की उम्र तक बच्चों पर विशेष प्रभाव है। हमारा प्रयास होना चाहिए कि बच्चे वह महसूस करें कि, वे काम कर सकते हैं। वे जानते हैं कि यह काम कैसे हो और वे काम करने योग्य हैं। इसके लिए

आवश्यक है कि हम उनकी सहज क्रिया मे हस्तक्षेप न करें, जो वे कर रहे हैं उसके जिम्मेदार स्वयं हों। हो सकता है कुछ क्रियाएं ऐसी हों जो हम पसंद न करें तो उसे जाहिर करें, लेकिन नापसंद क्रियाओं को करें, बच्चे को नापसंद न करें। बच्चे के अस्तित्व को स्वीकार करें व उसे ऐसा अनुभूत करने दें कि अभिभावक उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यह अस्तित्व की स्वीकृति, जब बच्चा बड़ा होगा, शिव के रूप में साथ होगी व हाथी का सिर उत्पन्न होने से काम देगी।

बच्चे की क्रियाओं को स्वीकृति प्रदान करने से उसमें आत्मस्वीकृति आती है जो मोदक के रूप में गणेशजी के हाथ में है। यहाँ सावधानी आवश्यक होती है कि हम अनुचित क्रियाओं को स्वीकृति प्रदान न करें, परंतु अनुचित क्रियाएं होना अलग बात है एवं स्वयं बच्चे के अस्तित्व की स्वीकृति दूसरी बात है, दोनों मे फर्क रखना आवश्यक है। बच्चे को हम जो स्वीकृति प्रदान करते हैं उससे उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न होता है एवं निर्णय लेने की क्षमता पैदा हो जाती है। निर्णय लेते ही मनुष्य रूपी सिर को गणेश पाश मे बांध लेंगे एवं उत्पन्न हाथी का सिर, जो कि आत्म सुरक्षा से उत्पन्न हो रहा है, निर्णय किए हुए ज्ञान की दिशा में अंकुश से साथ लेंगे। 'तुम जो कुछ भी करोगे हम तुम्हारी रक्षा करेंगे' यह आत्म सुरक्षा पैदा करने का मंत्र है। स्वीकृति, सुरक्षा व विश्वास तीनों का संयुक्त रूप ही प्यार है, गणेश है।

11.2 वराह-अवतार की कथा

कथा का संक्षिप्त वर्णन - शतरूपा के साथ स्वायम्भुव मनु ने ब्रह्मा से प्रश्न किया कि हे पिताजी! जीवों का निवास स्थान पृथ्वी इस समय प्रलय के जल में डूबी हुई है। जहाँ मेरी भावी प्रजा जन रह सके, कृपया इस देवी का उद्धार कीजिये। तब ही अक्समात् ब्रह्मा के नासा छिद्र से अंगूठे के बराबर आकार का एक वराह-शिशु निकला। आकाश में खड़ा होकर क्षणभर में वह हाथी के बराबर हो गया। तथा देखते ही देखते वह शिशु जो कि स्वयं भगवान् हरि थे पर्वताकार हो गरजने लगे। अपना खेद दूर करने वाली मायामय वराह भगवान् की घुरघुराहट सुनकर जनलोक, तपलोक और सत्यलोक निवासी मुनिगण तीनों वेदों के परम पवित्र मंत्रों से उनकी स्तुति करने लगे। तदुपरान्त भगवान् गरज कर देवताओं के हित के लिये गजराज सी लीला करते हुऐ जल में घुस गये। उनका शरीर बड़ा कठोर था, त्वचा पर कड़े-कड़े बाल थे, दाढ़ें सफेद थीं और नेत्रों से ज्योति निकल रही थी। वह नाक से सूंघ-सूंघ कर पृथ्वी का पता लगा रहे थे। उनकी दाढ़ें बड़ी कठोर थी। यद्यपि वे बड़े क्रूर जान पड़ते थे, परन्तु अपनी स्तुति करने वाले मरीचि आदि

मुनियों की और बड़ी सौम्य दृष्टि से निहारते हुऐ उन्होंने जल में प्रवेश किया। वहां रसातल में उन्होंने समस्त जीवों की आश्रयभूता पृथ्वी को देखा, जिसे कल्पान्त में शयन करने के लिये उद्यत श्रीहरि ने स्वयं अपने ही उदर में लीन कर लिया था।

इस प्रकार श्रीहरि ने पृथ्वी का उद्धार करने के लिये सूकर रूप धारण किया। तदुपरान्त पृथ्वी को जल पर स्थापित कर दिया गया। यह स्थापित कर श्री हरि ने शक्ति रूप व तेज स्थापित किया, जब वह वेदमय विग्रह को हिलाते हैं तो जनलोक, तपलोक और सत्यलोक में रहने वाले मुनिजन सर्वथा पवित्र हो जाते हैं।

शब्दार्थ - [शतरूपा[707]] जीवंतता का प्रकृति भाव; अनेकरूपा। [मनु[537]] पुरुष भाव। [ब्रह्मा[497]] ब्रह्म की सत्ता; इकाई, [पृथ्वी[467]] पंचमहाभूतों में पृथ्वी तत्त्व; भूत की स्थूलता; जहां सूक्ष्मता निवास करती है; अधिगृहीत किये गुणों का उजागर; गुणों की उपलब्धता के उजागर। [जल[257]] व्युत्पन्न जीवंतता की विस्तारित उपलब्धता; पानी जीवंतता में सुधार करता है; स्वीकृति भाव, [नासा[404]] अंगीकृत-उन्मुख रिक्त सत्ता की व्यक्तता; शून्यता; ब्लेक होल। [वराह[636]] ओत्पत्तिक सूत्रों की स्थूल में स्थापना; अव्यय पुरुष, [आकाश[74]] पंचमहाभूतों में आकाश; योग्यता; क्षमता, [क्षणभर में वह हाथी के बराबर] ओत्पत्तिक सूत्र श्रृंखलाओं के निरन्तर गुणित होने से स्थूलत्व का फैलना, [हरि[838]] परात्पर की अनंत ओत्पत्तिक सूत्र श्रृंखलाओं में से एक अंश; जो प्रत्येक भौतिक अस्तित्व में संलिप्त है; अव्यय पुरुष, [अपना खेद दूर करने] अग्नि तत्त्व को संतोष देने वाली; विषमता निवारण करने। [मायामय वराह भगवान्] मायामय अव्यय ब्रह्म अर्थात् अक्षर ब्रह्म, [जनलोक, तपलोक और सत्यलोक] संयति त्रिलोकी; मनुष्य भाव, [परम पवित्र मंत्र] संयति त्रिलोकी के लिये ओत्पत्तिक सूत्रों का आगमन। [देवता[342]] सूक्ष्म गुणों की प्रस्तुतता; विषय बोध, [रसातल[874]] सूक्ष्म का स्थूल में विस्तार, [कल्पान्त[875]] कल्प के अंत की स्थिति; जहां छवि की स्थापना हो चुकती है; कल्प के अंत में अव्यय पुरुष ब्रह्मांश (आत्मा) को स्व में स्थित कर इकाई को स्थापित कर देता है, [हिरण्याक्ष[846]] हिरण्याक्ष 'असत् में संलिप्तता' द्वारा ही पृथिवी (स्थानिक अभिपुष्टि) में जीवंत चेतना चाह रहा है, जो कि असम्भव है, [सूकर[814]] स्थूल को विलीन कर चेतन में एकाग्रित होना।

भावार्थ - प्रश्न यह है कि एक बीज जो कि पार्थिव पदार्थों से निर्मित है, एक जीव संस्था को किस प्रकार स्वीकार कर लेता है।

कथा बीज का वृहद वर्णन करती है। (1) कल्प के पूर्व में परात्पर (ब्रह्म) ने अव्यय पुरुष के रूप में ब्रह्मांश (बीज) को स्थित करते हैं। यह अव्यय ब्रह्म का ही अंश है जो होने वालि इकाई में अपना काल विहीन अस्तित्व बनाये रखता है। (2) प्रत्येक बीज में दो भाग हैं: स्त्री रूपी

'शतरूपा' और पुरुष रूपी 'मनु'। (3) देवता अर्थात् 'सूक्ष्म गुणो की प्रस्तुतता' अर्थात् अव्यय में स्थित ओत्पत्तिक सूत्र। (4) प्रसंग से पूर्व श्री व्यास जी ने बीज निर्माण की प्रक्रिया को सांकेतिक रूप में लिया है व विवेचित किया है कि किस प्रकार रूद्र आदि देवता ब्रह्म के स्वरूप के अनुसार ब्रह्मा द्वारा एक बीज में स्थापित किये जाते हैं। यहाँ 'रूद्र आदि देवता' का संकेत बीज में स्थित उत्पत्तिमूलक सूत्रों (genetic code) से है जो होने वाले जीव के स्वभाव के नियामक हैं तथा अव्यय ब्रह्म (बीज) संरचना कर रहे हैं। (5) यह स्पष्ट किया जा रहा है कि बीज असत् से निर्मित वो सम्भावना है जहाँ उत्पत्तिमूलक सूत्रों को अव्यय पुरुष के रूप में स्थान मिल सकता है। (6) हिरण्याक्ष इस असत् के पिण्ड को ही जीव का कारण मान रहा है।

व्यास जी कि अनुसार जीव सत्ता, जो कि एक भूत है, पंचमहाभूतों से मिल कर बनती है। इसमें (1) आकाश तत्त्व बीज में स्थित अव्यय से मिल रहा है जो कि परिभाषित पृथ्वी को अवकाश उप्लब्ध करा रहा है। (2) पृथ्वी "आकाश द्वारा परिभाषित अनुमोदन से स्थापित प्रत्यक्षता का गुण" है। (3) वायु दोनों के मध्य स्थान व काल का नियंता है। (4) अग्नि वो 'खेद' अर्थात् विषमता है जिसे दूर करने के किये जीव का जन्म होता है, (5) जल दोनों के मध्य सामंजस्यता की स्वीकृति का संकेत है। आकाश व पृथ्वी जल में अग्नि सहित उपस्थित है परंतु सामंजस्य न होने से जीवे सत्ता में स्थापित नहीं हो रही।

प्रत्येक इकाई सात लोकों से मिल कर बनती है। जैसे ही बीज जीव सत्ता में समर्पित होने को उत्सुक होता है, संयति त्रिलोकी बदलकर क्रंदसी त्रिलोकी बनने लगती है, तथा क्रंदसी त्रिलोकी बदलकर रोदसी त्रिलोकी बनने लगती है। बीज का 'सत्यम् लोक' जीव सत्ता के सापेक्ष में 'जन: लोक'' दिखाई देने लगती है। तथा इसी समय नये संयति मण्डल (जनलोक, तपलोक और सत्यलोक) के ओत्पत्तिक सूत्रों (परम पवित्र मंत्र) का आगमन होने लगता है। इस प्रकार जीवे सत्ता के सात लोक पूर्ण होने से जीव सत्ता स्थूल बीज से जीव इकाई में परिवर्तित हो जाती है।

संकेत यही हैं कि रसातल में डूबी पृथ्वी, जिसको भूत बनने तक महाभूत नहीं कहा जा सकता, असत् है, जो पृथ्वी महाभूत को स्वीकृत करने में तत्पर है। पृथ्वी की स्वीकृत आकाश की भी स्वीकृति हैं। यहाँ एक व्यवधान है। असत् पिण्ड क्यों कर सत्व को स्वीकृत करे, यही द्वंद है।

हिरण्याक्ष अर्थात् असत् में उपलब्ध योग्यता जो कि असत् को ही अंगीकृत रखने की प्रवृत्ति की इच्छा रखता हो। दूसरी तरफ वराह जो 'छिपे सत् की एकात्म सत्ता को असत् में स्थान' देना चाहते है। हिरण्याक्ष कार्य-कारण का सिद्धान्त है, विकास प्रक्रिया कार्य-कारण से परे है। परंतु वराह अवतार हैं, वह बीज के कार्य-कारण को नियंत्रित कर 'पर' लोक की रचना कर रहे हैं।

पृथ्वी को जल पर स्थापित करते ही सत् असत् के साथ समावेश हो विकसित इकाई को प्रस्फुटित कर देता है। असत् के आधार पर आकाश व पृथ्वी के मध्य भूत स्थापित हो जाता है जो

जल व वायु के मध्य ही जीवन्ततितत रहता हुआ अग्नि मय बना रहता है। शक्ति रूप चन्द्रमा (पितृ) के लिये व तेज रूप सूर्य (देव) के लिये प्रयुक्त होने से दोनों का समन्वित रूप 'जीव' होगा जो कि द्रव्य व पद सूत्र के मध्य मन द्वारा प्रवृत्त होते हुये जनः, तपः व सत्यम् (विवेक शीलता) की उद्घोषणा करते प्रतीत होते हैं। और इस प्रकार एक नया जीव इस संसार में आ जाता है।

अंगूठे के नाखून के बराबर का संकेत सूक्ष्म से है, जो स्वतः ही स्थूल में परिवर्तित हो रहा है। क्रिया-कारण का सिद्धान्त इस प्रक्रिया का स्पष्टीकरण नहीं दे सकता, अतः यह प्रक्रिया अवतार कहलाती है।

शिक्षा भाव- उपर्युक्त वर्णन पूर्ण रूप से सापेक्ष है। एक ही कथा से हम भौतिक (physical), वानस्पतिक (biological), मनोवैज्ञानिक (psychological), व बौद्धिक (intellectual), सभी सृष्टियों की उत्पत्ति स्पष्ट कर सकते हैं। नया भौतिक कण, नया वानस्पतिक कोश, नयी मनोवैज्ञानिक अनुभूति, नया बौद्धिक तर्क, किसी की भी उत्पत्ति वराह की उपस्थिति के बिना सम्भव नहीं है। पूरा प्रकरण आधि-भौतिक के ऊपर अध्यात्मिक की प्रयोज्यता को प्रमाणित करता है। कथा कहती है कि नयी इकाई के जन्म के लिये उपादान असत् को अपना अहंकार त्याग कर पर संस्था में समर्पित होना पड़ता है। यहाँ पर संस्था उपादान से ही निर्मित नहीं होती वरन् ब्रह्म चेतना से प्राप्त होती है। बिना वराह के डी एन ए में भी अंकुरोद्भव सम्भव नहीं है। उपादान से जीव का बनना एक विकास प्रक्रिया है, जो कि बिना अवतरण के सम्भव नहीं है। बौद्धिक इकाई के संदर्भ में देखें तो दर्शन कहता है कि हम अपने पूर्व धारित ज्ञान के विभिन्न समीकरण से अलग कुछ भी नहीं सोच सकते। लेकिन फिर भी नया सोच पाते हैं। यह 'aha expression' ही वराह का अवतार है।

11.3 श्री कपिल देव जी का जन्म

कथा का संक्षिप्त वर्णन - देवी देवहूति ने देखा कि उनके पति कर्दम संन्यासाश्रम ग्रहण कर वन को जाना चाहते हैं तो उन्हांने निवेदन किया कि आपके चले जाने के बाद मेरे जन्म-मरणरूप शोक को दूर करने के लिये भी कोई होना चाहिये। अनेक वैराग्यपूर्ण बातों से कर्दम मुनि को स्मरण हो गया कि उनके गर्भ से भगवान् विष्णु शीघ्र अवतरित होंगे। वैराग्य पूर्णता तथा कर्दम मुनि के आश्रय से उनके गर्भ से भगवान् इस प्रकार प्रकट हुए, जैसे काष्ठ में से अग्नि। यह अवतार श्री कपिल देव जी के नाम से विख्यात हुआ। श्री कपिल देव जी सांख्य योग को स्थापित करने वाले मूल विद्वान थे। पिता जी के वन जाने के पश्चात् कपिल जी अपनी माता के साथ बिन्दुसर तीर्थ में रहने लगे। एक दिन माता देवहूति ने अध्यात्म योग के विषय में जिज्ञासा प्रकट की।

शब्द व्याख्या - [देवहूति[346]] विषय में से स्थूल को नकारना; ज्ञेय विषय को जानने की प्रेरणा, [कर्दम[156]] जो भी प्रस्तुति हो रही है, चेतन के द्वारा हो रही है, अर्थात् समझ का उपयोग; विश्लेषित उपलब्धता, [मुनि[555]] जो अन्तः में स्थित है, उसे ही स्वीकृत करने का प्रयास अर्थात् विचार मंथन करने वाला, [कपिल[155]] विश्लेषण का विस्तार, [बिन्दुसर[492]] ऐसा बन्धन जिसकी एकाग्र व्यक्तता रिक्तता को ही प्राप्त होती है; शून्य का आलम्बन।

विवेचना - मनुष्य में ज्ञेय विषय को जानने की प्रेरणा हमेशा बनी रहती है जिसे जिज्ञासा कहते हैं। इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिये यदि विश्लेषित उपलब्धता (कर्दम) उपलब्ध हो तो देवहूति तथा कर्दम का यज्ञ चलता रहता है। कर्दम मुनि हैं अत: यह मनन यज्ञ ही है। विभिन्न तर्कों के विभिन्न सामंजस्यों से विभिन्न विश्लेषित सूत्र बनाये जा सकते हैं परंतु इसकी एक सीमा है। एक सीमा के बाद सभी तर्क समाप्त हो जाते हैं उसके उपरांत भी हम सत्य को नहीं जान पाते। उस समय हम ज्ञानाभिमान त्याग (संन्यासाश्रम ग्रहण करना) दें, तो उसी मनन यज्ञ में से ब्रह्म विश्लेषण भाव का अवतरण हो जाता है। यह विश्लेषण में विस्तार ही श्री कपिल देव जी हैं। जब हम 'काष्ठ से अग्नि' कह रहे हैं तो इसका तात्पर्य यही है कि जो नया भाव प्रकट हो रहा है वह मनन प्रक्रिया में ही पैदा हो रहा है। ऐसा विश्लेषण जो हमारे पूर्व में उपलब्ध न हो, अभिनव हो, स्वत: उत्पन्न हो, जैसे 'काष्ठ से अग्नि', अर्थात् जो पहले से ही अस्तित्व में न हो फिर भी प्रकट हो जाये, उसे ईश्वर का अवतरण ही कहेंगे। संदर्भ विश्लेषण का है अत: यह भाव भगवान विष्णु ही होंगे। भगवान विष्णु ही विज्ञानमय कोश के अधिष्ठाता है अत: तर्क की एकात्मकता पर आधारित हैं। यह एक तर्क ही मूल तर्क है जिसमें सभी प्रश्नों का उत्तर छिपा हुआ है। यह मूल तर्क शून्य पर आलम्बित है अत: माया से अप्रभावित है। बिंदु के समान सार होने से इसे बिन्दुसर भी कहा जा सकता है।

शिक्षा भाव - हम जब भी किसी विचार में संलग्न होते हैं तो हमरे सारे विचार हमारी तर्क की सीमा में ही रहते हैं। हमारी अवधारणाएं हमें मोह तथा माया की तरफ खेंचते चले जाते हैं। मूल विश्लेषणात्मक पक्ष को चाहते हुये भी भावना में खोकर भोगात्मक अंगीकरण में क्रोध नैराश्य आदि से ग्रसित हो जाते है। भागवतकार कहते हैं कि यदी हम अपने पूर्व अवधारित तर्कों को त्याग दें तो हमें मूल तर्क के दर्शन होते हैं। यह मूल तर्क ही भगवान् कपिल हैं, जो कि हमें मूल सत्य का परिचय कराता है। भागवतकार कहते हैं कि जब हम उपलब्ध ज्ञान से सत्य को न जान पायें तो उस पूर्व ज्ञान का परित्याग करना चाहिये। जैसे ही हम अंहकार का त्याग करते हैं हम नये तर्क ग्रहण करने के योग्य हो जाते हैं, और यह नये तर्क यदि प्रकृति जनित हैं तो ब्रह्म का ही स्वरूप होंगे, ऐसा मानना चाहिये।

11.4 प्रजापति दक्ष व शिव की कथा

कथा का संक्षिप्त वर्णन - यज्ञ सभा में भगवान् शिव सहित अनेक देवता उपस्थित थे। उस समय प्रज्ञापति दक्ष ने सभा में प्रवेश किया। सब देवता सिवाय शिव के सम्मानपूर्वक खड़े हो गये। यह देखकर दक्ष बहुत क्रोधित हुआ व उसने शिव मार्गियों को शाप दे दिया। समाचार मिलने पर नन्देश्वर ने ब्राह्मणों को शाप दे दिया। इस प्रकार दक्ष व शिव का मनोमालिन्य प्रारम्भ हुआ। समय बीतने पर दक्ष प्रजापतियों का अधिपति बना व उसने वाजपेय यज्ञ व फिर वृहस्पतिसब नाम का यज्ञ किया परन्तु शिव का कोई भाग नहीं निकाला। वृहस्पतिसब यज्ञ के समय दक्ष कुमारी सती ने शिव से पिता के घर जाने की प्रार्थना की। शिव के मना करने पर भी यज्ञशाला में पहुंच कर सती को अपमान सहना पड़ा। वहाँ उसने माना कि ''दक्ष को कर्म मार्ग के अभ्यास से बहुत घमण्ड हो गया था''। अपमान के वशीभूत हो उन्होंने देह त्याग कर दिया। प्रतिक्रिया स्वरूप शिव ने अपनी एक जटा को भूमि पर पटककर वीर-भद्र को उत्पन्न किया। वीरभद्र अपने गणों के सहित यज्ञशाला में पहुँचा व उसने यज्ञ का ध्वंस कर डाला। अनेक देवताओं को दण्ड देनेके उपरान्त वीरभद्र ने दक्ष का वध करने का प्रयास किया परन्तु सफल न हो पाया। तो उसने जिस प्रकार पशुओं को मारा जाता है, उस प्रकार दक्ष का सिर धड़ से अलग कर दिया। यह देख देवता ब्रह्मा जी के पास पहुंचे। ब्रह्मा जी देवताओं व पितरों के साथ कैलास पर्वत पर गये, तथा दक्ष के पुनर्जीवन की प्रार्थना की। भगवान् शिव ने ब्रह्मा जी की प्रार्थना पर प्रत्येक देवता को उपाय देते हुये उनकी अंग-भंगता का प्रतिकार/उपाय किया व दक्ष के सिर की जगह बकरे का सिर लगाकर दक्ष को क्षमा कर दिया। दक्ष ने स्वीकृत किया कि वह शिव के रक्षा करने वाले रूप से परिचित नहीं था। तदुपरान्त यज्ञ सम्पूर्ण हो गया।

शब्द व्याख्या - [यज्ञ[569]] प्रत्यक्ष सत् का प्राकट्य; जीव प्रक्रिया, [शिव[719]] प्रकट क्रिया शक्ति (विश्वसनीय अभिव्यक्ति; जीवंत अनुभूति) का अदृश्य अस्तित्व / गुण / सूत्र / स्रोत / आलम्बन, [दक्ष[313]] निपुण, [नन्दी[388]] बल का वाहक, [वाजपेय[647]] निर्णीत दिशा में शक्ति का प्रत्यक्ष, शक्त्यात्मक कर्म; छिपी सत्ता की जीवंतता को बढाना, अर्थात् अभ्यास करना। अभ्यास करने से दक्षता को बढाया जा सकता है, [वृहस्पतिसव[689]] सूक्ष्म हो स्थूल में जानने का गुण; सीखे हुए को असत् भाव से व्यक्त करना; सत् को असत् में व्यक्त करने का प्रयत्न; ज्ञानात्मक कर्म, [दक्ष का कर्म मार्ग में अभ्यास] ज्ञान तथा शक्ति के कर्म का अभ्यास (वृहस्पतिसव तथा वाजपेय), [वीरभद्र[682]] अनुशासन विहीन बल प्रयोग, [जटा[248]] जीवन्तता में प्रवृत्त सत्ता, [पितर[447]] प्रत्यक्ष अनुमोदन का प्रस्तुत-उन्मुख एकाग्र; अनुमोदन कर्ता।

भावार्थ - कथा के मूल में प्रजापति दक्ष हैं। यहाँ प्रजा का अर्थ हमारी सत्ता की प्रवृत्तियां हैं तथा जिनको संचालित करने के लिये अनेक प्रजापतियों में दक्ष (प्रस्तुति में योग्यता) का स्थान प्रमुख है। यह योग्यता जब क्रियाओं की पुनरावृत्ति करती है तो 'वाजपेय' (अभ्यास) कहलाता है। अर्थात् जिस क्रिया में हम पहले से दक्ष हों उसकी पुनरावृत्ति करना सहज होता है लेकिन किसी नयी क्रिया में दक्ष को यदि नयी दक्षता प्राप्त करनी होती है। उसमें चिंतन (वृहस्पतिसव) आवश्यक होता है। कथा का मूल उस चिंतन के द्वारा दक्षता को वर्धित करने की प्रक्रिया है।

जैसा कि 'दक्ष' नाम से ही स्पष्ट है कि 'दक्ष' चेतनता व शक्ति के सामंजस्य की स्थूल में प्रस्तुति है। चेतन अर्थात् विज्ञानमय कोश व अन्नमय कोश के द्वैत से उत्पन्न होता हुआ 'स्पष्ट बोध'। यह बोध शक्ति-विहीन, स्पन्द विहीन व आलम्ब विहीन होने के बाद भी वैविध्यता, ज्ञान, विश्लेषण, शुद्धता व विवरण को प्रकाशित करने वाला है। व्यावहारिक दृष्टि में इसे ही 'देवता' कहा जाता है। संकेतों के विभिन्न सामंजस्यों से विभिन्न देवता प्रकाशित होते हैं। पौराणिक दृष्टि से यह विष्णु व लक्ष्मी के मध्य उपस्थित 'गौ' (चेतन) से उत्पन्न होते हैं। यह वही 'गौ' है जिसका वर्धन करने का आदेश श्रीकृष्ण हमें देते हैं।

प्राणमय कोश (स्पंदन) व आनन्दमय कोश (आलम्बन) के मध्य प्रणय से व्युत्पन्न सामंजस्यता ही शक्ति है। यह शक्ति है, जो चेतन के ठीक विपरीत होने से तर्क विहीन, ज्ञान विहीन, आकृति विहीन है तथा जो शक्ति, सामर्थ्य, बल से युक्त है। व्यावहारिक दृष्टि से यह 'पितृ' कहलाता है। पौराणिक दृष्टि से यह शिव व पार्वती के मध्य अश्व (अस्तित्व में शक्ति का छिपा सत्) का शोधन है।

दक्ष द्वारा शिव मार्गियों को तथा नंदेश्वर द्वारा ब्राह्मणों को शाप देना इस बात का संकेत है कि दक्षता और बल, दोनों एक दूसरे के पूरक होने के बाद भी विपरीत भाव हैं। हमारी दक्षता दो प्रकार के यज्ञ करती है, प्रथम है शक्त्यात्मक कर्म (वाजपेय यज्ञ) या बल प्रस्तुति, तथा द्वितीय है ज्ञानात्मक कर्म (वृहस्पतिसव यज्ञ) या ज्ञान प्रस्तुति। निरंतर इस प्रकार का अभ्यास करने से हमारी दक्षता में अति आत्मविश्वास आ जाता है। तथा उस आध्यात्मिक पहलू, जो कि प्रत्येक यज्ञ का आलम्बन (शिव) है, उपेक्षित हो जाता है।

कर्म में हमारी जो भी क्रियान्विति है उसके दो हिस्से हैं। प्रथम है ऊर्जित स्पंदन जो कि सती से आ रहे हैं तथा दूसरा उन स्पंदनों के लिये आलम्बन, दोनों के सामंजस्य से क्रियान्विति व्युत्पन्न हो रही है। यदि आलम्बन उपेक्षित है तो स्पंदन स्वत: ही भय का रूप ले लेते हैं। किसी भी क्रियान्विति में आत्मविश्वास महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है। उसकी अनुपलब्धता से स्पंदित ऊर्जा क्रियान्विति का हिस्सा न बन कर (देह त्याग कर) भय का कारण बन जाती है। और उस भय से

हमारी सारी क्रियान्विति ध्वस्त हो जाती है। यह प्रक्रिया कुछ इस प्रकार की है, जिस प्रकार एक विचारशील व्यक्ति साहस के अभाव में क्रिया शून्य हो जाता है।

यह विचारशीलता की आधिक्यता या दैव अहंकार ही है जिसके कारण आलम्बन रूपी शिव की उपेक्षा हो जाती है। हमारा सारा ध्यान 'क्या करना है', इस पर केंद्रित हो जाता है, 'करना है', यह उपेक्षित हो जाता है। इस समय यदि यज्ञ कर्ता दैव अहंकार (मनुष्य का सिर) त्याग कर पशु का सिर लगा ले तो। 'करना है' वाला अध्याय पूर्ण हो जाये। यह यज्ञ की एक आवृत्ति पूर्ण हो जाती है। प्रत्येक आवृत्ति में क्रियान्विति का आरम्भ विचारशील मनुष्य करता है तथा अंत विश्वासशील पशु ही करता है। और प्रत्येक आवृत्ति में हम 'कुछ' सीखते हैं. आवृत्ति की पुनरावृत्ति में यज्ञ प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ होती है तथा पुनः मनुष्य के सर की जगह बकरे का सिर लगा दिया जाता है. पुनः प्रक्रिया में उपलब्ध स्पन्दन पहले की तुलना में ज्यादा उपयुक्त व देवताओं के द्वारा कम तिरस्कृत होते हैं। अतः पुनः प्रक्रिया में हम कुछ ज्यादा सीखते है। प्रक्रिया की निरन्तर पुनरावृत्तियों से चेतन व शक्ति में पूर्ण सामंजस्य उत्पन्न होता जाता है तथा हम सीख जाते हैं। प्रत्येक आवृत्ति में आधे समय दक्ष की सिर मनुष्य का व आधे समय दक्ष का सिर बकरे का रहता है।

प्रक्रिया की पूर्णता में 'तर्क' जो 'शुद्ध' विवरण के वैविध्य को ऊर्जित करता है व यह ऊर्जा शिव द्वारा आलम्बित होती हुई आश्रय को प्राप्त करती है। यही दक्ष प्रक्रिया है। 'तर्क' की 'आश्रय' को प्राप्ति ही दक्षता है। यही वृहस्पतिसब यज्ञ है।

शिक्षा - कथा मूल रूप से सीखने की कला का विश्लेषण कर रही है। हम जब भी कुछ सीखते हैं तो 'प्रयत्न' के प्रथम काल में ज्ञेय के प्रति स्पष्ट व संतुष्ट होते हैं। ज्ञेय के प्रति अतिरेक संतुष्टि में हम ज्ञेय अहंकार से ग्रसित होते हुए इष्ट के प्रति असावधान हैं। हमारी संज्ञा चेतना में होती है व आत्मबल से कोई सामञ्जस्य नहीं होता। 'प्रयत्न' होते ही गति की दिशा तो सही होती है परन्तु ऊर्जा होने के बाद भी आत्म आलम्बन प्रयुक्त नहीं हो पाता। यहाँ ऊर्जा समाप्त होने लगती है। ऊर्जा समाप्त होने से हमारा अ- सामञ्जस्य आत्म आलम्बन प्रवृत्ति के प्रवाह के द्वारा 'ज्ञैय अंहकार' को समाप्त कर देता है। जिसके समाप्त से आत्म आलम्बन प्राप्त होने लगता है। जैसे ही ज्ञेय को आत्मबल स्वीकार करता है, 'प्रयत्न' पूर्णता को प्राप्त करता है। यही प्रक्रिया अनेक बार दोहराती जाती है व हम 'सीख' लेते हैं।

कथाकार यह कहना चाह रहा है कि मात्र जानना दक्षता की निशानी नहीं होता। आप किसी विषय पर बोल रहे हैं, विषय में पारङ्गत हैं, परन्तु यदि आत्मबल से सामञ्जस्य नहीं है 'तो आप बोल नहीं सकते। किसी भी कार्य में 'दक्ष' होने के लिये आवश्यक है प्रयत्न, और प्रयत्न में

विषय को स्व के आत्मबल के अन्तर्गत लाना आवश्यक है। यदि आप भीरू हैं तो फौज में काम नहीं कर सकते। लड़ने में दक्ष होने के लिये वार करने में प्रवीणता के साथ वार करने का साहस भी अपेक्षित है। लड़ने के गुर जानना व लड़ने में दक्ष होने में बहुत अन्तर है। प्रत्येक प्रक्रिया प्रारम्भ विचार से होती है, व समाप्त बकरे से होती है। प्रत्येक प्रक्रिया में प्रज्ञा को 'तर्क' से शुरू करते हुऐ आश्रय तक पहुंचाने की कला का नाम 'सीखना' है। किसी भी कार्य को सीखने के लिये यह कहना कि 'ऐसे करना ही उचित है' के स्थान पर 'हे ईश्वर जैसा तू चाहे' का उपयोग ही दक्ष यज्ञ को पूरा करता है। हमारी प्रज्ञा जाने हुऐ पर केन्द्रित न होकर, स्व के अस्तित्व में उसका स्थान उपलब्ध कराने में हो।

11.5 ध्रुव चरित्र

कथा का संक्षिप्त वर्णन - शतरूपा व मनु के दो पुत्र प्रियव्रत व उत्तानपाद हुए। उत्तानपाद की सुनीति व सुरूचि नाम की पत्नियां थीं। सुरुचि राजा को ज्यादा प्रिय होने से उसका पुत्र उत्तम भी ज्यादा प्रिय था। सुनीति का पुत्र ध्रुव उतना प्रिय नहीं था। तिरस्कार के फलस्वरूप ध्रुव ने तपस्या कर श्री नारायण की आराधना की। यहाँ मंत्र है - 'ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय'। ध्रुव इन्द्रिय द्वार तथा प्राणों को रोककर अनन्य बुद्धि से विश्वात्मा श्री हरि का ध्यान करने लगे। इस प्रकार उनकी समष्टि प्राण से अभिन्नता हो जाने के कारण सभी जीवों का श्वास प्रश्वास रुक गया। इससे समस्त लोक व लोकपालों को बड़ी पीड़ा हुई। देवताओं में भय व्याप्त हो गया जो कि श्री भगवान् के आश्वासन के बाद समाप्त हो गया।

ध्रुव जी तीव्र योगाभ्यास से एकाग्र हुई बुद्धि के द्वारा भगवान् की तडित्प्रभम् मूर्ति का अपने हृदय में ध्यान कर रहे थे, सहसा उसी रूप में बाहर दिखाई देने लगी। सर्वान्तर्यामी हरि ने अपने वेदमय शंख को उनके गाल से छुआ दिया। तथा ध्रुव को जीव व ब्रह्म के स्वरूप का भी निश्चय हो गया। तत्पश्चात् भगवान ने उन्हें ध्रुव लोक प्रदान किया। हालांकि बाद में ध्रुव को पछतावा हुआ कि उन्होंने प्रभु सेवा के अतिरिक्त कोई मांग क्यों रखी।

ध्रुव का विवाह भ्रमि व इला के साथ हुआ। एक यक्ष ने उत्तम को मार डाला, उसकी माता भी परलोक सिधार गयी। समाचार जानकर ध्रुव यक्षों की नगरी अलकापुरी देखी, जिसमें भूत-प्रेत-पिशाच आदि रुद्रानुचर रहते थे। ध्रुव ने प्रत्येक यक्ष को तीन-तीन वाण मारे। तथा यक्षों को मार गिराया।

यक्षों से हारने के पश्चात् असुरों ने अनेक उत्पात दिखाये। ध्रुव ने नारायणास्त्र धनुष पर चढ़ाया जिससे यक्षों द्वारा रची हुई माया नष्ट हो गयी। निरपराध यक्षों को मरता हुआ देखकर मनु

को बहुत दया आयी। वह ऋषिओं को साथ लेकर आये व समझाया कि ये कुबेर के अनुचर (यक्ष) तेरे भाई को मारने वाले नहीं हैं। इस प्रकार युद्ध समाप्त हुआ। युद्ध समाप्त हो जाने से कुबेर अत्यन्त प्रसन्न हुए व वर मांगने के लिये कहा। तब 'ध्रुव ने श्री हरि में अखंड स्मृति बनी रहे' ऐसा वर मांगा। विराट् स्वरूप का चिन्तन करते हुए ध्रुव अन्त में ध्याता व ध्येय के भेद से शून्य हो निर्विकल्प समाधि में लीन हो गये, और उस अवस्था में उन्होंने विराट् स्वरूप का भी परित्याग कर दिया। अन्त में ''मैं ध्रुव हूँ'' यह स्मृति भी समाप्त हो गयी। विमान में चढ़ते समय वहाँ काल उपस्थित था, ध्रुव ने मृत्यु के सिर पर पैर रखकर विमान में चढ़ गये। नित्य धाम में पहुंच कर ध्रुव ने अविचल गति प्राप्त की। जो आज भी आकाश में अविचल हो कर स्थित है।

शब्दार्थ - [प्रियव्रत[482]] प्रिय में संलिप्तता; प्रिय निश्चिय करना, [उत्तानपाद[118]] क्रिया के लिये अंदर से भाव अनुमोदन, [सुनीति[805]] नाम से ही स्पष्ट है, [सुरुचि[811]] नाम से ही स्पष्ट है, [ध्रुव[386]] स्वीकार्य संलिप्त अपरिवर्तनीयता (धारणा) का गुण; भौतिक अपरिवर्तनीयता (ध्रुव तारा); मानसिक अपरिवर्तनीयता (विष्णु भक्त); स्थिर, [उत्तम[116]] अहंकार विहीन होना; निरन्तर ज्ञान को प्राप्त करना, [तडित्प्रभम्[878]] अनायास ही बुद्धि में प्रकाशित होने वाला, [कुबेर[879]] जो संचय में ही विश्वास करते हों, [यक्ष[566]] सत्य में सचेत जीवंतता; समस्त का पर्यवेक्षक; प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना।

भावार्थ - मनुष्य (मनु) दो प्रकार (पुत्र) का होता है। एक होता है जो प्रियता में निमग्न रहता है प्रियव्रत कहलाता है, तथा दूसरा जो गतिमयता में निमग्न रहता है, उत्तानपाद कहलाता है। उत्तानपाद की दो प्रकार की प्रवृत्तियां (पत्नियां) होती है। पहली प्रवृत्ति (पत्नी) सुरुचि है। सुरुचि का कर्म अर्थात् पुत्र, उस को उत्तम नाम दिया गया है। उत्तानपाद की दूसरी प्रवृत्ति (पत्नी) सुनीति है। जो नीति के अनुसार कर्म है उसे सुनीति का पुत्र कहा गया है तथा ध्रुव नाम दिया गया है। उत्तानपाद को सुरूचिपूर्ण कर्म अधिक प्रिय हैं तथा नीतिगत कर्म उतने प्रिय नहीं हैं। यह स्थिति सभी मनुष्यों पर लागू होती है।

ध्रुव का उद्देश्य ज्ञान के मूल, अर्थात् नारायण को जानना है, जो कि बौद्धिक मस्तिष्क का क्रिया क्षेत्र है। जीवत्व के तीन प्रज्ञा केन्द्र हैं। बौद्धिक अंतश्चेतना, मानसिक अंतश्चेतना व जैविक अंतश्चेतना। मानसिक तथा जैविक मस्तिष्कों को रोक कर सम्पूर्ण अंतश्चेतना को मात्र बौद्धिक मस्तिष्क में केंद्रित करने से मानसिक तथा जैविक देह अप्रयत्नयुक्त तो हो सकती है परन्तु फिर भी सहज रूप से चलती रहती है। कारणों का कारण आखिर क्या है, इसका प्रत्यक्ष तडित् रूप से बौद्धिक अंतश्चेतना में प्रकट होता है, परंतु मानसिक तथा जैविक अंतश्चेतना के अभाव में अवर्णनीय ही होता है। एक बार ध्रुव जब एकत्व को जान लेते है, उन्हें बाहर सृष्टि (मानसिक तथा

जैविक) में उस एकत्व के वितान को देखने में रुचि नहीं रहती। जैसे ही वेदमय शंख अनुभूति को शब्द देते हैं, अव्यक्त ब्रह्म व्यक्त हो जाता है अर्थात् बाहर जो सृष्टि दिखाई दे रही है, उसका कारण भी दिखाई देने लगता है। जो अंदर है वही बाहर भी है। इस अद्वैत सूत्र को जानने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। यहाँ ब्रह्म तथा जीव का अन्तर समाप्त हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार ब्रह्म आकाश का स्वामी है, जीव भी आकाश का स्वामी होने की प्रतीति में आ जाता है।

ध्रुव की दो प्रकार की क्रियान्वितियां (पत्नियां) हैं। प्रथम है भ्रमि अर्थात् स्वच्छन्द अनुमोदनात्मक संलिप्तता का होना, अर्थात् मंथन करना। द्वितीय है इला अर्थात् बाह्यमुखी उपलब्ध विस्तार की सत्ता, अर्थात् उस प्रत्यक्ष का विस्तार करना।

यक्ष का अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण है। ज्ञान के वैविध्यता का संग्रह जो कि 'उत्तम' का कर्म है, में प्रत्यक्ष प्रमाण (यक्ष) शंका पैदाकर देता है। यहाँ उत्तम विधि समाप्त प्रायः हो जाती है। ध्रुव प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं मानता। जो भी प्रत्यक्षताएं उपलब्ध हैं, उनका तीनों प्रकार से (तीन-तीन वाण) समाधान करता है। जितने भी भूत-प्रेत-पिशाच आदि प्रत्यक्ष हो रहे हैं, मात्र भ्रम हैं क्योंकि प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता। यक्ष शंका के समाधान से असुरों (सत्य विहीनता) का उत्तेजित होना स्वभाविक है। यहाँ ध्रुव अज्ञान व माया से बनी उत्पाती संस्थाओं में नारायणास्त्र का संधान व प्राकट्य करने से प्रत्येक भावनात्मक भ्रमों को समाप्त कर देता है। भ्रमों की पूर्ण समाप्ति सत्ता में अस्थिरता पैदा करेगी, ऋषियों के इस मन के कारण यक्षों का नाश करने से रोका जाता है। इस प्रकरण से स्पष्ट होता है कि काव्य अन्धविश्वासों को कितना भी धिक्कारता हो परन्तु उसकी आवश्यकता से इन्कार नहीं करता।

शिक्षा - किसी भी सत्य को जानना द्रष्टा द्वारा दृश्य का विश्लेषण करना मात्र है। इस विश्लेषण यज्ञ का फल ज्ञान का विवरण व ज्ञान की शुद्धता है। यह पूर्व स्थित ज्ञान को स्थापित करना मात्र है। जिज्ञासु व्यक्ति को कारण के मूल में जाने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। एक ही सूत्र प्रत्येक स्थान पर तथ्य के केन्द्र में कारण बनकर उपस्थित है। यदि हम उस एक ही कारण को खोजने में समर्थ हो जायें तो सम्पूर्ण ज्ञान तो पुस्तकालय की वस्तु मात्र रह जाता है।

हम जानते हैं कि मूलकारण को जानना असम्भव है, परन्तु जितना अद्वैत की तरफ जाएंगे, 'शुद्धता' व 'विवरण' उतने ही सहज दिखाई देने लगेंगे। ज्ञात करने के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता न्यून होती जायेगी। व सूत्र के प्रतिपादन के भूत-पिशाच-यक्ष आदि भ्रमों से आवरण हट जायेगा व शुद्ध रूप दिखाई देने लगेगा। मूल रूप से कथा अन्धविश्वासों से मुक्ति का प्रयास है।

11.6 पुरञ्जन की कथा

कथा का संक्षिप्त वर्णन - पुरञ्जन नाम का एक बड़ा यशस्वी राजा था। उसका अविज्ञात नामक एक मित्र था। उसे तरह-तरह के भोगों की लालसा थी। उसने एक नौ द्वारों का नगर देखा। राजा पुरंजन ने उस अद्‌भुत वन में घूमते-घूमते एक सुन्दरी को आते देखा, जो अकस्मात् उधर चली आयी थी। उसके साथ दस सेवक थे, जिनमें से प्रत्येक सौ-सौ नायिकाओं का पति था। एक पाँच फनवाला साँप उसका द्वारपाल था। उसका रंग सांवला था। पीले रंग की साड़ी और सोने की करधनी, चरणों से नूपुरों की झनकार करती। अपने उत्पन्न करने वाले का ठीक-ठीक पता नहीं है और न अपने या किसी दूसरे के नाम या गोत्र को ही जानती है।

इस पुरी में हैं- इसके सिवा मैं और कुछ नहीं जानती; मुझे इसका भी पता नहीं है कि हमारे रहने के लिये यह पुरी किसने बनायी है। जिस समय मैं सो जाती हूँ, यह सर्प जागता हुआ इस पुरी की रक्षा करता रहता है। आपको विषय-भोगों की इच्छा है, उसकी पूर्ति के लिये मैं अपने साथियों सहित सभी प्रकार के भोग प्रस्तुत करती रहूँगी।

उस नगर में जो नौ द्वार थे, उनमें से सात नगरीके ऊपर और दो नीचे थे। इनमें से पाँच पूर्व, एक दक्षिण, एक उत्तर और दो पश्चिम की ओर थे। पूर्व की ओर खद्योता और आविर्मुखी नाम के दो द्वार एक ही जगह बनाये गये थे। द्‌युमान् के साथ विभ्राजित नामक देश को जाया करता था। इसी प्रकार उस ओर नलिनी और नालिनी नाम के दो द्वार और भी एक ही जगह बनाये गये थे। उनसे होकर वह अवधूत के साथ सौरभ नामक देश को जाता था। पुरी के दक्षिण की ओर जो पितृहू नामका द्वार था, उसमें होकर राजा पुरंजन श्रुतधर के साथ दक्षिण पांचाल देश को जाता था। उत्तर की ओर जो देवहू नामका द्वार था, उससे श्रुतधर के ही साथ वह उत्तर पांचाल देश को जाता था। पश्चिम दिशा में आसुरी नाम का दरवाजा था, उसमें होकर वह दुर्मद के साथ ग्रामक देश को जाता था। निर्ऋति नाम का जो दूसरा पश्चिम द्वार था, उससे लुब्ध के साथ वह वैशस नाम के देश को जाता था। निवासियों में निर्वाक् और पेशस्कृत्-ये दो नागरिक अन्धे थे। राजा पुरंजन आँख वाले नागरिकों का अधिपति होने पर भी इन्हीं की सहायता से जहाँ तहाँ जाता और सब प्रकार के कार्य करता था।

उसकी रानी जो-जो काम करती, वही वह भी करने लगता था। वह जब मद्यपान करती, तब वह भी मदिरा पीता और मद से उन्मत्त हो जाता था; जब वह भोजन करती, तब आप भी

भोजन करने लगता और जब कुछ चबाती, तब आप भी वही वस्तु चबाने लगता था। इसी प्रकार कभी उसके गाने पर गाने लगता, रोने पर रोने लगता, हँसने पर हँसने लगता और बोलने पर बोलने लगता। वह दौड़ती तो आप भी दौड़ने लगता, खड़ी होती तो आप भी खड़ा हो जाता, सोती तो आप भी दौड़ने लगता, खड़ी होती तो आप भी खड़ा हो जाता, सोती तो आप भी उसी के साथ सो जाता ओर बैठती तो आप भी बैठ जाता। कभी वह सुनने लगती तो आप भी सुनने लगता, देखती तो देखने लगता, सूँघती तो सूँघने लगता और किसी चीज को छूती तो आप भी छूने लगता। कभी उसकी प्रिया शोकाकुल होती तो आप भी अत्यन्त दीन के समान व्याकुल हो जाता; जब वह प्रसन्न होती, आप भी प्रसन्न हो जाता और उसके आनन्दित होने पर आप भी आनन्दित हो जाता। सारा प्रकृतिवर्ग - वह मूर्ख विवश होकर इच्छा न होने पर भी खेल के लिये घर पर पाले हुए बंदर के समान अनुकरण करता रहता।

पंचप्रस्थ नाम के वन में गया था। दो पहिये, एक धुरी, तीन ध्वजदण्ड, पाँच डोरियाँ, एक लगाम, एक सारथि, एक बैठने का स्थान, दो जुए, पाँच आयुध और सात आवरण थे। वह पाँच प्रकार की चालों से चलता था तथा उसका साज-बाज सब सुनहरा था। इस समय आसुरी वृत्ति बढ़ जाने से उसका चित्त बड़ा कठोर और दयाशून्य हो गया था, नहीं तो मनमाना कर्म करने से मनुष्य अभिमान के वशीभूत होकर कर्मों में बंध जाता है। वह भूख-प्यास से अत्यन्त शिथिल हो वन से लौटकर राजमहल में आया था।

शब्दार्थ - [पुरञ्जन[455]] निरन्तर जीवन्तता को प्राप्त करते रहने में उत्सुक; आत्मा, [खधोता[192]] स्थूल को देखना, [धुमान्[381]] धारणानुसार क्रिया, [अविर्मुखी[57]] छिपे सत् के अस्तित्व की तरफ मुखित होना; छिपे सत् को देखना, [विभ्रजित[669]] छवि में जीवंतता की प्रस्तुति, [नलिनी[880]] रिक्त के प्रत्यक्ष विस्तार को अङ्गीकार करना, [सौरभ[825]] खुशबू छिपी रहती है, उसका एकाग्र स्वच्छन्द अंगीकरण अर्थात् सुंगध, [अवधूत[54]] हिलता हुआ; दार्शनिक, [देव हू[340]] अन्त: स्थित होता 'देव' का असत् भाव, [पितृ हू[451]] अन्तर्विलीन होता 'पितृ' का असत् भाव, [श्रुतधर[750]] सुनने को धारण करने में एकाग्र; ध्यान से सुनना, [दक्षिण[315]] दक्षतानुसार प्रवृत्त होने की योग्यता / आतुरता, [उत्तर[117]] ज्ञेय भाव प्रस्तुति में संलिप्तता, [पाञ्चाल[439]] अनुमोदित सत्ता द्वारा होता हुआ जीवन्त उन्मुख विस्तार; विकसित होना, [दुर्मद[335]] असामाजिक, [ग्रामक[225]] प्रज्ञात्मक स्पष्टता में समर्पित चेतना; स्त्री प्रसंग, [आसुरी[93]] सत्ता के अन्त:स्थित में प्रत्यक्ष होती संलिप्तता; मात्रात्मक बोध, [मुख्या[881]] मुख्य सत्ता, [रसज्ञ[882]] रस का ज्ञान होना; अर्थात् स्वाद, [बहूदन[488]] विभिन्न प्रकार के भोजन का संग्रह, [विपण[663]] बोलने को उत्सुक; बहिर्मुखता को उत्सुक, [आपण[84]] अंतर्गमन को उत्सुक, [पञ्चप्रस्थ[423]] पाँच प्रकार की अनुमोदनीय संलिप्तताओं की व्यक्त स्थापना।

भावार्थ – मनुष्य के जन्म के पूर्व सत्ता मात्र एक अण्डा होती है। जीव के सापेक्ष में यह सत्ता असत् की सत्ता है। यह सत्ता जैसे ही सत्व को स्वीकार करने के लिये उत्सुक होती है, ब्रह्म की पाँचों अव्यय कलाएँ मन-प्राण-अन्न-आनन्द व विज्ञान, उसमें परिलक्षित होने लगते हैं। सत्व इस अव्यय की कलाओं युक्त अण्ड में प्रवेश कर जीव का निर्माण कर देता है। यहाँ अण्डा वही 'नगर' है, तथा सत्य या आत्मा वही राजा पुरञ्जन है। पाँचों अव्यय की कलाओं से निर्मित जो कि सापेक्षता के आरोप से असत् अवस्था में है, अविद्या रूपी रानी है। सत्व का अविद्या के साथ सम्मेलन से विद्या का निर्माण होता जाता है तथा अक्षर का निर्माण होने से मनुष्य कहलाने लगता है। कथा में नगर को नौ द्वारों वाला बताया गया है। अतः संकेत शुद्ध रूप से मनुष्य के लिये ही है। ये नौ द्वार हैं। गुण का ज्ञान, गति का ज्ञान, द्रव्य का ज्ञान, गुण का कर्म, गति का कर्म, द्रव्य का कर्म, गुण का भोग, गति का भोग, द्रव्य का भोग। दस सेवक दस इंद्रियां हैं, पाँच ज्ञानेंद्रियां तथा पाँच कर्मेंद्रियां। हमारी प्रत्येक क्रिया क्षर पुरुष के अंतर्गत है। पाँच क्षर पुरुष हैं, अन्न, अन्नाद, वाक्, प्राण, तथा आप्। इनकी रक्षा करने वाला पाँच फन वाला सर्प है। अविद्यारूप होने से रानी का रंग सांवला तथा वह प्रत्येक प्रकार की माया से भरपूर है। रानी का निर्माण ब्रह्म के मूल तमस् में से होने से उसका कोई परिचय नहीं है। परिचय हमेषा गुणों का होता है, देह का नहीं।

तदुपरान्त कथा में नगर का वर्णन है जो कि मूल रूप से मनुष्य देह का वर्णन ही प्रमाणित हो रहा है। जैसे जैसे विधा रूपी संतति का विस्तार होता जाता है तो मोह, प्रसन्नता, आदि विकारों का भी अनुभव होता है। वह सत्व रूपी आत्म रानी के साथ काम-वश व स्वयं उत्पन्न की ही संतति (अवधारित ज्ञान) के मध्य अपने आप को ठगा सा भी महसूस करता है। चूंकि सत्व व अविद्या के मध्य प्रणय से उत्पन्न कर्म एक ही होता है अतः कर्म कौन कर रहा है यह स्पष्ट हो ही नहीं सकता। जो कर्म आत्मा कर रही होती है, वही कर्म देह भी कर रही होती है। ग्यारहवां सेनापति स्पष्टतया 'मन' है। पञ्चप्रस्थ का अर्थ कुछ बाह्य प्रक्रिया करना है। यहाँ रानीका औचित्य नहीं है। दैहिक कार्य के लिये रथ एक देह है, दो पहिये, दो पैर है, दो इषादण्ड, दो हाथ हैं, एक धुरी आस्था है, तीन ध्वजदण्ड तीन उद्देश्य ज्ञान कर्म व भोग है। पाँच डोरियां पंच महाभूतों के द्वारा संचालन, एक लगाम विवेक है, एक सारथी अविज्ञात (ब्रह्म) है, एक बैठने का स्थान स्व की सत्ता है, पाँच आयुध पाँच कर्मेन्द्रियां हैं व सात आवरण सात लोक हैं, जिनमें से होकर कर्म सत्ता से असत् में प्रवेश करता है।

बाह्यमुखी प्रक्रिया से उसका जीवन्त विद्या भाव का क्षय होता है व पुनः विद्या की प्राप्ति के लिये अविद्या की अर्थात् रानी की शरण में जाता है। प्रक्रिया में जहाँ विद्या का सर्जन होना बन्द हो जाता है, चण्डवेग वेग में स्थित उपलब्ध विद्या का उपभोग कर जीव को जर्जर बनाने लगते हैं।

द्रव्य हमेशा दृश्य व स्पन्दन के द्वैत में रहता है। अतः गन्धर्व तथा ऋषि या शुक्ल तथा कृष्ण के बीच द्वैत की स्वीकृति उचित ही प्रतीत होती है। जीवित रखने वाला नाग एक निश्चित आयु तक ही रक्षा करता है। अतः आयु के बढ़ने के साथ साथ यह नाग निश्चेत होने लगता है।

धीरे धीरे काल कन्या (जरा) व प्रज्वर (बुखार) अपने साथ भय नामक यवनराज की सेना के साथ आक्रमण कर देते हैं। यहीं मनुष्य का अन्त हो जाता है। कथा में एक चरित्र अविज्ञात नाम से भी है। यह उपनिषदों के आधार पर 'एक क्रिया कर रहा है', 'दूसरा क्रिया करते हुए देख रहा है' इस प्रकार का संकेत है। अर्थात् जो दृश्य तो है परन्तु अविज्ञात है व निरपेक्ष भाव से दृश्य को देख रहा है। वही ब्रह्म है।

शिक्षा – मनुष्य को 'स्व' व 'देह' में अन्तर दृश्यगत करना चाहिये। 'स्व' को देह से अलग रख कर 'देह' के लिये आवश्यक कर्म स्व को बन्धित नहीं करते। यह सही है कि हम आत्म अर्थात् सत्व रूप देह से स्वतंत्र ही थे परन्तु कर्म करने के लिये नहीं है। अतः हमारे जीवन के सारे कार्यकलाप उस मित्र के निर्देशन में होने चाहिये जिसे कथा में अविज्ञान कहा गया है। हम 'स्व' को आत्म तत्त्व मानते हैं, तथा आत्मा की मुक्ति की बात करते हैं। यदि हमारी आत्मा जगत् से अलग हो जाये तो सारे सुख दुःख जगत् के साथ ही रह जायेंगे तथा आत्मा एक द्रष्टा की तरह सभी प्रपञ्चों से मुक्त हो जायेगी। जब हम जगत् को मिथ्या कहते हैं तो वह भौतिक रूप से मिथ्या नहीं हो जाता। भौतिक कार्य कलाप तो चलते ही रहते हैं. लेकिन उसका प्रभाव हमारे 'मैं' पर नहीं पड़ता। यह ऐसा है जैसे हम कोई फिल्म देख रहे होते हैं तो उस फिल्म के पात्रों से हमारे ऊपर कोई प्रभाव नही पड़ता । हम स्वयं भी एक फिल्म के पात्र की तरह हो जाते हैं।

11.7 श्री कृष्ण की लीलाओं का वर्णन

श्रीमद्भागवत का उद्देश्य मुख्य रूप से कृष्ण की लीलाओं का वर्णन मात्र है। इन लीलाओं के द्वारा लेखक यह समझाने का प्रयत्न कर रहा है कि हमारे अन्दर एक ऐसा तत्व होता है जो कि माया से परे होता है। यदि हमारी कल्पनायें पूर्वधारित मान्यताओं से ग्रसित न हों तो हम सत्य देख सकते है. विभिन्न कथाओं के द्वारा लेखक उस कृष्ण को ही समझाने का प्रयास करता है. हम यहां किसी विशेष कथा को नही ले रहे हैं बल्कि अनेक कथाओं का सार ले रहे हैं।

शब्दार्थ - [आदित्य[78]] इकाई में दृश्य प्रस्तुति का बोध; हमारे पास बारह प्रकार के 'बोध' हैं; संस्था द्वारा देखने योग्य प्रस्तुति का प्रस्तुत प्रतिज्ञान, [रुद्र[610]] उद्यम में संलिप्तता, [अश्विनी कुमार[62]] इकाई में निरंतर शक्ति प्राप्त करना; हमारे पास दो प्रकार की शक्ति है: विश्लेषण करने

की शक्ति, मजबूत बनाने की शक्ति; 'अश्व' के रूप में कार्य को उजागर करना; अस्तित्व में छिपे अस्तित्व से संबंधित शारीरिक शक्ति के अनुप्रयोग की उजागर क्षमता; अस्तित्व में शक्ति का छिपा हुआ अनुप्रयोग, [वसु643] स्मृति, [माया550] पदार्थ की दृश्य इकाई; संगृहीत उपलब्धता की अभिपुष्टि सत्ता, [वसुदेव] स्मृति प्रक्रिया के नियंत्रक, [देवकी] विषयों की प्रत्यक्ष चेतनता, [कंस150] चेतना के लिए शून्यात्मक अभिव्यक्ति; कृष्ण के विपरीत, [कृष्ण178] प्रज्ञात्मक चेतन के सक्रियण को व्याप्त करने की इच्छा / योग्यता; बौद्धिक चेतना को फैलाने की इच्छा / योग्यता, [इंद्र102] कर्ता, [अर्जुन883] अस्तित्व द्वारा अंत:स्थित बल की क्रिया; कर्ता, [अघासुर884] स्पष्टता में सीमितता; मूर्खता, [बकासुर885] बंधित ज्ञान की चेतन सत्ता का गुण; माया युक्त चेतना; अहंकार, [गोपि886] ज्ञान की दिशा में प्रत्यक्ष उन्मुखता; ज्ञानात्मक प्रवृत्ति, [रास605] इकाइयों में संलिप्तता की अभिव्यक्ति; यह 'संलिप्तता' ब्रह्म और माया के बीच स्थित है, और एक ही ब्रह्म अलग अलग इकाइयां विकसित करने के लिए अलग अलग माया के साथ शामिल है; इसे नाम और रूप का द्वैत भी कहा जाता है। [गोवर्धन887] स्पष्टता / ज्ञान की स्वीकृति को बढ़ाना, [कालिया888] प्रत्यक्ष काल की प्रत्यक्ष सत्ता।

भावार्थ - वेद कहते हैं कि हमारी इकाई 33 कोटि देवों से निर्मित हैं। जिसमें 12 आदित्य, 11 रुद्र, 2 अश्विनी कुमार, और 8 वसु हैं। आदित्य विविधता को नियंत्रित करते हैं, रुद्र गतित्व को नियंत्रित करते हैं, अश्विनी कुमार निरंतरता को नियंत्रित करते हैं, और वसु स्मृति प्रक्रिया को नियंत्रित करते हैं। हमारे पास स्मृति की आठ परतें हैं; जिनमें से सात पर्तें माया से ढकी हुई हैं लेकिन आठवीं पर्त माया से मुक्त है। श्रीमद्भागवत के अनुसार, रस्सी और सांप का रहस्य हमारी स्मृति प्रणाली की सात परतों के भीतर पूर्व स्थापित अवधारणाओं (माया) के कारण उत्पन्न होता है। स्मृति प्रक्रिया के नियंत्रक (वसुदेव) अपनी स्व संकलित माया के कारागार में हैं, कर्म के लिये उस माया से मुक्ति नहीं पा सकते। कारण स्पष्ट है; कर्म के लिए क्रिया आवश्यक है, और क्रिया अर्थात् वसुदेव की पत्नि देवकी को क्रिया के लिये विश्वास की आवश्यकता होती है। विश्वास तर्क से परे है जो माया के रुप में ही उपलब्ध है। प्रतीक रुप में, क्रिया का विश्वास ' उसका भाई कहलाता है, जिसे कथा में कंस कहा गया है। व्यावहारिक रूप से हम कोई भी कर्म करें, हमें दो तत्त्वों की आवश्यकता होती है; इसमें प्रथम है 'कर्म की दिशा 'जो कि देवप्राण से उपलब्ध है, तथा द्वितीय है 'कर्म के लिये शौर्य 'जो कि पितृ प्राण से उपलब्ध होती है। देवप्राण माया से मुक्त हो सकता है, परंतु पितृ प्राण आस्था से उत्पन्न होता है, अत: माया से मुक्त नहीं हो सकता। हमारी स्मृति में जो स्मृतियां हैं वे देवप्राण व पितृ प्राण के संयुक्त रूप में हैं। एक उदाहरण लेते हैं। हम विमान में हैं, जिसमें आग लग चुकी है। हम पैराशूट बांध लेते हैं। देवप्राण के अनुसार हमें विमान

से कूद जाना चाहिये, परंतु 'कूद जानेकी क्रिया' जो कि 'भय' रूपी पितृ प्राण से अनुमोदित होनी है, आपको कूदने ही नहीं देती। आप भय रूपी कारागार में बंद हैं, जिस भय का संकलन (माया रूप में) आपने ही किया है। यह 'भय ही कंस का प्रतीक है। श्रीमद्भागवत के अनुसार इस कंस (चेतना में शून्यता का व्यक्त) भाव को 'मुष्टक प्रहार से समाप्त किया जा सकता है। इस माया को मुष्टक [(मु) अंत:स्थित माया के लिये (ष्) इच्छा शक्ति में (ट) प्रवृत्त (क) चेतन] प्रहार द्वारा समाप्त किया जा सकता है। साधारण रूप से भी यदि कोई व्यक्ति भय के कारण जड़ हो चुका हो तो एक धौल जमा कर वापस चेतना में लाया जाता है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार जो कारागार है, वह सात कक्षों से निर्मित है जो कि एक के अंदर एक है। यह हमारी स्मृति की सात पर्तें हैं। जिन्हें हम जैविक अस्तित्व, जैविक प्राण, मानसिक अस्तित्व, मानसिक प्राण, बौद्धिक अस्तित्व, बौद्धिक प्राण, सत्य के रूप में जानते हैं। प्रत्येक पर्त की उनके स्वयं के संदर्भ में स्मृतियां हैं। प्रत्येक स्मृति के दो भाग हैं: देवप्राण एवम् पितृप्राण, जो कि अव्यय ब्रह्म के चार प्रकोष्ठों में स्मृतिबद्ध हैं।

जैसा कि स्पष्ट किया गया है कि यह कारागार सप्तलोकों की सात परतों से बना है। श्रीमद्भागवत का तर्क है कि हमारे पास आठ वसु हैं, उनमें से सात पूर्व स्थापित यादें (माया) हैं और माया का बंधन ही कारागार है। आठवां वसु सभी माया से मुक्त है, वह कृष्ण है, तथा वह माया से प्रभावित नहीं हो सकता। यह अस्तित्व का केवल पर्यवेक्षक हिस्सा है और तार्किक वास्तविकता के साथ सभी प्रकार की उहापोह में मार्गदर्शन कर सकता है। हमारी अहंकार की सात परतें जेल के सात परिवेश के सात प्रतीक हैं। और मायाओं की सात परतों को वसुदेव के सात पुत्रों के रूप में दर्शाया गया है। श्रीमद्भागवत बताते हैं कि हम सभी दो भागों से बने हैं। एक निष्पादक (इंद्र, अर्जुन) है, और दूसरा पर्यवेक्षक कृष्ण है। जैसा कि उपनिषद् कहते हैं कि एक पेड़ की एक ही शाखा में दो पक्षी हैं। एक निष्पादन कर रहा है और दूसरा निष्पादन को देख रहा है। निष्पादन को अहंकार की आवश्यकता होती है, जो पूर्व स्थापित यादों (माया) की सात परतों से उपलब्ध कराई जाती है, और अहंकार मुक्त मार्गदर्शन जो आठवीं परत के द्वारा उपलब्ध कराया जाता है। वैष्णवों ने तर्क दिया कि कृष्ण जो सभी संस्थाओं का एक अभिन्न हिस्सा है, वह पहले से संकलित किये हुए विचारों से अप्रभावित हो सब कुछ देखता है, और हम इसे व्यावहारिक रूप से महसूस भी करते हैं। श्रीमद्भागवत कहती है कि अगर कोई अपनी आठवीं परत को विकसित करने में सक्षम होता है, तो वह सत्य और वास्तविकता का पालन करने में सक्षम होगा। और यह अवलोकन वास्तविक दृश्य प्रमाण (प्रत्यण प्रामाण) के रूप में उपयोग किया जा सकेगा। 'रस्सी' के स्थान पर 'सांप' का कोई सवाल नहीं होगा। श्रीमद्भागवत आगे बताती है कि हम सभी

के अंत: में कृष्ण है। कथा कहती है कि मात्र सिद्धांत प्रतिपादित करने से कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। हम इसे पहचानेगें कैसे? कथा कहती है कि हमारी इकाई का वह हिस्सा, जो प्रत्येक अवलोकन में से मक्खन (माया की उपेक्षा कर किसी भी चीज का सार) चुराता है, कृष्ण है। हमारी इकाई का हिस्सा जो हमारे अंदर के अघासुर (स्पष्टता में सीमितता) को हटा (मार) सकता है, कृष्ण है। हमारी इकाई का हिस्सा जो हमारे अंदर के बाकासुर (माया युक्त चेतना) को हटा (मार) सकता है, कृष्ण है। हमारी इकाई का हिस्सा जो हमारे अंदर की गोपियों (प्रवृत्तियों) को (नग्न) स्पष्ट रूप से देख सकता है, कृष्ण है।

अव्यय ब्रह्म इकाई की क्षमताओं को परिभाषित करती है, इस प्रकार अव्यय ब्रह्म माया से अस्पृश्य रह कर भी माया को स्थान प्रदान करता है। श्रीमद्भागवत मूलतय: अद्वैत की ही घोषणा करता दिखाई देता है परंतु 'रास लीला' प्रकरण में द्वैत को स्वीकार कर लेता है। एक ही अव्यय ब्रह्म (कृष्ण) विभिन्न मायाओं (गोपियों) के साथ मिल कर विभिन्न युग्म बनाते हैं। यह इस बात का संकेत कर रहे हैं कि सृष्टी में एक ही ब्रह्म विभिन्न मायाओं के आधार पर अनेक पदार्थ बनाता है, अत: वह यहाँ भी अद्वैत को ही पुष्ट करता दिखाई देता है। व्यावहारिक उदाहरण लेते हैं। अरबों और खरबों कोशिकाओं से बनी जैविक इकाई, उनमें जीवन का आनंद लेते हुए, एक ही डीएनए (अव्यय ब्रह्म) और विभिन्न प्रोटीन (माया) के साथ नृत्य करता है। यह माना जाता है कि संपूर्ण ब्रह्मांड ब्रह्म का एक शरीर है जहां सभी अलग-अलग इकाइयों में एक ही परात्पर संहिता सूत्र होता है और विभिन्न प्रकार की इकाइयां बनाने के लिये विभिन्न प्रकार की मायाओं का समावेश होता है।

कृष्ण जब इंद्र की पूजा का विरोध कर गोवर्धन धारण करते हैं, यह इस बात का संकेत है कि कृष्ण के मत में मूर्ति पूजा का कोई महत्त्व नहीं है। कृष्ण की निगाह में समस्याओं का हल गोवर्धन (चेतना को बढ़ाना) को धारण करने में है। श्रीमद्भागवत वैष्णव ग्रंथ है, अत: पूजा की जगह ज्ञान को ही प्राथमिकता दे रहे हैं। कालिया मर्दन में कृष्ण यह प्रमाणित कर रहे हैं कि ज्ञान के आनंद में काल के भय को समाप्त किया जा सकता है।

उपसंहार

अनेक वेद विज्ञ मित्रों का मत है कि वेद ब्रह्म है। जिस प्रकार ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार वेद को जानना भी असम्भव है परंतु हम मनुष्य हैं, जिज्ञासा से निवृत्त नहीं हो पाते। अनेक दार्शनिकों ने वेदों का अनेक प्रकार से अध्ययन किया है तथा समझा है। ऐसा भी

माना जाता है कि एक ही संकेत को अनेक रूपों में देखा जा सकता है। अत: अब तक जो भी काम हुआ है उसे नकारा नहीं जा सकता, वरन् उससे अनेक संकेत मिलते हैं जो कि अर्थ निकालने में सहायक ही होते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में एक नयी दिशा का सहारा लिया गया है। लेखक यह मान कर चल रहा है कि ऋषि अनुभूतियों को ही उपस्थित कर रहा है। अनुभूतियों का प्रस्तुतीकरण मनोवैज्ञानिक ही होता है, तथा मनोवैज्ञानिक भावों को ध्वनि द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार ध्वनि तथा मनोवैज्ञानिक भावों के बीच के सम्बन्ध को उजागर करने से हम मनोवैज्ञानिक स्तर तक वेदों को समझ सकते हैं। एक ही मनोवैज्ञानिक भाव के अनेक बौद्धिक अर्थ हो सकते हैं, जिन्हें संदर्भगत तथा तर्कानुसार समझा जा सकता है। यह एक प्रथम प्रयास है, आगे अनेक सम्भावनाएं हैं। यदि प्रयास किया जाये तो, हम वेदों के मूल अर्थों को समझ सकते हैं, जो कि हमारे व्यवहारिक जीवन का मुख्य आधार हो सकता है। विज्ञान के क्षेत्र में जो भ्रम फैले हुए हैं तथा जिन भ्रमों के कारण विज्ञान, विशेष तौर पर कास्मिक विज्ञान एक स्तर से आगे नहीं बढ़ पाता, उनसे निवारण हो सकता है।

समाप्त

अनुक्रमणिका

अंतर्गमन, 27, 28, 30, 41, 43, 46, 47, 48, 89, 128, 129, 137, 142, 151, 152, 154, 174.

अंतर्वाह, 24, 33, 34, 51, 55, 57, 58, 59, 95, 100, 101, 111, 112, 138 to 140, 148.

अक्षर पुरुष, 20, 24, 25, 28 to 30, 40, 46, 61, 148, 159.

अगोचर, 7, 8, 10, 12, 13, 21, 32, 48, 149, 153.

अग्रस्वर, 62.

अद्वैत, 3, 7, 10, 12, 34, 47, 66, 75, 172, 179.

अनुभूत्यात्मक तीव्रता, 29.

अनुभूत्यात्मक वैविध्यता, 29.

अन्नमय, 23, 24, 28, 36, 38, 39, 41, 47, 76, 150, 153, 158, 159, 168.

अन्नाद, 154, 175.

अन्योन्यक्रिया, 24, 53.

अमावस्या, 25, 76.

अवतरित. 165.

अवधारण, 28, 141

अव्यय पुरुष, 7, 19 to 24, 28, 30, 47, 153, 163, 164.

अश्विनी कुमार, 45, 176, 177.

असुर, 36, 39, 40, 59, 60, 78, 111.

अस्तित्व की संरचना, 5, 24 58.

आकाश-काल, 27, 33, 50.

आत्मा, 21. 23, 30, 175, 176.

आदित्य , 28, 35, 36, 39, 78, 106, 123, 139, 177.

आधिभौतिक, 20, 21.

आधुनिक विज्ञान, 18, 19, 23, 45.

आध्यात्मिक, 18, 20, 21, 79, 165, 168.

आनंदमय, 23, 24, 36, 38, 39, 41, 47, 117, 149, 150, 153, 156, 158, 159.

आप्, 33, 34, 41, 43, 50, 55, 61, 70, 79, 127, 151, 152, 175.

आलम्बन, 23, 24, 36, 38, 79, 81, 153, 156, 159, 160, 168, 169.

इंद्र, 10, 27, 80, 112, 139, 148, 149, 151, 177, 178, 179.

उद्दीपन. 23, 25, 36, 47, 139.

उद्विग्नता, 29.

उपनिषद्, 1, 6, 8, 17, 34, 81, 84, 178.

उपादान, 8, 10, 12, 13, 15, 17, 18, 20, 55, 140, 152, 153, 165.

ऋग्वेद, 36, 81, 143, 146.

ऋचा, 5, 33.

ऋषि, 36, 39, 60, 82, 86, 99, 104, 111, 147, 148, 150, 153, 154, 176, 180.
ओष्ठ्य, 64.
ओत्पत्तिक, 16, 19 to 24, 28, 35, 36, 54, 103, 111, 163, 164.
कंठ्य, 64.
कपिल, 83, 165, 166.
कारण-क्रिया, 7.
काल तरंग, 34, 45, 51.
कृष्ण, 176, 177, 178, 179.
कॉस्मिक, 9, 10, 12, 13, 16 to 18, 46, 47, 51, 55, 57, 58, 140, 141.
क्रन्दसी, 13, 85.
गत्यात्मक, 25, 30, 40, 129.
गन्धर्व, 27, 39, 60 86, 176.
गुणसूत्र, 10, 15, 16, 21, 23, 24, 36.
गुणात्मक, 30, 94.
ग्रहणकर्ता, 50, 51, 88, 115.
चंद्रमा, 51, 54, 123.
चेतन-जड़, 7.
जाति, 9, 23, 24, 60.
जीवत्व, 7, 23, 142, 171.
डार्विन, 17, 18.
डिस्लेक्सिया, 29, 48.
डी एन ए, 9, 16, 165.
तालव्य, 65.
त्रिलोकी, 13, 85, 110, 119, 142, 163, 164.
दक्ष, 25, 92, 114, 132, 133, 138, 167 to 170.
दन्त्य, 62, 139.
देवता, 3, 38, 94, 159, 164, 167, 168.
द्रव्यात्मक, 25, 30, 40, 129.
द्वैत, 7, 12, 43, 57, 109, 158, 168 to 179.
धातु-रूप, 69.
ध्रुव, 32, 45, 170 to 172.
ध्वनि, 4, 5, 6, 59, 60, 62, 73, 93, 107, 180.
नाम-रूप, 47 to 49, 57, 69, 131, 153, 158.
निघण्टु, 58, 59.
निरुक्त, 58.
पञ्चकोश, 24.
पञ्चमहाभूत, 55.
परात्पर, 16, 20, 21, 35, 77, 99, 163, 179.
पश्चस्वर, 62.
पाणिनि, 5, 59, 60, 69.
पार्थिव, 12, 46, 47, 163.
पुरञ्जन, 100, 173 to 175.
पुराण, 154, 155.
पुरुष-प्रकृति, 7.
पुरुष-सूक्त, 40.
पूर्णिमा, 25, 101, 109.
पूर्वसञ्चित, 19, 24, 25, 30, 40, 46, 48, 50, 53, 54, 61.

पृथ्वी, 39, 55, 92, 96, 101, 110, 162 to 164.
प्रतीकीकरण, 96.
प्रस्तोता, 50, 51, 91, 94, 121.
वराह, 111, 162 to 165.
बहिर्वाह, 55, 57, 58, 65, 66, 70, 73, 75, 77, 78, 80, 90, 91, 92, 95, 102, 111, 136, 138, 148.
बिग बैंग, 16.
ब्रह्मा माया, 27, 103, 155, 159.
भुवः, 13, 15, 44, 110, 142.
मंथन, 19, 50, 106, 166, 172.
मध्य स्वर, 61.
मनोमय, 23, 24, 25, 36, 41, 47, 48, 105.
मिथ्या, 7, 20, 176.
यजुर्वेद, 38, 126.
यास्क, 58.
रस-बल, 47, 48, 57, 131, 148.
राम, 2, 109, 139, 152.
रावण, 2, 109.
रिक्तस्वर, 62.
रुद्र, 35, 41, 43, 84, 110, 176, 177.
रोदसी, 13, 15, 110, 164.
वक्र, 65.
वनस्पति, 9, 12, 13, 16, 33, 47, 53.
वसु, 25, 35, 43 to 45, 112, 177, 178.
वाक्, 32 to 34, 41, 43, 45, 50, 51, 62, 112.
वायु, 38, 55, 112, 130, 164, 165.
विज्ञानमय, 23, 24, 36, 38, 39, 41, 47, 113, 150, 153, 158, 159, 166, 168.
विद्युच्चुम्बकीय विकिरण, 51.
विष्णुमाया, 27 to 30, 80, 114, 139, 140, 155, 159.
शिवमाया, 27 to 30, 80, 139, 159.
शून्य क्षेत्र, 41.
षोडशी, 19, 20, 35.
संयती, 13, 15, 16, 17, 142.
संस्कृत, 5, 60, 69.
सत्यम्, 13, 27, 42, 45, 119, 142, 164.
सनातन परम्परा, 6.
सृष्टि विकास, 10.
सोम, 25, 27, 33, 41, 43, 45, 51, 80, 97, 101, 123, 139, 147.
स्पंदन, 23 to 25, 28, 36, 38, 39, 77, 98, 102, 123, 135, 148 to 154, 156, 159, 168.
स्वगमन, 27, 28, 43, 46 to 48, 126, 129, 137, 151.
स्वनिमार्थ विज्ञान, 3, 5, 59, 60.
हकलाहट, 29, 48.